अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-2

5771-2

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या?

1. अध्यात्म-पद - कविवर द्यानतराय 1
2 सम्पादकीय 2
3. 'लघुतत्त्वस्फोट' के परिप्रेक्ष्य में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के कृतित्व का वैशिष्ट्य -डॉ श्रेयास कुमार जैन 4
4. पदार्थों के परिज्ञान द्वारा आत्मानुभूति की प्रक्रिया -डॉ राजेन्द्र कुमार बसल 18
5. प्राचीन संस्कृत साहित्य में राजा की समस्याएँ -डॉ मुकेश बसल 34
6. बीसवीं शती के संस्कृत साहित्य में आचार्य विद्यासागरजी का योगदान -डॉ जय कुमार जैन 39
7. कर्मवाद एव ईश्वरवाद : स्वरूप एव समीक्षा : जैन-दर्शन के संदर्भ में -डॉ अशोक कुमार जैन 59
8. वैयाकरण पूज्यपाद और सर्वार्थसिद्धि -डॉ कमलेश कुमार जैन 70
9 सल्लेखना : एक विश्लेषण -डॉ बसन्तलाल जैन 78
10. जीवन की सरलता ही मृदुता है -प्रो भागचन्द्र जैन 85
11 पद्मपुराण के विविध संस्करण एव पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य की सम्पादन कला का वैशिष्ट्य -डॉ जय कुमार जैन 92
12. सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन -डॉ रमेशचन्द जैन 99
13. पचास वर्ष पूर्व धवलादि-श्रुत परिचय -आचार्य प जुगलकिशोर मुख्तार 105

वर्ष-57, किरण-1-2
जनवरी-जून 2004

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ प्र)
फोन: (0131) 2603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/-

वार्षिक शुल्क
30/-

इस अक का मूल्य
10/-

सदस्यो व मंदिरो के
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारो से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अतर्गत आयकर मे छूट

(रजि. आर 10591/62)

अध्यात्म-पद

तन कारन मिथ्यात दिये तजि, क्यों करि देह धरैंगे।
अब हम अमर भए, न मरेंगे।

उपजै मरै काल तैं प्राणी, तातैं काल हरैंगे।
राग दोष जगबंध करत हैं, इनको नास करैंगे।।
अब हम अमर भए, न मरेंगे।

देह विनासी मैं अविनासी, भेद ग्यान करैंगे।
नासी जासी हम थिर वासी, चोखे हो निखरैंगे।।
अब हम अमर भए, न मरेंगे।

मरे अनंतबार बिन समझै, अब सब दुःख विसरैंगे।
द्यानत निपट निकट दो, अक्षर बिन सुमरै सुमरैंगे।।
अब हम अमर भए, न मरेंगे।

—कविवर द्यानतराय

वीर सेवा मंदिर पुस्तकालय
क्रमांक नं० 6958/2

सम्पादकीय

मार्च 2004 के ''जिनभाषित'' मासिक में डॉ. रतनचन्द्र जैन का सम्पादकीय 'नाटक का अनाट्यशास्त्रीय प्रयोग' प्रकाशित हुआ था। उसमें जैन धर्म, दर्शन एवं आगम के सुप्रसिद्ध वेत्ता देव-शास्त्र-गुरु के संरक्षण में सतत सावधान संस्था अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद् के वरिष्ठ उपाध्यक्ष डॉ. साहब ने श्री आदिकुमार जी की बारात को रात्रि में निकाले जाने तथा रात्रि में ही विवाह विधि सम्पन्न कराये जाने को आगम-विरुद्ध लिखा था। डॉ. साहब का यह सम्पादकीय पूर्ण रूप से आगमसम्मत तथा समाज को दिशानिर्देश करने वाला तो था ही, निष्पक्षता एवं तथ्यात्मक प्रस्तुति के कारण प्रशंसनीय एवं अभिनन्दनीय भी था। शिथिलाचारी नग्नवेशधारी अमुनि के प्रसंग में उनके द्वारा दिया गया व्यभिचारिणी स्त्री का दृष्टान्त सर्वथा सटीक एवं प्रासंगिक भी था।

भोपाल की तथाकथित धर्मरक्षक गुरुभक्त समाज के कतिपय ठेकेदारों को यह सम्पादकीय नहीं सुहाया, क्योंकि वे उस आगमविरुद्ध कृत्य के आयोजकों में थे अथवा उसमें उनकी सहभगिता थी। उन्होंने भोपाल के अपनी पहुँच वाले साधर्मी बन्धुओं को अधूरा (कुछ अंश छिपाकर) लेख पढ़ाया तथा उसके विरुद्ध वातावरण बनाकर डॉ. रतनचन्द्र जैन के विरुद्ध 06 अप्रैल 2004 को टी. टी. नगर भोपाल के दिगम्बर जैन मन्दिर में आयोजित एक मुनिराज की धर्मसभा को गर्हा सभा में परिवर्तित कर दिया। तथाकथित मुनिभक्तों के ठेकेदारों ने उस सभा में एक सच्चे मुनिभक्त सम्पादक को जिस गाली-गलौज की भाषा में उनकी अनुपस्थिति में लांछित किया, वह सम्पूर्ण विद्वत्समाज के लिए अत्यन्त शर्मनाक बात है। मैं उन तथाकथित मुनिभक्तों के लिए सद्बुद्धि प्राप्ति हेतु कामना करता हूँ तथा डॉ. रतनचन्द्र जी जैन से प्रार्थना करता हूँ कि ऐसे आतंकवाद से वे विचलित न हों। आगम की रक्षा हेतु लेखन में यदि

सर्वस्व त्याग भी करना पड़े तो भी हम आपके साथ हैं।

देव, शास्त्र के पश्चात् गुरु हमारे वन्दनीय हैं। उनसे विनम्र प्रार्थना है कि वे शास्त्रविरुद्ध कृत्यों को करने की समाज को सहमति प्रदान न करें, जहाँ तक संभव हो उन्हें विहित कर्मो की जानकारी भी दें। शास्त्रविरुद्ध कृत्यों को करने की प्रेरणा तो हमारे निर्ग्रन्थ गुरु दे ही नहीं सकते हैं। अन्यथा उनकी गुरुता ही संदिग्ध हो जायेगी। अनुकरण सर्वथा त्याज्य नही होता है, पर धर्म से भटककर अनुकरण के आधार पर अधार्मिक परम्पराओं को जैन धर्म में समावेश करने से श्रावक समाज को बचना चाहिए। श्री आदिकुमार की बारात निकालने का औचित्य मुझ अल्पबुद्धि की समझ से परे है, भले ही यह दिन के उजाले में ही क्यों न निकाली गई होती।

अन्त में, अनेकान्त के माध्यम से मैं डॉ. रतनचन्द्र जैन को हार्दिक बधाई देता हूँ कि वे आगमविरुद्ध कार्यो के विरोध में लिखते रहें, विद्वानों के प्रेरणास्रोत बनें, उनका नेतृत्व करें तथा उन्हें मार्गदर्शन दें। आप धर्म की रक्षा करें धर्म आपकी रक्षा करेगा।

—डॉ. जय कुमार जैन

जानो दिल कौम पै अपना जो फिदा करते हैं।
कहीं रुसवाई से वे लोग डरा करते हैं?
कौमेमुर्दा में किसी तरह से जाँ पड़ जाए।
हम शबोरोज इसी धुन में रहा करते हैं।।

— मंगतराय

वीर सेवा मं...
ग्रन्थ
क्रमांक 6958/2

'लघुतत्त्वस्फोट' के परिप्रेक्ष्य में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि के कृतित्व का वैशिष्ट्य

— डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

अध्यात्मविद्या पारङ्गत आचार्यप्रवर श्री अमृतचन्द्र सूरि दिगम्बर परम्परा के उद्भट मनीषी थे। इन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय की टीकायें लिखकर उनकी आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टियों का पल्लवन तथा सम्यक् व्याख्यान कर महती कीर्ति अर्जित की। साथ ही पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय नामक श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ, आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर तत्त्वार्थसार और जिनस्तवन के रूप में लघुतत्त्वस्फोट लिखकर जैन वाङ्मय की समृद्धि में महान् योगदान दिया।

लघुतत्त्वस्फोट की प्राप्ति भगवान् महावीर के पच्चीससौवे निर्माण महोत्सव काल में हुई अतः इससे पूर्व अमृतचन्द्र सूरि के कृतित्व में इसका उल्लेख भी नहीं मिलता है। इसकी पाण्डुलिपि पण्डित श्री पन्नालाल साहित्याचार्य प्रभृति विद्वानों को उपलब्ध करायी गई उन्होंने संशोधन और अनुवाद करके महनीय कार्य किया। इसके अनन्तर पं. श्री ज्ञानचन्द विल्टीवाला जयपुर द्वारा भी विशेषार्थ सहित व्याख्या लिखी गई। इन मनीषियों ने यह अद्भुत कृति स्वाध्यायियों के स्वाध्याय का विषय बनायी यह इनकी महती कृपा है और जिनागम के प्रति विशेष भक्ति का निदर्शन है।

"लघुतत्त्वस्फोट" आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की रचना है क्योंकि उन्होंने इसकी अन्तिम सन्धि में अमृतचन्द्र सूरि का उल्लेख किया है।[1] ग्रन्थ समाप्ति के अनन्तर श्लोक में "अमृतचन्द्र कवीन्द्र" पद का प्रयोग है।[2] आचार्य आध्यात्मिक और दार्शनिक शैली में समयसार ने कलश और लघुतत्त्वस्फोट बेजोड़ काव्य कृतियों का सृजन किया है। इनमें इनका कवीन्द्रत्व स्पष्ट दिखता

है। स्तुतिकाव्यों में लघुतत्त्वस्फोट से श्रेष्ठ रचना देखने को नहीं मिलती। यद्यपि वाग्मी आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित स्तोत्र काव्य बहुत महत्त्वपूर्ण है तथापि अध्यात्म और सिद्धान्त से परिपूर्ण यह स्तुतिकाव्य अतुलनीय है। इसका प्रत्येक पद्य काव्य के समस्त गुणों से समलंकृत है। इसकी भाषा प्रौढ़ है। शैली गम्भीर है। छन्द, अलंकार, रस, गुण, रीति आदि जो काव्य के विशिष्ट तत्त्व होते हैं वे सभी इसमें विद्यमान हैं। समयसार-कलश के समान ही रचना है अतः इसमें कोई संन्देह नहीं है कि यह रचना अमृतचन्द्र सूरि की ही है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि कृत ग्रन्थत्रय (समयसार, प्रवचन, पञ्चास्तिकाय) की टीकाएँ अपने आपमें परिपूर्ण हैं और पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय, तत्त्वार्थसार, अमृतकलश लोकोत्तर रचनाएँ हैं। फिर भी लघुता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है नाना प्रकार के वर्णो से पद बन गये पदों से वाक्य बन गये और वाक्यों से यह ग्रन्थ बन गये इनमें हमारा कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।[3] इस शक्ति भणितकोश नामक लघुतत्त्वस्फोट में कहीं भी कर्तृत्व का अहंकार नहीं झलकता है। प्रत्येक स्तुति के बाद स्वयं को जिनत्व के प्रति समर्पण के साथ आत्मोपलब्धि की कामना की गई है। सर्वत्र सर्वज्ञ रूप की भावना की है–

नितान्तमिद्धेन तपोविशेषितं तथा प्रभो मां ज्वलयस्व तेजसा।
यथैव मां त्वां सकलं चराचरं प्रधर्ष्य विश्वं ज्वलयन् ज्वालाभ्यहम्।। 25/5

हे प्रभो! मुझे तेज के द्वारा इस प्रकार प्रज्वलित करो जिस प्रकार मैं अपने आपको और समस्त चराचर विश्व को प्रज्वलित करता हुआ सब ओर से प्रज्वलित होने लगूँ।

विनय भाव और सरलता तो आचार्य अमृतचन्द्र के रोम रोम में भरी हुई थी; यही कारण है कि छठवीं स्तुति के अन्त में शुद्ध चैतन्यत्व की प्राप्ति न होने में स्वयं की जड़ता/अज्ञानता को ही कारण मानते हुए कहते हैं–

प्रसह्य मां भावनायाऽनया भवान् विशन्नयः पिण्डमिवाग्निरुत्कटः।
करोति नाद्यापि यदेकचिन्मयं गुणो निजोऽयं जडिमा ममैव सः।। 25/6

हे भगवन्! लोहपिण्ड के भीतर प्रवेश करने वाली प्रचण्ड अग्नि के समान

आप इस भावना के द्वारा हठात्/बलपूर्वक मेरे भीतर प्रविष्ट होते हुए मुझे आज भी जो एक चैतन्य रूप नहीं कर रहें हैं यह मेरा ही वह निजी जड़ता/अज्ञानता रूप गुण है।

इसी प्रकार प्रत्येक स्तुति के अन्त में कामना करते हैं :—

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तमन्तर्बहिः,
प्रारब्धोद्धतसंयमस्य सततं विष्वक् प्रदीप्तस्यमे।
येनाशेषकषाय किट्टगलनस्पष्टीभवद्वैभवाः,
सम्यक् भान्त्यनुभूतिवर्त्मपतितः सर्वाः स्वभावश्रियः।।

उत्कृष्ट संयम के पालक मेरी ज्ञानरूपी अग्नि में यह पुटपाक घटित हो जिससे समस्त कषायरूपी अन्तरंग मल के गलने से जिनका वैभव स्पष्ट हो रहा है ऐसी समस्त स्वभाव रूप लक्ष्मियाँ अनुभूति के मार्ग में पड़कर सम्यक् रूप से सुशोभित हों।

इस स्तुतिकाव्य में विशेष रूप से कारण-कार्य सम्बन्ध, निश्चय-व्यवहार, क्रम-अक्रमवर्ती पर्याय, द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य व्यवस्था, शुद्धात्मानुभूति, अनेकान्त-स्याद्वाद आदि सभी सैद्धान्तिक विषयों की मीमांसा संक्षिप्त में सारगर्भित रूप से की गई है। समन्तभद्र स्वामी की स्तुतियों में दार्शनिकता विद्यमान है। आचार्य अमृतचन्द्र कृत इस स्तुति में आध्यात्मिकता का वैभव है।

इस काव्य की प्रथम स्तुति में चौबीस तीर्थङ्करों की वन्दना कर अन्त में लिखते हैं —

ये भावयन्त्यविकलार्थवतीं जिनानां,
नामावलीममृतचन्द्रचिदेकपीताम्।
विश्वं पिबन्ति सकलं किल लीलयैव,
पीयन्त एव न कदाचन ते परेण 7/25/लघुतत्त्व

जो भव्य जीव अमृतचन्द्र सूरि के ज्ञान के द्वारा गृहीत परिपूर्ण अर्थ से युक्त ऋषभादि तीर्थङ्करों की नामावली रूप इस स्तुति का चिन्तन करते हैं, वे निश्चय से अनायास ही समस्त विश्व को ग्रहण करते हैं—कर्मबन्ध से छूट जाते

हैं और वे सर्वज्ञ हो जाते हैं।

इसमें अध्यात्म की वर्षा हो रही है। ब्याजस्तुति स्तुत्य है। द्वितीय स्तुति से पच्चीसवीं स्तुति पर्यन्त सामान्य रूप से स्तुतियां की गई हैं। किसी विशेष नाम की विवक्षा नहीं रखी गई और प्रत्येक स्तुति किसी विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए जिनेन्द्र स्तवन रूप में की गई है।

आत्मा के दर्शन ज्ञान गुण शाश्वत हैं इनमें दर्शन निर्विकल्प घटपटादि के विकल्प से रहित और ज्ञान सविकल्प-घटपटादि के विकल्प से सहित माना गया है ज्ञान और दर्शन क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से दो रूप होता है। क्षायोपशमिक दशा में दर्शन और ज्ञान क्रमवर्ती होने से पूर्ण निर्मल नहीं होते हैं क्षायिक दर्शन और ज्ञान केवलदर्शन और केवलज्ञान अक्रमवर्ती होने से पूर्ण विशद हैं। इसी सिद्धान्त को स्तुति करते हुए उपस्थित किया है– हे जिनेन्द्र! जो मनुष्य विकल्प रहित और विकल्प सहित निर्मल दर्शन और ज्ञान रूप आपके इस तेज की श्रद्धा करते हैं वे समस्त लोक-अलोक रूप विश्व का स्पर्श करते हुए शुद्ध आत्मा को प्राप्त होते हैं।[4]

ग्यारहवीं स्तुति में आत्मा के दर्शन ज्ञान गुण का वैशिष्ट्य बतलाते हुए जिनेन्द्र स्तवन है। स्तुतिकार आचार्य श्री अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि हे भगवन्! मिथ्यात्व रूपी रात्रि को नष्ट करने की सामर्थ्य आप में ही है। जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश यही है कि मिथ्यात्वदशा में अज्ञानवश बांधे हुए अशुभ कर्मो की अनुभाग शक्ति, सम्यक्त्व के होते ही क्षीण हो जाती है, शुभ कर्मो की अनुभाग शक्ति बढ़ जाती है और सत्ता स्थित कर्मो की निर्जरा होने लगती है।

एक साथ ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग प्रकट होने पर अनन्त बल तो प्रकट होता ही है साथ में पूर्ण सुखसम्पन्नता होती है। केवली भगवान् के ज्ञानावरण और दर्शनावरण का सर्वथा उच्छेद होने से एक साथ उभयोपयोग की प्रकटता है अतः पूर्ण सुखी हैं जैसा कि ग्यारहवीं स्तुति में लिखा है–

अखण्डदर्शन ज्ञान प्राग्लभ्यग्लापिताऽखिलः।
अनाकुलः सदा तिष्ठेन्नोकन्तेन सुखी भवेत्।।12//लघु

पूर्ण दर्शन और ज्ञान की सामर्थ्य से जिन्होंने सबको गृहीत कर लिया है-एक साथ समस्त पदार्थो को जान लिया है इसलिए जो निरन्तर आकुलता से रहित स्थित हैं ऐसे आप नियम से सुख सम्पन्न हैं।

जैन सिद्धान्तों की मीमांसा आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी सहजरूप से करते हुए बढ़ते हैं इसीलिए वे ज्ञानधारा की क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती परिणति का व्याख्यान सरल शब्दों में करते हुए कहते हैं–

अक्रमात्क्रमयाक्रम्य कर्षन्त्यपि परात्यनोः।
अनन्ताबोधधारेयं क्रमेण तवकृष्यते।।12/7 लघु.

हे भगवन्! आपकी स्व-पर विषयक यह अनन्त ज्ञानधारा क्रम को उल्लंघन कर अक्रम से खींचती हुई भी क्रम से खींची जा रही है अर्थात् निज-पर को जानने वाली ज्ञान की धारा छद्मस्थ अवस्था में पदार्थो को क्रम से जानती है किन्तु सर्वज्ञदशा में वह क्रम को छोड़कर अक्रम-एक साथ जानने लगी है। इस प्रकार वह स्वभाव की अपेक्षा अक्रमवर्ती है तथापि ज्ञेयों की अपेक्षा क्रमवर्ती है।

आत्मा अनेक भवों में पृथक् पृथक् शरीर धारण करती है, उन पर्यायों की विवक्षा से अनेक रूप है उन पर्यायों में जो ज्ञानादिक गुण साथ साथ रहे हैं, उन गुणों की अपेक्षा एक रूप है। पर्यायों की अपेक्षा अनेक और गुणों की अपेक्षा एकत्व के निरूपण के साथ क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती पर्यायों का सार्थक कथन करते हैं– हे जिनेन्द्र! इस प्रकार क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती विवर्तो से सुरक्षित चैतन्यमात्र ही आपका स्वरूप है, ऐसा नहीं समझने वाले अज्ञानी जन इस संसार में व्यर्थ ही दोनों पक्षों का अत्यधिक आग्रह के प्रसार से भ्रमण करते रहते हैं। यह जानकर इस समय हृदय विदीर्ण सा हो रहा है।[5] पीछे यहाँ पं. ज्ञानचन्द्र जैन जयपुर ने टिप्पणी दी है-''आत्मा क्रमवर्ती पर्यायों की अनित्यता तथा अक्रमवर्ती गुणों की नित्यता वाला है दोनों में किसी का भी विशेष आग्रह व्यक्ति की दुर्गति का कारण होता है। यह टिप्पणी विचारणीय है। यहाँ पर्यायों की क्रमवर्तिता और अक्रमवर्तिता न मानना ही चिन्तनीय है।

चैतन्य स्वभाव की महिमा का व्याख्यान लघुतत्त्वस्फोट में विशेष रूप से

किया गया है। चैतन्यस्वभाव की प्राप्ति विशिष्ट पुण्यशाली को ही होती है। निकटभव्य चैतन्य स्वभाव की आकांक्षा रखने वाला प्राणी वीतराग सर्वज्ञ की सच्ची श्रद्धा करने वाला होता है और वही स्वानुभव से परिपूर्ण होता है–

त्वमेक एवैक रसस्वभावः सुनिर्भरः स्वानुभवेन कामम्।
अखण्डचित्पिण्डविपिण्डितश्रीर्विगाहसे सैन्धवखिल्यलीलाम्।।13/9 लघु.

जो एक ज्ञायक स्वभाव से सहित है, जो स्वानुभव से यथेच्छ परिपूर्ण है और जिनकी आभ्यन्तर लक्ष्मी अखण्ड चैतन्य के पिण्ड के सहित है ऐसे एक आप ही नमक ही डली की लीला को प्राप्त हो रहे हैं।

यहाँ आचार्य श्री ने शुद्धात्मा अरिहन्त भगवान् के स्तवन के द्वारा शुद्धस्वरूप का प्रतिपादन किया है। आत्मा का प्रत्येक प्रदेश ज्ञायकस्वभाव से परिपूर्ण होता है तभी पूर्ण रूप से शुद्धात्मा का अनुभव संभव है। जहाँ रागभाव है वहाँ शुद्धात्मा का अनुभव असंभव है जिस प्रकार नमक की डली का एक-एक कण क्षार रस से व्याप्त है, उसी प्रकार शुद्धात्मा का एक-एक प्रदेश ज्ञायक स्वभाव से परिपूर्ण है। जब क्षायोपशमिक ज्ञान चारित्रमोह जनित राग से सहित होता है, तब वह नाना ज्ञेयों में संलग्न रहता है किन्तु जब वह राग से रहित हो जाता है तब स्वरूप में स्थिर होता है।

राग से रहित पूर्ण वीतरागदशा को प्राप्त क्षायिकज्ञानी ही यथेच्छ स्वानुभव से परिपूर्ण है, उनकी स्तुति में जैसा आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रतिपादित किया है–

विशुद्धचित्पूरपरिप्लुतस्त्वमार्द्रार्द्र एव स्वरसेन भासि।
प्रालेयपिण्डः परितो विभाति सदार्द्र एवाद्रवतायुतोऽपि।। 14/9 लघु.

विशुद्ध चैतन्य के पूर में सब ओर से डूबे हुए आप आत्मरस से अत्यन्त आर्द्र ही सुशोभित हो रहे हैं क्योंकि बर्फ का पिण्ड घन रूपता से युक्त होने पर भी सर्वदा सब ओर से आर्द्र ही प्रतीत होता है। अर्थात् जिस प्रकार बर्फ का पिण्ड यद्यपि द्रवता-तरलता से युक्त नहीं है किन्तु जमकर शिला के समान अद्रव्यरूप हो गया है तथापि वह सदा आर्द्र ही रहता है, उसमें से पानी झरता हुआ मालूम होता है, उसी प्रकार विशुद्ध चैतन्य के पूर से प्लावित रहने वाले

शुद्धात्मा के अनुभावक एक मात्र ज्ञायकस्वभाव से परिपूर्ण होते हैं।

. अरिहन्त या क्षायिक ज्ञान के धारक आत्मा के पारदर्शी होते हैं यदि ऐसा नहीं होता तो वे स्वानुभाव से रहित होते तथा चैतन्य रूप वस्तु की महिमा में इच्छा को नहीं छोड़ते अर्थात् इच्छारहित आत्मदर्शी को स्वानुभवकर्त्ता स्वीकार किया गया है। इसी परम्परा का आश्रय लेकर कहा गया है–

अखण्डितः स्वानुभवस्तवायं समग्रपिण्डीकृतबोधसारः।
ददाति नैवान्तरयुद्धतायाः समन्ततो ज्ञानपरम्परायाः।। 16/1 लघु.

हे भगवन्! जिसमें ज्ञान का सार सम्पूर्ण रूप से एकत्र समाविष्ट किया गया है, ऐसा यह आपका कभी न खण्डित होने वाला स्वानुभव सब ओर से बहुत भारी ज्ञान की परम्परा को अवकाश नहीं देता है। इसका भाव यह है कि ज्ञान का फल स्वानुभूति है। जब स्वानुभव होता है तब विकल्पात्मक ज्ञान की परम्परा स्वयं समाप्त हो जाती है। स्वानुभव काल में ज्ञान और ज्ञेय का विकल्प समाप्त हो जाता है।

इस कथन से स्पष्ट है कि छद्मस्थ को शुद्धात्मा का पूर्ण अनुभव करना शक्य नहीं है। अतः मिथ्या प्रलाप न तो करना चाहिए और न सुनना चाहिए कि अविरत सम्यग्दृष्टि, शुद्धात्मा का अनुभव कर सकता है और इस पञ्चम काल में भी उसके अनुभव करने वाले हैं। पञ्चम काल का कोई भी व्यक्ति ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प से दूर नहीं रह सकता अतः वास्तविक रूप से क्षायिक ज्ञानी को ही पूर्णज्ञानी और निरन्तर स्वानुभूति कर्त्ता मानना चाहिए इसीलिए नवीं स्तुति में कहा गया है–

निषीदतस्ते स्वमहिम्न्यनन्ते निरन्तर प्रस्फुरितानुभूतिः।
स्फुटः सदोदेत्ययमेक एव विश्रान्त विश्वोर्मिभरः स्वभावः।। 17/1लघु.

अन्तरहित स्वकीय आत्मा की महिमा में स्थित रहने वाले आपका यह एक ही स्वभाव सदा उदित रहता है, जो निरन्तर प्रकट हुई स्वानुभूति से रहित है स्पष्ट है और जिसमें समस्त तरङ्गो का समूह ज्ञानसन्ततियां विकल्पों का जाल विशान्त हो जाता है-शान्त हो जाता है।

विकल्प समाप्त होने पर जैसे ज्ञान ज्ञेय का अभिन्यपना उत्पन्न होता है उसी प्रकार द्रष्टा और दृश्य का भी अभेद होता है। आत्मा ज्ञान अथवा दर्शन मात्र रूप से सुशोभित होता है जैसा कि स्तुतिकार ने भी कहा है–

स्वस्यै स्वतः स्वः स्वमिहैकभावं स्वस्मिन् स्वयं पश्यसि सुप्रसभः।
अभिभदृग्दृश्यतया स्थितोऽस्मान्न कारकाणीश दृगेव मासि।। 19/9।। लघु.

हे भगवन्! यहाँ अत्यन्त निर्मलता को प्राप्त हुए आप अपने आपमें अपने आपके लिए अपने आपसे एक अपने आपको अपने आपके द्वारा देख रहे हैं-निर्विकलप रूप से जान रहे हैं। इस प्रकार हे नाथ आप द्रष्टा और दृश्य के अभेद से स्थित हैं इसलिए दृष्टि क्रिया के कारक नहीं है आप दर्शन रूप ही सुशोभित हो रहे हैं।

शुद्धात्मा में क्रिया-कारक, काल और देश का विभाग नहीं पाया जाता है। चेतनद्रव्य से ही परिणमन करता है। भाव और भगवान् में अभेद भी होता है। गुण-गुणी में प्रदेश भेद न दिखलाकर स्तुति की है।[6]

वस्तु का स्वभाव विधि और निषेधरूप है। स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु विधिरूप होती है और परचतुष्टय की अपेक्षा निषेध रूप होती है। ज्ञान में ज्ञेय है यह विधिपक्ष है और ज्ञान में ज्ञेय नहीं है यह निषेध पक्ष है। "ज्ञान में ज्ञेय का विकल्प आता है" इस अपेक्षा से विधि पक्ष की सिद्धि होती है और "ज्ञान में ज्ञेय के प्रदेश नहीं आते है" इस अपेक्षा से निषेधपक्ष की सिद्धि होती है। जिस प्रकार दर्पण में पड़ा हुआ मयूर का प्रतिबिम्ब दर्पण से भिन्न नहीं है उसी प्रकार ज्ञान में आया हुआ ज्ञेय का विकल्प ज्ञान से भिन्न नहीं है इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में अभेद है किन्तु दर्पण और मयूर का विचार करते हैं तब दर्पण भिन्न और मयूर भिन्न ज्ञात होता है इसी प्रकार जब ज्ञान और उसमें आने वाले ज्ञेय पदार्थों का विचार किया जाता है तब ज्ञान और ज्ञेय पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं। हे भगवन्! आपका ज्ञान अपनी अनन्त सामर्थ्य से समस्त पदार्थों को जानता है आप पदार्थ रूप नहीं होते और पदार्थ आप रूप नहीं होते। आप सदा स्व-पर के विभाग को धारण करते रहते हैं।

द्रव्य में एक-अनेक नित्यानित्यपने की व्यवस्था को दर्शाने के लिए ही स्तुति के माध्यम से अपने आराध्य में एकत्व अनेकत्व नित्यानित्यत्व दर्शाया गया है–

अनेकोऽपि प्रपद्य त्वामेकत्वं प्रतिपद्यते।
एकोऽपि त्वमनेकत्वमनेकं प्राप्त गच्छसि 18/11

अर्थात् अनेक भी आपको प्राप्त कर एकपने को प्राप्त होता है और आप एक होकर भी अनेक को प्राप्त कर अनेकपने को प्राप्त हो रहे हैं।

यहाँ स्पष्ट है कि गुण और पर्याय संख्या की अपेक्षा अनेक हैं तथा एक द्रव्य में अवस्थित रहते हैं उसकी अपेक्षा एक है।

साक्षादनित्यमप्येतघाति त्वां प्राप्य नित्यताम्।
त्वं तु नित्योऽप्यनित्यत्वमनित्यं प्राप्य गाहसे 1/19/11/ लघु तत्त्व

यह पर्याय रूप तत्त्व साक्षात् अनित्य होकर भी द्रव्य स्वरूप आपको प्राप्त कर नित्यपने को प्राप्त होता है और आप नित्य होकर भी अनित्यरूप पर्याय को प्राप्तकर अनित्यपने को प्राप्त होते हैं।

यह वास्तविक सिद्धान्त है कि द्रव्य पर्याय से तन्मय होकर रहता है द्रव्य की त्रैकालिक शुद्धता इसी से बाधित होती है। जब पर्याय को गौणकर द्रव्य को प्रधान बनाया जाता है तब अनित्यत्व तत्त्व नित्यत्व को प्राप्त होता है और जब द्रव्य को गौणकर पर्याय को प्रधानता दी जाती है तब नित्यत्व अनित्यत्व को प्राप्त होता है।

प्रत्येक पदार्थ तीन रूप में सत् है। अर्थरूप, ज्ञानरूप और शब्दरूप। ज्ञान का विषय चराचर जगत् है किन्तु ज्ञान तदाधीन नहीं है। न ज्ञान ज्ञेय में जाता है और न ज्ञेय ज्ञान से आता है। दोनों स्वतन्त्र हैं फिर पदार्थ चिन्मय भासित होते हैं। इसी प्रकार शब्दसत्ता पुद्‌गल पर्यायरूप है तथापि उन शब्दों की वाचक शक्ति आपके ज्ञान के एक कोने में पड़ी रहती है। इसी प्रसंग में बाह्य पदार्थ का अपलाप करने वाले बौद्धों का निराकरण किया गया है।

जिनशासन स्याद्वाद मुद्रा[7, 8] से प्रतिष्ठित होने के कारण एक पदार्थ में एक साथ रहने वाले विरोधी धर्मो की अवस्थिति को स्वीकार करता है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं–

अवस्थितिः सा तव देव दृष्टेर्विरुद्ध धर्मेष्वनवस्थितिर्या।
स्खलन्ति यद्यत्र गिरः स्खलन्तु जातं हितावन्यहदन्तरालम्।। 8/19 लघु.

हे देव! विरुद्ध धर्मो में जो एक के होकर नहीं रहना है, वह आपकी दृष्टि की स्थिरता है–आपके सिद्धान्त की स्थिरता है। यदि इस विषय में वचन स्खलित होते हैं तो स्खलित हों क्योंकि दोनों-आप तथा अन्य की दृष्टि में बहुत अन्तर-भेद सम्पूर्णरूप से सिद्ध हो गया।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा ही स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रणयन किया गया है जैसा कि आठवीं स्तुति में आचार्य ने लिखा भी है–

गिरां बलाधान विधान हेतोः स्याद्वाद मुद्रामसृजस्त्वमेव।
तदङ्किताास्ते तदतत्स्वभावं वदन्ति वस्तु स्वयमस्खलन्तः।। 20/8 लघु.

हे भगवन्! शब्दों में दृढ़ता स्थापित करने के लिए आपने ही स्याद्वाद मुद्रा को रचा है–इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। इसलिए उस स्याद्वाद मुद्रा से चिन्हित वे शब्द स्खलित नं होते हुए अपने आप वस्तु को तत् अतत् स्वभाव से युक्त कहते हैं।

संसार के पदार्थ विधि और निषेघ दोनों रूपों से कहे जाते हैं अर्थात् स्वकीय चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति आदि विधिरूप है और परचतुष्टय की अपेक्षा निषेध आदि नास्तिरूप हैं। पदार्थ का कथन करने वाले शब्द अभिधा शक्ति के कारण नियन्त्रित होने से दो विरोधी धर्मो में से एक को कहकर क्षीण शक्ति हो जाते हैं दूसरे धर्म को कहने की उनमें सामर्थ्य नहीं रहती। एक अंश के कहने से वस्तु का पूर्णस्वरूप कथन में नहीं आ पाता इस स्थिति में हे भगवन्! आपके अनुग्रह से स्याद्वाद को कथञ्चिद्‌वाद का आविर्भाव हुआ। उसके प्रबल समर्थन से शब्द दोनों स्वभावों से युक्त तत्त्वार्थ का व्याख्यान करने में समर्थ होते हैं। अर्थात् स्याद्वाद का समर्थन प्राप्त कर ही शब्द यह

कहने में समर्थ होते हैं कि स्व की अपेक्षा से पदार्थ अस्तिरूप है। पर की अपेक्षा से नास्ति रूप है।[9]

स्याद्वाद और अनेकान्त आचार्य अमृतचन्द्र के प्रिय प्रतिपाद्य हैं उन्होंने इस स्तुतिकाव्य में तो बाहुल्य रूप से इस जैनदर्शन के प्राणतत्त्व की मीमांसा की है और अपने द्वारा की हुई टीकाओं में अनेकान्त स्याद्वाद को ही सर्वप्रथम नमन किया। स्मरण किया है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्यपने से एक ही वस्तु को प्रतिसमय माना गया है उसी को दर्शाते हुए स्तुतिकार ने कहा है—

य एवास्तमुपैशि त्वं स एवोदीयसे स्वयम्।
स एव ध्रुवतां घत्से य एवास्तमितोदितः।। 20।। लघु तत्त्वफोट

जो ही आप व्यय को प्राप्त होते हैं, वही आप स्वयं उत्पाद को प्राप्त होते हैं और जो ही आप व्यय होकर उत्पाद को प्राप्त होते हैं, वही धुव्र पने को धारण करते हैं।

यहाँ उत्पाद व्यय और ध्रौव्यपने से द्रव्य को तन्मय बताया है। आचार्य समन्तभद्र ने घट का व्यय मौलि का उत्पाद और स्वर्ण का ध्रुव रूप सद्भाव के उदाहरण के माध्यम से एक ही वस्तु की उत्पादव्यय ध्रौव्यात्यकता सिद्ध की है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने द्रव्य के लक्षण को बताते हुए ''उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'' 'सत् द्रव्यलक्षणम्' कहा ही है।

स्तुति के द्वारा संयम और तप का भी माहात्म्य दिखलाया है—

हे प्रभो! निरन्तर ज्ञानरूपी रस का पान करते हुए और बहिरंग तथा अन्तरंग संयम का निर्दोष पालन करते हुए निश्चित ही मैं स्वयं तुम्हारे समान हो जाऊँगा। इसी प्रकार नौवीं स्तुति में संयम और तप को लेकर स्तुति की है—हे भगवन! आपने परमार्थ के विचार के सार को अपनाया, निर्भय होकर एकाकी रहने की प्रतिज्ञा की अन्तरंग बहिरंग परिग्रह का त्याग किया और प्राणियों पर दया भाव किया। आतापन योग करते समय सूर्य की तीक्ष्ण किरणें

आपके शरीर को जलाती थी किन्तु आप कर्मफल के परिपाक की भावना में उन्हें अमृत के कणों के समान मानते थे। रात्रि में शवासन से स्थित रहते हुए श्रृगालों ने आपके सूखे शरीर को अपने दांतो से काटा बुद्धिमान रोगी जैसे रोग को दूर करने के लिए उपवास करता है, वैसे ही आपने अनादि राग को दूर करने के लिए एकमास अर्द्धमास के उपवास किये। इस प्रकार सम्पूर्ण आत्मबल से संयम को धारणकरके कषाय के क्षय से केवलज्ञानी हुए।

आचार्य अमृतचन्द्र ने ज्ञान के साथ संयम तप आदि को आवश्यक माना है। समयसार में विशेषरूप से भेद विज्ञान का कथन होने से आचार्य अमृत चन्द्र ने संयम-तप पर जोर नहीं दिया अतः कुछ स्वाध्यायियों ने तप संयम को गौणकर व्याख्यान देना शुरु किये और आचार्य अमृतचन्द्र के विषय में भी कहना शुरु किया कि इन्होंने ज्ञान को ही बल दिया है। ज्ञान की मुख्यता में इन्हीं का उल्लेख किया गया। यह दोष एकांगी अध्ययन का फल होता है। किसी भी आचार्य का समग्र साहित्य पढ़कर ही उसके प्रमाण देना उचित होता है।

स्तुतिकर्त्ता ने स्तुति में कारण कार्य सम्बन्ध को दर्शाते हुए अभेदनय की दृष्टि में कर्त्ता कर्म और क्रिया तीनों एक ही पदार्थ है भिन्न भिन्न नहीं हैं। इसलिए आराध्य में उनका भेद नहीं किया।[10]

बौद्धाभिमत ज्ञानाद्वैत का निराकरण कर जैन सम्मत ज्ञानाद्वैत का वर्णन भी विस्तार से किया है।[11] बौद्धसिद्धान्तों का खण्डन कर जिनमत की स्थापना महत्वपूर्ण है।[12]

सामान्य विशेष की सम्यक् मीमांसा इस स्तुति काव्य में श्री अमृतचन्द्र सूरि के द्वारा की गई है–

सामान्यस्योल्लसति महिमा किं बिनासौ विशेषै–
निः सामान्या स्वमिह किमयी धारयन्ते विशेषाः।
एकद्रव्यग्लपितविततानन्त पर्याय पुञ्जो
दृक्संवित्ति स्फुरित सरसस्त्वं हि वस्तुत्व मेषि। 6/22

विशेषों के बिना क्या सामान्य की महिमा उल्लसित होती है अर्थात् नहीं।

इस लोक में सामान्य से रहित ये विशेष क्या अपने आपको धारण करते हैं? अर्थात् नहीं। निश्चय से जिनके एक द्रव्य की विस्तृत अनन्त पर्यायों का समूह बीत चुका है अर्थात् जो नाना पर्यायों के द्वारा विशेष रूप हैं और जो दर्शन ज्ञान के चमत्कार से• सरस हैं अर्थात् दर्शन और ज्ञान की अपेक्षा सामान्य रूप हैं ऐसे आप वस्तुपने को प्राप्त होते हैं।

यहाँ नैयायिक वैशेषिकों के एकान्तमत का खण्डन और पदार्थ की सामान्यविशेषात्मकता सिद्ध की गई है।

केवलज्ञान माहात्म्य का अलौकिक वर्णन हृदय ग्राह्य बनाना आचार्य अमृतचन्द्र की रचना का वैशिष्ट्य है।[13]

निश्चय-व्यवहार का आश्रय लेकर स्तुतियां की हैं आचार्य स्वयं दशवीं स्तुति करते हुए कहते हैं कि मैं विशुद्ध विज्ञानधन आपकी एकमात्र शुद्धनय की दृष्टि से स्तुति करूँगा। इसका तात्पर्य है इससे पूर्व व्यवहार दृष्टि रही है क्योंकि बाह्य क्रिया कलापों को लेकर स्तुतियां की गई हैं, व्यवहार धर्म के रूप ये क्रियायें आवश्यक होती हैं। `•

इस प्रकार सम्यक् परिशीलन करने पर कहा जा सकता है कि इस स्तुतिकाव्य में सभी सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है। इसका यह विवेचन समयसार आदि ग्रन्थों के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र सूरि द्वारा ही किया जाना संभव है क्योंकि अमृतकलश से भाषा भाव आदि सभी विषयों में साम्य है। निसंदेह यह स्तुति काव्य अनुपम एवं महत्त्वपूर्ण है।

सन्दर्भ

1. इत्यमृतचन्द्रसूरीणा कृति शक्तिम भणितकोशो नाम लघुतत्त्वस्फोट समाप्त ।।

2 अस्याः स्वय रभसिगाढनिपीडिताया संविद्विकासरसवीचिभिरुल्लसन्त्याः।
आस्वादयत्वमृतचन्द्रकवीन्द्र एष हृष्यन् बहूनि मणितानि मुहुः स्वशक्तेः।। लघु

3. वर्णै· कृतानि चित्रै· पदानितु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यै कृतं पवित्रं शास्त्रमिद न पुनरस्याभिः।। पु सि
वर्णः पदानां कर्तारो वाक्याना तु पदावलि·।

वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम्।। त. सा

स्वशक्ति ससूतिचवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेय समयस्य शब्दै·।

स्वरूप गुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृत चन्द्रसूरे·।। स सा

व्याख्येय किल विश्वमात्मसहित व्याख्यातु गुम्फे गिरा।

व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वलगतु।

वलगात्वद्य विशुद्धबोधिकलया स्याद्वाद विद्याबलात्।

लब्धैक सकलात्मशाश्वतमिद स्व तत्त्वमव्याकुल·।। प्र सार

4 लघुतत्त्वस्फोट 2/2

5 भावो भवन् भासि हि भाव एव चितामवशिचन्मय एव भासि।
भावो न वा भासि चिदेव भासि न वा विभो भास्यसि चिच्चिदेक ।। 24/10 लघुतत्त्वस्फोट

6 प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठुरेय स्याद्वादमुद्रा हठकारतस्ते।
अनेकश· शब्दपथोपनीत सस्कृत्य विश्व सममस्खलन्ती।। 18/8 लघुतत्त्वस्फोट

7 लघुतत्त्वस्फोट 1/17

८(क) अनन्तधर्मणस्तत्त्व पश्यन्ती प्रत्यगात्मन ।
अनेकान्तमपीमूर्ति नित्यमेव प्रकाशताम्।। समयसार

(ख) दुर्निवारनयानीक विरोधध्वसनौषधि·।
स्यात्कार जीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्त पद्धति ।। पञ्चस्तिकाय

(ग) परमागमस्य जीवं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनय विलसितना विरोधमथन नयाम्यनेकान्तम्।। पुरुषार्थ

9 घटमौलिसुवार्णर्थी नाशोत्पत्ति स्थितिष्वयम्।
शोक प्रमोदमाध्यस्थ्य जनोयाति सहेतुकम्।।

10 लघुतत्त्वस्फोट 13 सो 5/19

11 वही 12 से 15/20

12 वही 20वी स्तुति

13 लघुतत्त्वस्फोट 24वी स्तुति एवं 25वी स्तुति

– आचार्य-संस्कृत विभाग
दिगम्बर जैन कॉलेज, बड़ौत

पदार्थों के परिज्ञान द्वारा आत्मानुभूति की प्रक्रिया

–डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

जिनेन्द्र देव के मतानुसार ज्ञान आत्मा है। आत्मा के बिना ज्ञान नहीं होता इसलिये ज्ञान आत्मा है और आत्मा (ज्ञान गुण द्वारा) ज्ञान है एवं सुखादि अन्य गुण द्वारा अन्य है। आत्मा ज्ञान स्वभाव है और पदार्थ आत्मा के ज्ञेय स्वरूप हैं। रूपी-नेत्र-ज्ञेय के समान ज्ञेय और आत्मा एक दूसरे में प्रवर्तन नहीं करते (प्रसार 27/28) जो जानता है सो ज्ञान है अर्थात् ज्ञायक ही ज्ञान है (प्र. सा. 35)।

पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान और सुख अमूर्त या मूर्त अथवा अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय होता है। इनमें अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख उपादेय है तथा इन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रिय सुख हेय है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है (प्र. सार 53/54)। 'केवलज्ञान' है वह सुख है, परिणाम भी वही है, घातियाकर्म के क्षय से खेद रहित है। जिनके घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं उनका सुख ही परम सुख है, ऐसा वचन सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं (प्र. सार 60/61)! जिस प्रकार आकाश में सूर्य अपने आप ही तेज, उष्ण और देव है उसी प्रकार लोक में सिद्ध भगवान भी स्वयमेव ज्ञान, सुख और देव हैं (प्र.सार. 68)! तिमिर नाशक दृष्टि वाले को दीपक प्रयोजन हीन होता है उसी प्रकार स्वयमेव सुख स्वरूप परिणमित होने वाले आत्मा को विषय-सुख अकिंचित्कर है (प्र. सा.67)।

द्रव्य, तत्त्व और पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण आत्मा अनादिकाल से आत्मविस्मृति एवं पर-पदार्थो में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रूप त्रिदोष-अविद्या के कारण चतुःगतियों में भ्रमण कर रहा है पर द्रव्यों के प्रति एकत्व-ममत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि एवं एकान्तिक-आग्रही सोच के रूप में जीवन को आत्म-स्वभाव के विपरीत दिशा में संचालित कर रहा है। स्थायी आत्म शांति, अनाकुल सुख एवं स्व-समय प्रवृत्ति हेतु वह प्रयासरत है। इसका मार्ग है-सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप की एकता रूप मोक्ष

मार्ग। सभी जीवात्माएँ स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध हैं ऐसी शुद्धात्मा के ज्ञान पूर्वक उसका अनुभव करना ज्ञानानुभूति कहलाती है। इस अनुभूति के साथ आत्मा की जो प्रतीति और ज्ञान होता है उसे क्रमशः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आत्मा की मोह-राग-द्वेष के अभाव रूप जो शुद्धता के अंशों में वृद्धि होती है वह वीतराग रूप परिणति सम्यक् चारित्र कहलाती है। सम्पूर्ण वीतरागता यथाख्यात चारित्र कहलाता है जो शुद्धोपयोग रूप आत्मध्यान से होता है। वीतरागता की प्राप्ति के साथ ही आत्मा के अंनतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण प्रकट होकर वह सर्व ज्ञाता-सर्व दृष्टा हो जाता है। इस प्रकार संसार अवस्था में देह रूपी मंदिर में विराजमान कारण परमात्मा स्वरूप पारिणामिक ज्ञायक भाव रूप परमात्मा का पदार्थों के ज्ञान, स्व-पर भेद-विज्ञान, आत्मस्वभाव में अहंबुद्धि एवं आत्म-रुचि पूर्वक अपनी ज्ञायक आत्मा का अनुभव कर उसमें आत्म-प्रतीति या अपनापन स्थापित करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह आप्त, आगम और पदार्थों के प्रति श्रद्धान-ज्ञान पूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन की आराधना करने वाले नियम से ज्ञान की आराधना करते हैं, परन्तु ज्ञानाराधना करने वाले को दर्शन की आराधना हो भी या न भी हो।

ज्ञान ज्ञान ही है वह मिथ्या या सम्यक नहीं होता। मिथ्यात्व-तत्त्वों के प्रति अयथार्थ श्रद्धान एवं आत्मानुभव के अभाव के कारण-ऐसा ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है और सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान कहलाता है। आत्मज्ञान के अभाव में आगमज्ञान भी अकिञ्चित्कर है। श्रुताभ्यास के मंथन का उद्देश्य शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव या संवित्ति की प्राप्ति है, अन्य सब शात्राभ्यास मनीषियों का बुद्धि-कौशल रूप निःसार है। शुद्धात्म लक्षित श्रुताभ्यास एवं तत्व-चिंतन ही परम तप कहा है उससे राग रहित शुद्धात्मा का अनुभव होता है। इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दीपक-प्रकाश समान सहगामी हैं।

आत्मा स्वभावतः त्रिकाल शुद्ध, ज्ञान-दर्शन युक्त, अरूपी एक है। परमाणु मात्र भी पर द्रव्य (द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म) उसके नहीं हैं। आत्मा प्रमत्त या अप्रमत्त भी नहीं है। वह तो मात्र ज्ञायक ही है। वस्तुतः वह

तो मात्र है-ज्ञायक भी व्यवहार कथन है। ऐसा परिणामी आत्मा जब जिस भाव रूप से परिणमन करता है, उस समय उस भाव मय कहा जाता है। इस दृष्टि से धर्म परिणत-आत्मा को धर्म कहा जाता है। चारित्र परिणत आत्मा स्वयं मोह-क्षोभ रहित चारित्रमय है। इसी न्याय से शुभ या अशुभ भाव रूप परिणत आत्मा शुभ या अशुभ है (प्र. सार 7-8-9)। धर्म से परिणमित स्वरूप वाला आत्मा शुद्ध उपयोग होने पर मोक्ष सुख व शुभोपयोग वाला स्वर्ग सुख पाता है और अशुभोपयोग वाला कुमनुष्य, तिर्यंच एवं नरक के दुःख भोगता हुआ संसार भ्रमण करता है (प्र.सार-11-12)।

आत्मशुद्धि, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का मार्ग है— अतीन्द्रिय आत्मा का अनुभव एवं आत्म-प्रतीति, आत्मज्ञान और आत्म स्वरूप में रमणता। इसे ही त्रिरत्न रूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता रूप मुक्ति-पथ कहा है। आगम में इसका निरूपण दो प्रकार से किया है—पहला साधन या कारण रूप से और दूसरा साध्य या कार्य रूप से। इसे क्रमशः व्यवहार और निश्चय मोक्ष मार्ग कहते हैं। इसमें रत्नत्रय रूप शुद्ध-स्वात्मा या अंतरात्मा ही यथार्थ मोक्षमार्ग है, वही आत्मार्थीओं के लिये अभिलाषणीय और दर्शनीय है। शुद्ध सच्चिदानन्दमय स्वात्मा (अंतरात्मा) के प्रति तद्रूप प्रतीति, अनुभूति और स्थिति में अभिमुखता व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और उस शुद्धात्मा की प्रतीति, अनुभूति तथा स्थिति में उपयोग की प्रवृत्ति निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है (पं. आशाधर जी-अध्यात्मरहस्य श्लोक 15)। तत्वज्ञान पूर्वक शुद्ध स्वात्मा का अनुभव कर उसमें लीन होने से त्रिरत्नमय गुणों का उच्च विकास होता है, उसे ही ज्ञानानुभूति एवं शुद्धोपयोग कहते हैं।

यह ध्यातव्य है कि कारण अनुसार कार्य होने के न्याय से त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक आत्मा की विद्यमान विभाव परिणति का कारण आत्मा की अज्ञान मूलक प्रवृत्ति है। क्योंकि अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव की उत्पत्ति होती है जो अनंत दुःख रूप है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जीवों को तत्व का अज्ञान अज्ञान का उदय है, तत्त्व का अश्रद्धान मिथ्यात्व का उदय है; अविरमण भाव असंयम का उदय है; जीव के जो मलिन उपयोग है वह कषाय का उदय

है तथा शुभ-अशुभ प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप मन-वचन-काय की चेष्टा का उत्साह है वह योग का उदय है (स. सार 132-134)। अज्ञानमय परिणामों के कारण नवीन कर्मबंध होता है (स. सार. 135-136)। कर्मबंध और कर्मोदय, पुनः कर्मबंध...आदि की निरंतर प्रक्रिया चल रही है जो शुभाशुभ भाव की जनक है। ज्ञानावरणादिक कर्म आठ प्रकार के हैं जिनकी 148 उत्तर प्रकृतियाँ हैं। ज्ञानावरण 5, दर्शनावरण 9, मोहनीय 28 और अंतराय 5 ये 47 कर्म प्रकृतियाँ आत्मगुण को घातने के कारण अप्रशस्त प्रकृतियाँ कहलातीं हैं। वेदनीय 2, आयु 4, नाम 93 और गोत्र 2, कुल 101 कर्म प्रकृतियॉ देशघाती हैं। इनमें 67 प्रशस्त और 53 अप्रशस्त प्रकृतियॉ हैं। इस प्रकार कुल अप्रशस्त कर्म प्रकृतियाँ 47+53=100 हैं। कर्म बंध के चार प्रकार हैं– प्रकृतिबंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध। विशुद्ध और संक्लेश परिणामों के निमित्त से प्रशस्त-अप्रशस्त कर्मो का बंध होता है।

कर्म बंध एवं उसके संक्षिप्त भेद-प्रभेद का उद्देश्य यह दर्शाना है कि आत्म स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान एवं स्थिरता के बाधक घटक या शक्तियॉ कर्मोदय का निमित्त है जो अज्ञानी जीव को पुनः कर्मबंध कराता है। इस दृष्टि से आत्म स्वभाव के प्रति जागरूकता ज्ञान एवं आत्म रमणता से कर्म की पूर्वबद्ध शक्ति को निष्प्रभावी/क्षय करना है। विभाव-भाव से स्वभाव-भाव की स्थापना का सूत्र है—शुद्धात्मा को जानकर, अनुभवकर शुद्धात्मा की प्राप्ति-उपलब्ध करना। शुद्धात्मा की उपलब्धि के निमित्त से पूर्व बद्ध कर्मो की शक्ति स्वतः उपशम/क्षय को प्राप्त होती है। उसके लिये आत्मा को कुछ करना नहीं पड़ता। दो द्रव्यों के मध्य वज्र की दीवार रूप अत्यंताभाव विद्यमान है।

अज्ञान से ज्ञान, विभाव से स्वभाव या अशुद्धता से शुद्धता के शोधन के साधन भूत देशनालब्धि जन्य स्वाध्याय, तत्त्वचिंतन, तत्वनिर्णय एवं शुद्धात्मा की प्रबल भावना के साथ-साथ ज्ञानावरणादिक कर्म प्रकृतियों में जो विविध प्रकार से परिवर्तन, उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है वह भी ज्ञान का रोचक विषय है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में इनकी क्या-कैसी स्थिति स्वतः निर्मित होती है वह भी अध्ययन का विषय है। इसके अध्ययन से अचिंत्य शक्ति के

धारक देह-देवालय में विराजमान आत्म-प्रभु की भव्यता-अलौकिकता सहज ज्ञात होती है। जब तक आत्मा प्रभु एवं आत्मा के अनंत, अतीन्द्रिय, अनुपम गुणों और शक्तियों के ऊपर अंतरंग भाव से बहुमान, प्रतीति नहीं आती तब तक जैन धर्म कुलधर्म से ऊपर उठकर आत्मधर्म नहीं बन सकता और न ही कर्म बंधनों के एकक्षेत्रावगाही सम्बधों के मध्य विराजित सिद्धसमान शुद्ध आत्मा प्रभु की स्वतंत्रता-स्वाधीनता की अनुभूति ही सम्भव है। आत्मा की अनुभूति किस प्रकार सम्भव है उसके मार्गदर्शक सूत्र इस आलेख का विषय हैं।

सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है। आचार्य उमा स्वाति ने 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' (सूत्र 1/2) कहा है। जीवादि पदार्थो के यथार्थ भाव सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा का भाव बोध सहित श्रद्धान प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन आप्त, आगम और पदार्थो के ज्ञान-श्रद्धान पूर्वक होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का आधार ज्ञान की आराधना और आत्मानुभूति/ज्ञानानुभूति है। आत्मानुभूति के बिना सम्यक्त्व नहीं और सम्यक्त्व के बिना निर्वाण नहीं होता (सार 90)। यह ज्ञायक ज्ञान और ज्ञेय के एकाकार होने पर होती है। इसमें परिणामी-परिणाम और परिणति तीनों एकाकार हो जाती है। सम्यग्दर्शन का प्रतिबंधक कर्म दर्शनमोहनीय कर्म (मिथ्यात्व) है। आत्मानुभूति के काल में इसका उपशम, क्षयोपशम या क्षय हो जाने से सम्यग्दर्शन भी उस अनुसार औपशामिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यग्दर्शन नाम पाता है। सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली-ध्रुव पारिणामिक ज्ञायक भाव रूप 'जीवास्तिकाय' है। जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के भेद से रहित सामान्य-अभेद-नित्य-एक शुद्धात्मतत्व रूप कारण परमात्मा एवं कारण शुद्ध-पर्याय युक्त है। इसी आत्मद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन चारों गतियों के भव्य मिथ्यादृष्टियों को होता है जो मनसहित-पंचेन्द्रिय युक्त हैं, पर्याप्त हैं, मनुष्यों-तिर्यचों में गर्भज हैं, मंदकषाय रूप विशुद्धता युक्त हैं, जाग्रत और साकार ज्ञानोपयोगी हैं। लौकिक जीवन में सदाचारी, नीतिवान, मद्य-मांस-मधु-पंचउदम्बर फल के त्यागी, निशिभोजन के त्यागी एवं व्यसन रहित भव्य महानुभावों को उच्च आत्म भावना एवं

पंचलब्धि सहित प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन आत्मानुभूति पूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति उग्र पुरुषार्थ पूर्वक तत्वनिर्णय स्व-पर भेदविज्ञान, हित-अहित का ज्ञान, वीतरागी देव-शास्त्र-गुरू की श्रद्धा आदि में उपयोग लगाने वाले भव्य जीव को होती है। इससे कर्मो की शक्ति हीन होगी, कुछ काल में दर्शनमोह का उपशम होगा, तब तत्त्वों की यथावत प्रतीति आयेगी। जीव का तो एक मात्र कर्तव्य तत्व अभ्यास, तत्त्व निर्णय एंव श्रुताभ्यास ही है। ऐसा होने पर पंचसमवाय पूर्वक सम्यग्दर्शन स्वयमेव हो जाता है। तत्त्व विचार रहित व्यक्ति देवादिक की भक्ति करे, श्रुताभ्यास करे, व्रत-तप-जप करे तब भी उसे सम्यक्त्व नहीं होता और तत्त्वविचार वाला इनके अभाव में भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। इस वस्तुस्थिति की पुष्टि आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार की गाथा 79, 80 एवं 86 में सहज रूप से की है जो मूलतः पठनीय-मननीय हैं।

अनुभव शब्द अनेकार्थी है। लौकिक-अलौकिक सुख-दुःख के वेदन को अनुभव कहते हैं। विद्यमान संदर्भ में स्वसंवेदनगम्य आत्म सुख का वेदन स्वानुभव है (प्र. सं. टीका 42)। शुद्ध नय स्वरूप आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है। अतः आत्मा में आत्मा को निश्चत स्थापित करके सदा सर्व और एक ज्ञानधन आत्मा है, इस प्रकार देखना चाहिये 'मैं ही यह आत्मा हूँ' ऐसे विकल्प विलय के पश्चात 'मैं स्वयं आत्मा हूँ' ऐसा सहज अनुभव/भावबोध होने पर आत्मानुभूति होती है। स्वसंवेदन आत्मा के उस साक्षात् दर्शन रूप अनुभव का नाम है जिसमें आत्मा स्वयं ही ज्ञेय तथा भाव को प्राप्त होता है (तत्वा. 161)। इन्द्रिय और मन दोनों के निरूद्ध होने पर अतीन्द्रिय ज्ञान विशेष रूप से स्पष्ट होता है। स्वसंवेदन गोचर आत्मा को स्वसंवेदन के द्वारा ही देखना चाहिये (तत्त्वा. 167)। आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष होता हुआ भी केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष होता है। जो मुनि या गृहस्थ स्वसंवेदन ज्ञान से जानकर निजात्मा को ध्याता है उसकी मोहग्रंथि नष्ट हो जाती है (प्र.सार-ता.वृ.194)।

कविवर पं. बनारसी दास जी ने पदार्थो के यथार्थ ज्ञान से आत्मानुभव और मोक्षमार्ग में उसकी भूमिका के सम्बन्ध में समयसार नाटक की उत्थानिका में

सुन्दर एवं हृदयग्राही वर्णन किया हैं, जो मननीय है–

वस्तु विचारतध्यावतैं, मन पावै विश्राम
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौनाम (छदान)
अनुभव चिंतामणि रत्न, अनुभव है रस कूप
अनुभव मारग मोक्ष कौ, अनुभव मोख स्वरूप (18)।

सम्पूर्ण जैनागम का लक्ष्य आत्मा के स्वरूप और उसकी उपलब्धि का मंगलमय मार्ग बताना है धवला, गोमट्टसार, लब्धिसार जैसे सिद्धान्त ग्रंथो में आगम पद्धति से एवं समयसार प्रवचनसार जैसे अध्यात्म ग्रंथों में अध्यात्म पद्धति से आत्मोपलब्धि की प्राप्ति के सूत्र वर्णित हैं जो आत्मयोगियों को अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव कराते हैं। आगम पद्धति कर्म सापेक्ष है और अध्यात्म पद्धति भाव-भावनात्मक पुरूषार्थ परक है। दोनों पद्धतियों का लक्ष्य त्रिकाली ध्रुव आत्मा के ज्ञान एवं आश्रय से शुद्धात्मा का अनुभव एवं सिद्ध-सम शिव स्वरूप होना है। इस कथन से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्यायों की उत्पत्ति शुभाशुभ भाव एवं उपयोग के परे शुद्धभाव एवं उपयोग से होती है।

आत्मोपलब्धि की अध्यात्म पद्धति :- अध्यात्म पद्धति में जीव-अजीव आदि द्रव्यों तत्वों एवं पदार्थो से भेद विज्ञान सहित द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म से भिन्न ज्ञायक आत्मा की स्वतंत्रता का भाव बोध कराकर शुभ-अशुभ योग और उपयोग के पार शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव कराते हैं। इसका आधार है–सच्चा तत्त्व श्रद्धान, प्रतीति सहित जीवादिक तत्त्वों के स्वरूप का भाव भासन, आत्म स्वरूप में अंहबुद्धि का होना और पर्याय में अंहबुद्धि का अभाव, हित-अहित रूप भावों की पहिचान और वीतरागी देव-शास्त्र-गुरू-धर्म का श्रद्धान-ज्ञान। इस पद्धति में पहले देवादिक का श्रद्धान होता है, फिर तत्त्वों का चिंतवन-विचार होता है, फिर आपापर (स्व-पर) के स्वरूप का चिंतवन होता है पश्चात मात्र स्व-आत्मा का चिंतवन किया जाता है। इस अनुक्रम से पुरुषार्थ कर सच्चे मोक्ष मार्ग के अनुसार आत्मानुभव एवं सिद्धपद प्राप्त किया जाता है।

वर्तमान में इच्छाओं के कारण उपयोग शुभ-अशुभ रूप निरंतर परिणमित हो रहा है। सर्व परिग्रह एवं इच्छाओं के परित्याग से उपयोग शुद्धात्म स्वरूप की ओर उन्मुख हो स्थिर होता है तभी आत्मा आत्मा के ध्यान द्वारा शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की गाथा 144 में घोषित किया कि जो सर्व नय पक्षों से रहित कहा गया है वह समयसार है। इसी समयसार को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के नाम से पुकारते हैं। भिन्न नाम होने पर वस्तु एक ही है। इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द देव ने शुद्धात्मानुभव की विधि दी जो इस प्रकार है– पहिले श्रुतज्ञान से आगमज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय-निर्णय करे फिर इन्द्रिय-मन रूप मतिज्ञान को मर्यादा में लेकर आत्म सम्मुख करें पश्चात् श्रुतज्ञान रूपी नय पक्षों के विकल्पों को भी मर्यादा में लेकर श्रुतज्ञान को आत्म सम्मुख करे तभी एक अखंण्ड प्रतिभासमय, अनंत, परमात्म स्वरूप समयसार का आत्मा अनुभव करता है। उसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा है, जो आत्म अनुभव से अभिन्न है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहा है (मोक्ष पाहुड-5)।

आत्मानुभूति की प्रक्रिया में भाव और भावनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका को आधार कर आचार्य कल्प पं. आशाधर जी ने समस्त अनुयोगों का रसपान कर अध्यात्म रहस्य नामक लघु ग्रंथ में निम्न सोपान दर्शाये–

(1) श्रुति-श्रुत :– जिनेन्द्र देव द्वारा उपदेशित जिनवाणी आत्मा को प्रशस्त ध्यान की ओर लगाकर शुद्धात्मा-ध्येय को प्राप्त कराने की दोष रहित विधि है।

(2) मति-बुद्धि :– शुद्धस्वात्मा का बुद्धिपूर्वक सम्यक निर्णय मति-बुद्धि है। जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है उसको उसी रूप में देखती हुई सदा आत्माभिमुख बुद्धि मति है। स्व-पर प्रकाशित ऐसी बुद्धि का नाम सम्यग्ज्ञान है।

(3) ध्यान रूप परिणति बुद्धि-ध्याति :– शुद्धात्मा में स्थिर बुद्धि का प्रवाह-शुद्धात्मा का अनुभव कराता है जो पर पदार्थो के ज्ञान को स्पर्श नहीं करती।

(4) दिव्य दृष्टि-दृष्टि :– रागादि विकल्पों से रहित ज्ञान शरीरी आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में दिखाई देना दिव्य दृष्टि है अथवा जो दर्शन-ज्ञान लक्षण

से आत्म-लक्ष्य को अनुभव करे-जाने वह संवित्ति दिव्य दृष्टि है। यह सर्व विकल्पों को भस्म करती है और परमब्रह्म रूप योगीजनों द्वारा उपादेय-पूज्य है।

उक्त सोपानों की प्राप्ति हेतु आत्माभिमुखी आत्मा निम्न भावनाएँ भाता है एवं धारणा करता है–

(1) कर्तृत्व–भोक्तृत्व भाव के विसर्जन हेतु अकर्त्ता-अभोक्ता स्वरूप की भावना।

(2) रागादिक विभाव भावों के प्रति स्वामित्व विसर्जन हेतु उनके विनाश तथा शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप आत्मा की भावना।

(3) कर्म और कर्मफल से आसक्ति घटाकर हेतु द्रव्यकर्म-भावकर्म एवं नोकर्म के त्याग की भावना। उनसे उपेक्षा धारण करना।

(4) स्वात्मोपलब्धि हेतु हेय-उपादेय, सत्-असत् आदि का ज्ञान और तदनुसार शुद्धात्मतत्त्व के ग्रहण की भावना।

(5) अहंकार-ममकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव के विसर्जन हेतु भगवती-भवितव्यता से आश्रय-ग्रहण की भावना। कार्यत्याग रूप निष्क्रियता अनिष्टकर है मात्र कर्तृत्व भाव विसर्जित किया है।

(6) स्व-समर्पण हेतु आत्मा के अद्वैत-सच्चिदानन्द स्वरूप की प्रबल भावना जिसके निरंतर अभ्यास से आत्मा आत्मा में लीन होता है और स्वानुभव पूर्वक अतीन्द्रिय-स्वाधीन सुख पाता है।

(7) आत्मानुभव हेतु हृदय में परम ब्रह्म स्वरूप शुद्धात्मा के स्फुरण की भावना जिससे देह-देवालय में आत्मप्रभु का दर्शन होता है।

(8) 'मैं ही मैं हूँ' ऐसे अंतर जल्प के परित्याग और विकल्परहित, वचन-अगोचर अविनाशी आत्म-ज्योति-दर्शन की भावना।

(9) 'मैं ही मैं हूँ' के अंतर जल्प के त्याग एवं अंतरवर्ती उपयोग द्वारा आत्मा के साथ उसका तादात्म्य आत्मभूतता का सूचक है। ऐसी स्थिति में हृदय जिसका चित्र खींचता है उस-उसको यह आत्मा नहीं है-ऐसा समझकर छोड़ना चाहिये। हृदय में विकल्पों का न उठना या रुक जाना

आत्म दर्शन का सूचक है, यह एक विधि है।

(10) शुद्ध भाव से उपयोग शुद्ध होता है उससे आत्मा शुद्ध होता है। त्रिदोष रूप अविद्या को उपेक्षा नामक विद्या से काटने पर स्वरूप व्यक्त होता है और आत्म गुणों का विकास होता है। परम ब्रह्म आत्मपद की प्राप्ति हेतु साधक सोऽहं शब्द, ब्रह्म से मन को संस्कारित करता है पश्चात् अधोमुख द्रव्यमन रूप कमल में ध्यान रूप सूर्य के द्वारा कमल के अंदर स्फुरायमान परम ज्योति स्वरूप का अनुभव करना चाहिये। इससे मोहान्धकार नष्ट होता है और इन्द्रिय तथा मन रूप वायु का संचार रुकने पर पर-पदार्थो से शून्य तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों से अशून्य आत्मा ही अंतरदृष्टि में दिखाई देता है। इस प्रकार आत्मलीन योगी आत्मदर्शन करता हुआ अधिक संवर-निर्जरा करता है और आनंद को भोगता है।

(11) आत्मयोगी द्वारा स्वानुभूति की वृद्धि की उत्तरोत्तर भावना भाकर अपने रत्नत्रयात्मक निजभाव का भोक्ता बने रहने की भावना करना।

(12) शुद्धात्मभावना का फल शुद्धात्मा की प्राप्ति है। परमानन्द में लीन हुआ योगी निर्भय होता है।

ज्ञानी आत्मा स्वयं ही अचिंत्य शक्ति वाला देव है, चिन्मात्र चिंतामणि है। मतिज्ञानादि रूप हीन ज्ञान कला से केवलज्ञान रूप सम्पूर्ण ज्ञान कला का विकास ज्ञानाभ्यास से ही होता है। इसकी पुष्टि करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द का निम्न कथन मननीय है–

एदम्हि रदो णिच्छं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तम सोक्खं। (समयसार 206)

अर्थात् ज्ञान में नित्य प्रीति वाला हो, इसमें नित्य सन्तुष्ट हो और इससे तृप्त हो; तुझे उत्तम सुख मिलेगा।

इस प्रकार ज्ञान स्वरूपी आत्मा का ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना उसी में संतुष्ट-तृप्त होना परम ध्यान है। उसी से वर्तमान में आत्मानंद का अनुभव एवं अल्पकाल में ज्ञानानन्द स्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार

आत्मानुभव हेतु श्रुताभ्यास एवं उत्कृष्ट आत्म भावना इष्ट है।

आत्मोपलब्धि की आगम पद्धतिः– आगम के अनुसार आत्मानुभूति एवं सम्यग्दर्शन तत्त्वविचार वाले जीव को होता है। इससे ज्ञानावरण, मिथ्यात्व आदि कर्म का अनुभाग हीन होता है। जहाँ मिथ्यात्व कर्म का उदय न हो वहीं सम्यक्त्व हो जाता है। इस प्रकार तत्त्वविचार वाले को सम्यक्त्व हो ही हो, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि शास्त्रानुसार सम्यक्त्व पंचलब्धि पूर्वक होता है। लब्धि का अर्थ प्राप्ति या लाभ है। लब्धिसार के अनुसार दर्शन और चारित्र की प्राप्ति होना लब्धि है। क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं या उसके निमित्त से आत्मा में ज्ञान के उघाड़रूप शक्ति को लब्धि कहते हैं। 'लब्धि उपयोगो भावेन्द्रियम्' के अनुसार भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप होती है। विशिष्ट तप से प्राप्त ऋद्धियों को भी लब्धि कहते हैं। पांच लब्धियाँ और नौ क्षायिक लब्धियाँ भी होती हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पूर्व पाँच लब्धियाँ नियम से होती हैं। वे हैं– 1. क्षयोपशम लब्धि, 2. विशुद्धिलब्धि, 3. देशनालब्धि, 4. प्रायोग्य लब्धि 5. करण लब्धि। इनमें प्रथम चार लब्धियां भव्य और अभव्य दोनों जीवों को होती है। करण लब्धि भव्य जीव को ही होती है। उसके होने पर सम्यग्दर्शन नियम से प्रकट होता है। प्रथम चार लब्धियों का पृथक-पृथक प्रत्येक का और समूह में चारों का काल एक अंतर्मुहूर्त होता है। करण लब्धि के तीनों करणों-अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण का काल भी अपना अपना एक-एक अंतर्मुहूर्त होता है। अनिवृत्तिकरण का काल सब से अल्प है, अपूर्वकरण का उससे संख्यातगुणा बड़ा और अधःकरण का काल उससे, अपूर्वकरण का उससे संख्यातगुणा बड़ा और अधःकरण का काल उससे भी संख्यातगुणा बड़ा है। उत्पत्ति की अपेक्षा प्रथम तीन लब्धियाँ युगपत एक साथ होती हैं। प्रथम चार निमित्त परक हैं अंतिम करण लब्धि उपादान परक है।

(1) क्षयोपशम लब्धि :- ज्ञान के उघाड़ को क्षयोपशम ज्ञान कहते हैं। इससे तत्त्वार्थ ग्रहण करने की ज्ञानगुण की शक्ति प्रकट होती है। विशुद्ध परिणामों एवं तत्त्व-विचार से ज्ञानावरणादिक समस्त अप्रशस्त कर्म प्रकृतियों के अनुभागी

स्पर्धकों का प्रति समय अनंतगुणा हीन होकर उदीरणा होना क्षयोपशम लब्धि है। इससे घातिया-अघातिया अप्रशस्त कर्मो की शक्ति हीन-हीन होकर उदय में आती रहती है। साधक बुद्धि पूर्वक उपयोग तत्त्वग्रहण-धारण में लगाता है। परिणाम भी शुभ-शुभतर विशुद्ध होते हैं। द्रव्यानुयोग सापेक्ष प्रथमानुयोग की प्रधानता पूर्वक भावना होती है।

(2) **विशुद्धि लब्धि** :- तत्त्व ग्रहण-धारण करने योग्य मंद-मंदतर कषाय रूप भाव जिससे धर्मानुराग और तत्त्व जिज्ञासा के शुभ भाव होते हैं। यह मिथ्यात्व एवं चारित्र मोहनीय कर्म के मंद उदय या उदीरणा किये गये अनुभागी स्पर्धकों के निमित्त से होने वाले परिणाम हैं जिसे विशुद्धि लब्धि कहते हैं। इन शुभ परिणामों से सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों का बंध होता है। अप्रशस्त कर्म बंध सकता है। तत्त्वग्रहण-धारण एवं धर्मानुराग में बुद्धि पूर्वक उपयोग लगता है। शुभतर विशुद्ध परिणाम होते हैं। द्रव्यानुयोग सापेक्ष चरणानुयोग की मुख्यता से व्रत-विधान, शुभाचार में तत्परता होती है। पापों का त्याग अभिप्रेत है। विशुद्ध भाव की अपेक्षा काललब्धि। शुद्धिभाव उपमान। धारणालब्धि-अनुकंपा। विरति विशुद्धि लब्धि का गमक है। क्षयोपशमलब्धि और विशुद्धिलब्धि के मध्य कारण-कार्य सम्बन्ध एक सिक्के के दो पहलू हैं।

(3) **देशनालब्धि** :- आचार्य आदिक उपदेश कर्त्ताओं से जीवादिक तत्त्वों के श्रवण ग्रहण, धारण, निर्धारण आदि की जिज्ञासा और शक्ति को देशनालब्धि कहते हैं। इस प्रकार तत्त्वों आदि का उपदेश मिलना और उपदेशित पदार्थो का ज्ञान में धारण करना या होना देशनालब्धि है। इसके दो प्रकार हैं– 1. बाह्यदेशनालब्धि यथा-यथार्थ-तत्त्व उपदेशक आचार्य-शास्त्रों की प्राप्ति, वेदनानुभव, जाति स्मरण, धर्म श्रवण, जिनबिंब दर्शन एवं देव ऋद्धि दर्शन आदि। 2. अंतरदेशनालब्धि यथा उपदिष्ट अर्थ को ग्रहण, धारण विचारण की शक्ति। तत्त्व ग्रहण-धारण में बुद्धि पूर्वक उपयोग लगता है। दर्शन मोहनीय कर्म की मंदता से तत्त्वग्रहण की जिज्ञासा होती है। बुद्धिपूर्वक शुभतर विशुद्ध परिणाम होते हैं। चरणानुयोग सापेक्ष द्रव्यानुयोग की मुख्यता होती है। अष्टमूलगुणों का धारी या पॉच अणुव्रत या महाव्रतधारी धर्मश्रवण का पात्र

होता है। बहिरंग (निमित्त) की काललब्धि रूप देशना है। भावना लब्धि-आस्तिक्य। सात तत्त्वों की भावनारूप देशनालब्धि का दर्शक है।

(4) प्रायोग्य लब्धि :- तत्त्व विचार, तत्त्व निर्णय एवं ज्ञायक स्वभाव पर दृष्टि केन्द्रित होने के विशुद्ध परिणामों के निमित्त से आयु बिना शेष सात कर्मों की स्थिति घटकर अन्तः कोड़ा-कोड़ी हो जाती है। नवीन कर्मबंध की स्थिति उससे संख्यात हजार सागर की कम होती है। अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग घटता है। प्रशस्त कर्मों का अनुभाग बढ़ता है। 46 कर्म प्रकृतियों का बंध रुककर प्रकृति बंधापसरण होता है। जिज्ञासा पूर्वक तत्त्व-ग्रहण धारण में बुद्धिपूर्वक उपयोग लगता है। परिणाम बुद्धिपूर्वक शुभतर-विशुद्ध होते हैं। द्रव्यानुयोग सापेक्ष करणानुयोग की प्रधानता से आत्मपुरुषार्थ जाग्रत होकर उपदेश से वैराग्य भाव जागृत होता है। कर्म-स्थिति की अपेक्षा काललब्धि—कर्महानि। भावनालब्धि-संवेग अर्थात् कर्मभीरूता। कर्म अभाव हेतु पुरुषार्थ से प्रायोग्यलब्धि का द्योतक है। भव्य जीव के अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

(5) करणलब्धि :- करणलब्धि होने पर सम्यक्त्व नियम से होता है। करणः परिणामाः अर्थात् करण शब्द का अर्थ परिणाम है। जीव के शुभ-अशुभ और शुद्ध परिणामों को करण कहते हैं। जीव अनादिकाल से आत्म-स्वरूप विस्मृत कर कर्म और कर्मफल चेतना रूप अज्ञान चेतना से आकुलित है। अज्ञान चेतना से ज्ञान चेतना का रूपांतरण शुभाशुभ भावों के परे आत्मा के शुद्ध ज्ञायक भाव के आश्रय से ही होता है। देशनालब्धि पूर्वक तत्त्वनिर्णय और बुद्धिपूर्वक तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाने से समय-समय पर परिणाम निर्मल होते जाते हैं। उससे वीतरागता के प्रति बहुमान एवं आत्मा 'ऐसा ही है' ऐसी प्रतीति पूर्वक आत्म जागरण का भाव आता है उससे परिणाम विशुद्ध होते हैं, श्रद्धा और ज्ञान निर्मल होता है तथा करणलब्धि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। करणलब्धि उसी जीव को होती है जिसे चार लब्धियाँ हुई हों और अंतर्मुहूर्त पश्चात सम्यक्त्व होना हो। करण जिस प्रकार सम्यक्त्व के नियामक है, उसी प्रकार शुद्धोपयोग एवं सम्यक्चारित्र की प्राप्ति

भी करण से होती है। विशुद्ध परिणामों से शुद्धात्मा के प्रति उपयोग के सहज स्वभावोन्मुखी (अबुद्धिपूर्वक) भाव से करणलब्धि की प्राप्ति होती है।

करणलब्धि के तीन भेद हैं– अधःप्रवृत्त करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। यह तीनों उक्तनाम क्रमपूर्वक वृद्धिंगत विशुद्धि सहित होते हैं और कर्म निर्जरा के साधन भूत हैं। उनसे दर्शन मोह एवं चारित्र मोह की अंनतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ कर्म प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम, क्षय होकर सम्यक्त्व होता है। अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में दर्शन मोह के अभाव या अनुदाय से सम्यक्त्व होता है। विशुद्ध उपयोग में अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म करण भावों की प्रगटता सहज ही होती हैं। करणलब्धि द्रव्यानुयोग पूर्वक करणानुयोग के अनुसार त्रि-करण रूप होती है। इसके होने पर मिथ्यात्व सूर्य अस्त हो जाता है और ज्ञान स्वरूपी आत्मक्षितिज पर ज्ञान चेतना का सूर्य उदित होता है।

त्रिकालवर्ती सर्वकरणलब्धि वाले जीवों के परिणामों की अपेक्षा तीन करण के नाम हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

(अ) अधःप्रवृत्तकरण- अधःप्रवृत्तकरण माड़कर जिसे अधिक समय हुआ है, ऐसे ऊपर के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम और जिसे कम समय हुआ है, ऐसे निचले समयवर्ती जीवों के परिणामों की संख्या और विशुद्धि की समानता भी होती है। जहाँ पहले और पिछले समयों के परिणाम समान हों, सो अधःप्रवृत्तिकरण है। इस करण में नियम से चार बातें अवश्य होती हैं–

1. विशुद्धि समय-समय प्रति अनंतगुणा बढ़ती है।
2. एक-एक अंतर्मुहूर्त से नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है, सो स्थिति बंधापसरण है।
3. प्रशस्त प्रकृतियों में प्रति समय अनंतगुणा बढ़ता हुआ चतुःस्थानगत अनुभाग बंध होता है।
4. अप्रशस्त प्रकृतियों में प्रति समय अनंतगुणा घटता हुआ द्विस्थानगत अनुभागबंध होता है। अधःप्रवृत्तकरण में स्थिति कांडकघात, अनुभाग

कांडकघात, गुण श्रेणी एवं गुण संक्रमण नहीं होता इसमें अनुकृष्टि रचना होती है।

(ब) अपूर्वकरण:- अपूर्वकरण में जीवों के परिणाम समय-समय अपूर्व-अपूर्व विशुद्ध होते हैं। नीचे के और ऊपर के समयवर्ती परिणाम कभी भी समान नहीं हो सकते। अतः अनुकृष्टि रचना का अभाव है। अधःप्रवृत्तकरण में होने वाले उक्त चार आवश्यक इसमें भी होते हैं। साथ ही निम्न चार आवश्यक और होते हैं—

1. गुणश्रेणी निर्जरा, 2. गुण संक्रमण, 3. स्थिति कांडकघात, 4. अनुभाग कांडकघात।

अपूर्वकरण का एक अंतर्मुहूर्त काल समाप्त होने पर अनिवृति करण प्रारम्भ होता है।

(स) अनिवृत्तिकरण :- निवृत्ति = परिणामों में असमानता, अनिवृत्ति = त्रिकालवर्ती नाना जीवों के परिणामों में समानता।

इसमें जीव के प्रत्येक समय के परिणाम अनंतगुणा विशुद्ध होते जाते हैं, फिर भी सभी अनंत जीवों के एक-एक समय के परिणाम समान पाये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण में आयु बिना शेष सात कर्मो में गुण श्रेणी निर्जरा, स्थिति कांडकघात और अनुभाग कांडकघात होता है। अनिवृत्तिकरण में ज्ञानोपयोग शुद्ध आत्मा में एकाग्र रहता है, फिर भी अभी परिणाम में मिथ्यात्व है, अभी मिथ्यात्व के निषेक उदय में आते रहते हैं। इसी प्रकार अनिवृत्तिकरण काल को संख्यात से भाग देकर बहुभाग बीत जाने पर दर्शन मोहनीय कर्म का 'अंतर-करण' होता है। अंतर करण के पश्चात मिथ्यात्व प्रकृति के परमाणु उदय आने के अयोग्य किये जाते हैं, उसे 'उपशमन करण' कहते हैं।

प्रबल शुद्धात्म भावना एवं तीव्र जिज्ञासा से उपयोग की शुद्धता प्रकट होती है और उपयोग में अबुद्धिपूर्वक करण भाव प्रकटते हैं। यहाँ दर्शनमोहनीय कर्म में अंतरकरण और उपशमकरण द्वारा उपशम होता है और अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ में अप्रशस्त उपशम होता है। अनंतानुबंधी प्रकृति का उदय अप्रत्याख्यानादि अन्य प्रकृति रूप से होता है। उसमें अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण शक्य है किन्तु उदायवली में प्रविष्ट होना शक्य नहीं है। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण के अनंतर समय में 'अंतर' का काल प्रारंभ होते ही जीव को

प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। यहाँ मिथ्यात्व का अनुभाग अनंत गुणा हीन होकर एक मिथ्यात्व प्रकृति के तीन टुकड़े हो जाते हैं–मिथ्यात्व, सम्यगमिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर कोई जीव पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से चौथे असंयत गुणस्थान में, कोई पाँचवे देशसंयत गुणस्थान में तो कोई जीव सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में जाते हैं। इसका कालअंतर्मुहूर्त काल में से अधिक से अधिक छह आंवली और कम-से-कम एक समय शेष रहने पर अनंतानुबन्धी क्रोधादि कषाय की कोई एक के उदय होने से जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर दूसरे सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है वहाँ से गिरकर वह मिथ्यात्व में आ जाता है। उपशम सम्यक्त्व का काल पूरा होने पर दर्शन मोहनीय की उक्त तीन प्रकृतियों में से किसी एक का उदय अवश्य होता है।

आत्मानुभूति पूर्वक आत्मप्रतीति-सम्यक्त्व की प्राप्ति की महिमा से सम्यक्त्व होते ही 41 निकृष्ट कर्म प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति चौथे गुणस्थान में हो जाती है। पहले में 16 और दूसरे में 25 कुल 41 कर्म प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति होती है। सम्यक्त्व होते ही मोक्ष मार्ग खुल जाता है और जीव सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान के बल से ज्ञान-वैराग्यपूर्वक के द्वारा शुद्धात्मा एवं शुद्धोपयोग से कर्मक्षय कर सिद्धत्व प्राप्त करता है। यह सब शुद्धात्म लक्षित श्रुताभ्यास तत्त्व विचार-निर्णय, भेद-विज्ञान, स्व-पर की पहिचान, हिताहित के निर्णय पूर्वक शुद्धात्मा के अनुभव से ही होता है।

–बी-369 ओ पी. एम. कॉलोनी,
अमलाई, म. प्र.

प्राचीन संस्कृत साहित्य में राजा की समस्याएँ

– डॉ. मुकेश बंसल

प्राचीन संस्कृत साहित्य में राजाओं के व्यक्तिगत जीवन एवं शासन-कार्य में आनेवाली समस्याओं की विशद जानकारी प्राप्त होती है। राजा के पास यद्यपि ऐश्वर्य और सुख के समस्त साधन उपलब्ध रहते थे किन्तु अनेक अवसरों पर निजी जीवन की समस्याओं एवं दुःखों से राजा भी अछूता नहीं रहता था। राजा पर समस्याओं की दोहरी मार पड़ती थी, एक स्वयं के जीवन की और दूसरी शासन प्रशासन की। कालिदास का मानना है कि राजा के लिए राजपद का निर्वाह करना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य था।[1क] अभिज्ञानशाकुन्तल में उदाहरण आया है कि राजपद हाथ में छाता धारण करनेवाले व्यक्ति के समान है, जिसे आराम के साथ थकान का अनुभव भी होता रहता है। राज्य संभालनेवाले व्यक्ति को अनेक विषम परिस्थितियों से गुजारने के बाद राजपद उसकी समस्त उत्सुकताओं को समाप्त कर देता है।[1ख] राजा को शासन-व्यवस्था सुचारू रूप से चलाने एवं राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के निमित्त अनेक समस्याओं से जूझना पड़ता था। उसके समक्ष आन्तरिक एवं बाह्य समस्याएँ किसी न किसी रूप में उपस्थिति होती रहती थीं। उसे सामान्य व्यक्ति की भाँति कभी निश्चिंत होकर बैठने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता था। उसके समक्ष कभी राज्य की सुरक्षा का भय तो कभी बाह्य आक्रमण का भय अथवा आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने की अनेक चिन्ताएँ सताये रहती थीं।

सुरक्षा-संबंधी समस्याएँ :- प्राचीन भारत में शासकों को शासन-संचालन के अतिरिक्त अपने लिए बाह्य शत्रुओं द्वारा गुप्तरूप से शारीरिक आघात पहुँचाने, विष का प्रयोग करके जान से मारने, राज्य में आन्तरिक अव्यवस्था फैलाने, सैनिकों में फूट डालने आदि का निरन्तर खतरा बना रहता था। वत्सराज

उदयन को पकड़ने के लिए राजा प्रद्योत द्वारा रचे गए कृत्रिम हाथी के षड्यन्त्र का उल्लेख प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक से मिलता है।[2] मुद्राराक्षस से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त के शयनकक्ष में प्रहार करने के उद्देश्य से छिपे बैठे बीभत्सक को चाणक्य के द्वारा पहचान लिये जाने के बाद वहीं समाप्त कर दिया गया था। चन्द्रगुप्त के लिए नियुक्त वैद्य अभयदत्त द्वारा बनयाी गयी विषयुक्त औषधि को भी चाणक्य द्वारा सन्देह होने पर उसी वैद्य को पिलाकर उसकी इहलीला समाप्त कर दी गयी थी।[3] अनेक अवसरों पर राजाओं तथा राजपरिवारों के सदस्यों की हत्या करने के लिए विषकन्याओं का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय राजाओं के जीवन को विभिन्न षड्यन्त्रों से बचाने के लिए विविध प्रयत्न करते पड़ते थे, जिस कारण राजाओं को अपनी जीवन रक्षा के प्रति सचेत रहें हुए विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता था।

राजाओं को राज्य में विप्लव अथवा आन्तरिक अशान्ति की चिन्ता सदा बनी रहती थी। क्योंकि विभिन्न अवसरों पर षड्यन्त्रकारी, विद्रोही अथवा राजा से किसी कारण बदला लेने को उद्यत व्यक्ति एक साथ एकत्र होकर राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र रचते थे, इस प्रकार के सम्भावित खतरों से राज्य की रक्षा करने एवं सत्ता की सुदृढ़ता बनाये रखने की समस्या राजा के सम्मुख सदैव उपस्थित रहती थी।[4] राजाओं के सम्मुख अपनी सेनाओं को संगठित रखने एवं उसको षड्यन्त्रकारियों की कुदृष्टि से बचाए रखने की स्वाभाविक समस्याएँ बनी रहती थी, क्योंकि राज्य की सुरक्षा सैन्य-बल पर ही आधारित थी। प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक में कहा गया है कि किसी राजा के लिए सेना में फूट पड़ना चिन्ता का विषय होता है, क्योंकि अविश्वासी सेना कलत्र के समान अनुपयोगी है।[5]

सैन्य-बल के आधार पर ही राजा शत्रु पक्ष से अपनी तथा अपने राज्य की रक्षा करता था। अतः सैन्य-संगठन को समय-समय बदलना उसको अनुशासित रखना भी राजा की एक बड़ी समस्या थी। मृच्छकटिक में कहा गया है कि छोटा किन्तु अनुशासित सेना से युक्त सबल शासक भी विशाल राज्य के निर्बल शासक को सुगमता से अपने अधीन कर लेता है।[5] राजा के प्रति

समर्पण के अभाव में अनुरागहीन सेना से क्षुब्ध होकर ही महासेन प्रद्योत द्वारा उदयन को पकड़ने के लिए कपट का आश्रय लेना पड़ा था।[7] कभी-कभी अपने पदाधिकारियों अथवा निकट सम्बन्धियों द्वारा राजा के प्रति निष्ठा के अभाव एवं उनके विरोधी व्यवहार के फलस्वरूप राजा को बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए भयंकर दुविधा अनुभव करनी पड़ती थी। शासन का समस्त भार इन्हीं पदाधिकारियों के कंधों पर होता था परन्तु अधिकारियों अथवा राजपरिवार के सदस्यों का आपसी गतिरोध राजा के लिए चिन्ता का विषय बन जाता था। अभिषेक नाटक में उल्लेख आया है कि अहंकारी राजा रावण के लिए उसका भाई विभीषण बड़ी चिन्ता का विषय बन गया था क्योंकि वह शत्रु पक्ष अर्थात् राम की शरण में पहुँच गया था।[8]

शत्रु राजा की कुपित दृष्टि एवं उनके द्वारा विरोधी राज्य पर आधिपत्य करने की महत्त्वाकांक्षाओं के अधीन राज्य पर होनेवाले अप्रत्याशित आक्रमणों से राजा सदैव आशंकित रहते थे। दूसरी ओर प्रत्येक राजा अपने दायित्व एवं क्षात्र-धर्म पालन के कारण अपनी पूर्ण सामर्थ्य के साथ इस प्रकार के आक्रमणों का प्रत्युत्तर देने की चिन्ता में व्यग्र रहते थे, जिस कारण राजा को सदैव अपनी सेना को युद्ध के लिए तैयार रखना पड़ता था। अग्निमित्र की सेनाओं द्वारा यज्ञसेन को परास्त कर उसका मुँहतोड़ जवाब देना स्वयं यज्ञसेन के लिए एक समस्या बन गयी थी।[9]

पारिवारिक एवम् आन्तरिक समस्याएँ :- सभी ओर से ऐश्वर्य, सुख-सुविधाएँ एवं धन-धान्य से सम्पन्न राजाओं के सामने अपने स्वयं के जीवन में ऐसी विकट समस्याएँ उत्पन्न हो जाती थीं, जिनका कोई भी निराकरण सम्भव नहीं था, फलतः ऊपर से सुखी दिखाई देनेवाला राजा अपने हृदय से बड़ा व्याकुल और चिन्ताग्रस्त रहता था। अनेक राजाओं के लिए उनका निःसंतान होना चिन्ता का प्रमुख विषय था। वैदिक धर्म के अनुसार पुरुषार्थ की प्राप्ति तथा पितृ-ऋण से उऋण होना पुत्र प्राप्ति के बिना सम्भव नहीं था। रघुवंश में उल्लेख मिलता है कि सन्तान के बिना राजा दिलीप असहाय थे।[10] राजा दशरथ का प्रारम्भिक दस वर्षो तक निःसंतान होने के कारण शोकग्रस्त रहना

तथा पितृ-ऋण के बारे में सोचना उनके लिए कुछ कम कष्टकारी नहीं था।[11] राजा दुष्यन्त का निःसंतान होने के कारण अपने पितरों का विचार कर सोचते-सोचते बेहोश हो जाना उनकी मनोव्यथा को परिलक्षित करता है।[12] पारिवारिक समस्याओं से घिरे राजा और सामान्य गृहस्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं होता क्योंकि अपने परिवार के मध्य राजा पिता, पति, पुत्र, भाई आदि सभी स्थिति में रहता है और समय-समय पर किसी न किसी पारिवारिक दायित्व के निर्वाह एवं समस्याओं में घिर जाता है। वासवदत्ता की मृत्यु का समाचार मिलने पर उदयन का धूलि-धूसरित होकर विलाप करना इसकी ओर इंगित करता है।[13]

दृश्यकाव्य दूतवाक्य में जिस प्रकार धृतराष्ट्र को कौरवों और पाण्डवों के बीच घिरा हुआ बताया गया है, निःसन्देह वह उसके लिए पारिवारिक चिन्ता का विषय था।[14] अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह-सम्बन्ध को लेकर भी राजा का चिन्तित और शोक-मग्न रहना एक सर्वमान्य समस्या का द्योतक था। वासवदत्ता के अपहरण की सूचना पाकर छत से कूदकर प्राण देने को तत्पर रानी अंगारवती को देखकर राजा प्रद्योत का उदयन और वासवदत्ता का संबंध स्वीकार करके उनके विवाह की अनुमति देना निश्चित रूप से हारे हुए एक पिता राजा की समस्या थी। पुत्री के विवाह एवं उसके लिए सुयोग्य वर की तलाश राजा प्रद्योत के लिए एक गहन चिन्ता का विषय बन गयी थी। अपनी पुत्री के लिए समस्त गुणों से युक्त वर की तलाश में राजा चिन्तामग्न था और वह यह निश्चित नहीं कर पा रहा था कि अपनी कन्या का विवाह-संबंध किस राजकुमार के साथ करे। अधिक आयु की पुत्री का विवाह सुयोग्य वर के न मिलने के कारण राजा की बड़ी समस्या बनी रहती थी।[15] कामप्रिय उदयन के समक्ष उसकी पत्नी ही एक बड़ी समस्या बनकर उभरती है। रानी द्वारा स्वयं राजा को रंगे हाथों पकड़ना तथा सागरिका और विदूषक को क्रोधपूर्वक बंधवाकर अपने साथ ले जाना राजा के लिए एक ऐसी समस्या थी कि वह सर्वशक्तिशाली होते हुए भी कुछ नहीं कर सका।[16] राजपुत्रों की समुचित शिक्षा की व्यवस्था एवं राजाओं के अनुरूप विभिन्न कलाओं में उन्हें दक्षता प्रदान कराने की विकट समस्या भी राजाओं के सम्मुख बनी रहती थी।

क्षत्रियधर्म पालन के लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्र शिक्षा एवं वयस्क पुत्रों की भिन्न रुचि के कारण राजा चिन्ताग्रस्त रहते थे।[17] सत्ता प्राप्ति के लिए राजकुमारों में आपसी कलह, हत्या एवं षड्यन्त्रों के कारण राजा भी सामान्य परिवार में होने वाले धन, सम्पति आदि के बँटवारे के विषय में चिन्तित रहते थे। कौरव-पाण्डवों की कलह के मध्य घिरे धृतराष्ट्र का जीवन इसी प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त था। धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों का विनाश उसके मानसिक उद्वेग का परिचायक था।[18]

सन्दर्भ-संकेत

1क. सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखीसम्पद्यतेजन्तुः। राज्ञां तु चरितार्थता दुःखान्तरैव। अभिज्ञान. अंक-5, 1ख. मातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय। राज्यं स्वहस्तगतदण्डमिनातपत्रम्।। अभिज्ञान., 5/6, 2. सः कृतकहस्ती। प्रतिज्ञा. अंक-1, 3. मुद्राराक्षस, अंक-2, 4. मृच्छकटिक, 4/26, 5 प्रतिज्ञा. 1/4, 6. मृच्छकटिक, 5/16, 7. प्रतिज्ञा., 1/4, 8. रावण-हन्त! निर्गतो विभीषणः। अभिषेक, अंक-3, 9. राजा-प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे विदर्भः। मालविका., अंक-1, 10. रघुवंश, 1/71-72, 11. रघुवंश, 10/2, 12. अभिज्ञान., 6/25, 13. हा वासव दत्ते। हा अवन्तिराजपुत्रि। स्वप्नवासवदत्त, अंक-1, 14. दूतवाक्य, 1/55, 15. प्रतिज्ञा. 2/6, 1/4, 16. एतेनैव लतापाशेन बद्ध्वा गृहाणैनं ब्राह्मणम्। रत्नावली, अंक-4, 17. प्रतिज्ञा., 2/13, 18. दूत घटोत्कच, 1/10

—शिक्षक आवास
एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर

चिन्तनीया हि विपदामादावेव प्रतिक्रिया।
न कूपखननं युक्तं प्रदीप्तते वन्हिना गृहे।।

अर्थात् – विपदाओं के आने से पहले ही उनका प्रतिकार सोच रखना चाहिये। घर में आग लगने पर उसे बुझाने के लिए कूप खोदना उचित नहीं है। क्योंकि कूप तो खुदेगा नहीं और घर जलकर राख हो जावेगा।

बीसवीं शती के संस्कृत साहित्य में आचार्य विद्यासागर जी का योगदान

—डॉ. जय कुमार जैन

अनादिकाल से जगत् में दो विचारधारायें पल्लवित रही हैं—श्रेयोमार्ग और प्रेयोमार्ग। कठोपनिषद् में कहा गया है कि विवेकी व्यक्ति प्रेय की अपेक्षा श्रेय को वरेण्य मानता है जबकि अल्पज्ञ व्यक्ति योगक्षेम के कारण प्रेय का चयन करता है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।[1]

भारतीय चिन्तन मूलतः आध्यात्मिक रहा है। फलतः भारतीय प्रज्ञा ने काव्य को मात्र आनन्द का साधन न मानकर परम पुरुषार्थ मुक्ति का भी साधन स्वीकार किया है। भारतीय दृष्टि पाश्चात्य विचारकों के समान काव्य का प्रयोजन लौकिक आनन्द/प्रेय ही नहीं अपितु पारमार्थिक आनन्द/श्रेय भी मानता है। जैन धर्म निवृत्तिप्रधान धर्म है। इसमें जो कुछ प्रवृत्तिपरक दृष्टिगोचर होता है, वह भी निवृत्ति का ही सहायक है। अशुभ से प्रयत्नपूर्वक निवृत्ति तथा शुभ से भी स्वतः निवृत्ति ही जैन धर्म का लक्ष्य है। पूर्ण निवृत्ति या मुक्ति परम सुख स्वरूप है, अतः जैन धर्म प्राणी मात्र को मुक्ति प्राप्ति का उपदेश देता है।

संस्कृत भाषा जिस भारतीय संस्कृति की संवाहक रही है, भारत की वह संस्कृति अनेक सम्प्रदायों की देन से समृद्ध हुई है। संस्कृत साहित्य का विशाल भण्डार भारत के तीन प्रमुख सम्प्रदायों-वैदिक, जैन और बौद्ध मनीषियों की सेवा से समृद्ध रहा है। अतः भारतीय संस्कृति के सर्वांगीण ज्ञान के लिए इन तीनों धाराओं के साहित्य का समीचीन मूल्यांकन आवश्यक है। एक विशिष्ट

भारतीय सम्प्रदाय के रूप में जैनों ने संस्कृत की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। जैन वाङ्मय में साधुवर्ग का विशेष अवदान रहा है और उनके प्रति समाज की अगाध श्रद्धा होती है, अतः उस वाङ्मय का प्रभाव भी असाधारण पड़ता है। प्रस्तुत आलेख में दिगम्बर जैन परम्परा के एक सारस्वत संत महाकवि आचार्य विद्यासागर जी महाराज की संस्कृत साहित्य सपर्या को बीसवीं शती के संस्कृत साहित्य में अग्रिम पंक्ति में रेखांकित करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

ईसा की बीसवीं शती को संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान काल कहा जा सकता है। इस शताब्दी में भारत की स्वतंत्रता के पहले और बाद में प्रचुर साहित्य की संरचना हुई है। प्राचीन काल के समान संस्कृत कवियों को राज्याश्रय या राज्यसम्मान न मिलने पर भी उनकी वाग्देवी की आराधना में संलग्नता कम आश्चर्यजनक नहीं है। बीसवीं शताब्दी में विरचित संस्कृत वाङ्मय का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

महाकाव्य

श्री छज्जूराम शास्त्री विद्यालंकार	सुल्तानचरितम्, परशुरामचरितम्
श्री स्वामी भगवदाचार्य	भारतपारिजातम्, रामानन्ददिग्विजयम्
श्री कविरत्न अखिलानन्द शर्मा	सनातनधर्मदिग्विजयम्, दयानन्ददिग्विजयम्
श्री मेधाव्रत	दयानन्ददिग्विजयम्
श्री काशीनाथ शर्मा द्विवेदी	रूक्मिणीहरणम्
पण्डिता क्षमाराव	तुकारामचरितम्, रामदासचरितम्, स्वराज्यविजयम्
श्री दिलीपदत्त शर्मा	मुनिचरितामृतम्
श्री द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री	स्वराज्यविजयम्
श्री शिवगोविन्द त्रिपाठी	गांधिगौरवम्
श्री त्र्यम्बक शर्मा भण्डारकर	विवेकानन्दचरितम्.
श्री ब्रह्मानन्द शुक्ल	नेहरुचरितम्
श्री बलभद्रप्रसाद शास्त्री	नेहरुयशःसौरभम्
श्री महाकवि ज्ञानसागर	जयोदयः, वीरोदयः, सुदर्शनोदयः
श्री उमापति द्विवेदी	पारिजातहरणम्
श्री हरिदास सिद्धान्तवागीश	रुक्मिणीहरणम्
श्री नित्यानन्द शास्त्री	पुण्यश्रीचरितम्, क्षमाकल्याणचरितम्
श्री कालिपद दत्तकाचार्य	सत्यानुभवम्
श्री बदरीनाथ झा	रूक्मिणीपरिणयम्

श्री पुल्य उमा मरेश्वर शास्त्री	कंससंहारम्, दुर्गानुग्रहम्, वीरकृष्णविजयम्, सत्यविजयम्
श्री धासीलाल महाराज	श्री शान्तिसिन्धुमहाकाव्यम्, लोकाशाहचरितम्
श्री पं. मूलचन्द शास्त्री	लोकाशाहचरितम्
श्री पं. विद्याधर शास्त्री	हरिनामामृतम्
श्री वनमालिदास शास्त्री	हरिप्रेष्ठम्
श्री रेवाप्रसाद द्विवदी	सीताचरितम्
श्री लक्ष्मीनारायण द्विवेदी	पुरुसिकन्दरीयम्
श्री श्रीधर भास्कर वर्णेकर	शिवराजोदयम्
श्री पशुपतिनाथ झा	नेपालसाम्राज्योदयम्
श्री स्वामी लक्ष्मण शास्त्री	विष्णुचरितामृतभ्
श्री राधाकृष्ण शास्त्री	दशावतारचरितम्
श्री परमानन्द शास्त्री	जनविजयम्, चीरहरणम्
श्री वेडवडेकर	कुरुक्षेत्रम्
श्री बालचन्द जैन	स्वर्णाचल महाकाव्यम
श्री अन्नदाचरण	रामाभ्युदयमहाप्रेस्थानम्
श्री रामावतार शर्मा	दयानन्ददिग्विजयम्
श्री रमाकान्त शास्त्री	दयानन्दचरितम्
श्री वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी	द्वारकाधीशमहाकाव्यम्
श्री अमीरचन्द्र शास्त्री	नेहरुचरितम्
श्री हेमचन्द्र राय	हैहयविजयम्
श्री रमेशचन्द्र शुक्ल	श्रीकृष्णचरितम्, सुगमरामायणम्
श्री रघुनन्दन शर्मा	तुलसीमहाकाव्यम्
डॉ. सत्यव्रत शास्त्री	इन्दिरागांधिचरितम्, बोधिसत्त्वचरितम्
श्री साधुशरण मिश्र	गांधिचरितम्
श्री प्रभुदत्तस्वामी	पूर्वभारतम्, मौर्यचन्द्रोदयम्
श्री स्वयंप्रकाश शर्मा	अमृतमन्थनम्, भक्तसिंहचरितम्
श्री विष्णुदत्त शास्त्री	नानकदेवचरितम्
श्री उमाशंकर शर्मा	छत्रपतिचरितम्
डॉ. राजेन्द्र मिश्र	जानकीजीवनम्
मुनि नथमल	भिक्षुचरितमहाकाव्यम्
श्री बटुकनाथ शर्मा	सीतास्वयंवरम्
श्री शिवकुमार शास्त्री	यतीन्द्रजीवनचरितम्
श्री उमापति शर्मा	पारिजातहरणम्
श्री रामसनेहीदास	जानकीचरितामृतम्
श्री विजय राघवाचार्य	गांधिमाहात्म्यम्, तिलकवैदग्ध्यम्, नेहरुविजयम्

श्री रामकिशोर मिश्र	विद्योत्तमाकालिदासीयम्

खण्डकाव्य/मुक्तककाव्य

पण्डिता क्षमाराव •	सत्याग्रहगीता, कथांपचकम्, शंकरजीवनाख्यानम्, मीरालहरी, ग्रामज्योतिः, ज्ञानेश्वरचरितम्
पं. ब्रह्मानन्द शुक्ल	गान्धिचरितम्
आचार्य ज्ञानसागर	भ्रदोदयम्, मुनिमनोरंजनाशीतिः, सम्यक्त्वसारशतकम्
पं. लक्ष्मी नारायण द्विवेदी	ऋतुविलासम्, आननविश्वदर्शनम्
डॉ. परमानन्द शास्त्री	गन्धदूतम्
पं. के. भुजबली शास्त्री	भुजबलीचरितम्, शान्तिश्रृगांरविलासः
आचार्य कुन्थुसागर	शान्तिसुधासिन्धुः, श्रावकधर्मप्रदीपः, सुवर्णसूत्रम्
मुनि नथमल	अश्रुवीणा, रत्नपालचरितम्, माथेरानसुषमा, भिक्षुचरितम्
श्री मोहनलाल 'शाईल'	कर्करकाव्यम्
पं. गोविन्दराम शास्त्री	बुन्देलखण्डगौरवकाव्यम्
पं. मूलचन्द शास्त्री	वचनदूतम्
आर्यिका ज्ञानमती	कल्याणकल्पद्रुम (1-30 वर्ण तक के छन्द) आदि अनेक स्तोत्र।
श्री छत्रमुनि	शतककाव्य-7 (महावीर, भिक्षु, जयाचार्य, कालू, तुलसी, तेरापन्थ, कृष्ण) द्वात्रिंशिका-10 (देवगुरु, श्री भिक्षु, तमःकुटी, राजपत्र, अस्तिक्य नास्तिक्य विवेचन, मणिशेखर, कामकुंभ, सूक्ति, समस्यामूर्ति)
आचार्य विद्यासागर	श्रमणशतकम्, भावनाशतकम्, निरञ्जनशतकम्, परीषहजयशतकम् सुनीतिशतकम्
मुनि नागराज	भिक्षुशतकम्
मुनि दुलीचन्द्र	तुलसीचरितम्
श्री विश्वेश्वर पाण्डेय	आर्या सप्तशती, रोमावलीशतकम्
श्री हृषीकेश भट्टाचार्य	नादिकसंगीतम्, वियोगिविलापः, अनेक अष्टक और दशक
डॉ. उमाकान्त शुक्ल	मंगल्या, चांगेरिका
पं. विष्णुकान्त शुक्ल	स्फाटिकीमाला
डॉ. रमाकान्त शुक्ल	भाति मे भारतम्
श्री नारायणशास्त्री खिस्ते	दक्षाध्वरध्वंसम्
श्री रामकिशोर मिश्र	काव्यकिरणावलिः, बालचरितम् गरुडध्वजसपादशतकम्,
श्री प्रो. पी. सी. देवासिया	क्रिस्तुभागवतम्
श्री चन्दनमुनि	प्रभवप्रबोधकाव्यम्, आर्जुनमालाकारम्, संवरसुधा, पंचतीर्थी

मुनि डूंगरमल	पाण्डवविजयः
साध्वी संघमित्रा	गीतिगुच्छः संस्कृतगीतमाला
श्री धनराज द्वितीय	भावभास्करकाव्यम्
श्री बुद्धमल्ल	रोहिणेयः
प. पन्नालाल साहित्याचार्य	सम्यक्त्वचिन्तामणिः, सम्यग्दानचन्द्रिका, सम्यक्चारित्रचिन्तामणिः।

गद्य काव्य

पण्डिता क्षमाराव	विचित्रपरिषद्यात्रा, कथामुक्तावली
हृषीकेश भट्टाचार्य	उद्भिज्जपरिषद्, महारण्यपर्यवेक्षण आदि।। निबंध (प्रबन्धमंजरी)
अम्बिकादत्त व्यास	शिवराज्यविजयम्, कथाकुसुमम्
नारायण शास्त्री खिस्ते	द्ररिद्राणां हृदयम्, दिव्यदृष्टिः
रामकिशोर मिश्र	अन्तर्दाहः, किशोरकथावलिः (कहानीसंग्रह)
डॉ. कृष्णकुमार	कुसुमलक्ष्मीः
डॉ. रमेशचन्द्र शुक्ल	चारुचरितचर्चा
श्री रामनाथ पाठक 'प्रणयी'	वर्णिचरितम्
विद्यावाचस्पति अप्पा शास्त्री	इन्दिरा, देवी कुमुदवती
बिहारीलाल शर्मा	मंगलायतनम्
डॉ. उमाकान्त शुक्ल	परीष्टिदर्शनम् (व्यंग्यरचना)
डॉ. रामशरण त्रिपाठी	कौमुदीकथाकल्लोलिनी
चक्रवर्ती राजगोपाल	शैवालिनी, कुमुदिनी, विलाससुन्दरी,
श्री वामन कृष्ण चित्तले	लोकमान्यतिलकचरितम्

चम्पूकाव्य

आचार्य ज्ञानसागर	दयोदयचम्पू
पं. मूलचन्द्र शास्त्री	वर्धमानचम्पू
श्री नारायण शास्त्री खिस्ते	विद्वच्चरितपचकम्
श्री परमानन्द वैद्यरत्न पाण्डेय	महावीरतीर्थकरचम्पू

नाट्य

श्री अम्किादत्तव्यास	सामवतम्, धर्माधर्मकलकलम्, मित्रालापः
श्री रामकिशोर मिश्र	पत्नीत्यागपत्रम्, ध्रुवम्, अंगुष्ठदानम्, त्यागपत्रनिरासम्
श्री हरिदास सिद्धान्तवागीश	मिवारप्रतापम्, शिवाजीचरितम्, बंगीयप्रतापम्
श्री पंचानन तर्करत्न	अमरमंगलम्, कलंकमोचनम्
श्री मूलशंकर मा. याज्ञिक	प्रतापविजयम्, संयोगितास्वयंवरम्, छत्रपतिसाम्राज्यम्
म. म. मथुराप्रसाद दीक्षित	वीरप्रतापम्, वीरपृथ्वीराजम्,

श्री एस. के. राजचन्द्र राव	पौरवदिग्विजयम् (एकांकी)
श्री यतीन्द्र विमल चौधरी	निष्किंचनयशोधरम्, शक्तिशारदम्, भारतविवेकम्, महाप्रभुहरिदासम्, भारतलक्ष्मीः
श्री मि. वेलणकर	हुतात्मदधीचि, रानी दुर्गावती (दोनों रेडिओ रूपक)

उपर्युक्त तालिका से सुस्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी में संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में विपुल काव्य प्रणयन हुआ है। जहाँ आनन्दवर्धनाचार्य अपने समय तक 'द्वित्राः पंचषा एव वा महाकाव्यः'[2] कहकर दो-तीन या पाँच-छः महाकवियों की बात करते हैं, वहाँ बीसवीं शताब्दी में महाकवियों की संख्या पचास के लगभग होना कम आश्चर्यजनक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ पहले महाकवि राज्याश्रित रहकर उनकी प्रशंसा तो करते थे पर समीक्षकों का सामना करना उनके लिए सरल नहीं था। अतः उच्चकोटि के काव्य ही समीक्षा की अग्निपरीक्षा में सफल हो पाते थे। परन्तु आज समीक्षक कदाचित् अपने दायित्व से पीछे होकर मात्र प्रशंसा को ही अपना कर्तव्य समझने लगे हैं। काव्यो के स्थायित्व एवं उनकी उपदेशपरक चेतना के लिए यह स्वस्थ परम्परा नहीं लगती है। बीसवीं शताब्दी के वाङ्मय के इस सम्मर्द में आचार्य विद्यासागर जी महाराज के शतक काव्यों के अभिज्ञान में उनकी समीक्षा का मेरा यह सावधान प्रयास है।

आचार्य विद्यासागरकृत संस्कृतसाहित्य

परमपूज्य दिगम्बराचार्य विद्यासागर जी महाराज भारतवर्ष में सन्तशिरोमणि के रूप में विख्यात एक ऐसे साधु हैं जिनकी कलम प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी भाषाओं में अपने कृतित्व द्वारा साहित्यसपर्या में सतत गतिमान् है ही, जिनके मुखमण्डल की आभा तथा प्रवचन शैली बलात् दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ है। उनमें समन्तभद्र की भद्रता है तो कुन्दकुन्द का कुन्दन भी। उन्हें इष्टोपदेश प्रिय है तो गुणोदय में उनकी रुचि है। रयणमज्जूषा एवं द्रव्यसंग्रह की ओर दृष्टि रखते हुए भी वे निजामृतपान में लीन रहते हैं। आचार्यश्री की मातृभाषा कन्नड़ है, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अंग्रेजी, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं के लेखन में आप सिद्धहस्त हैं तो तत्-तत् स्थानीय बोलियों को एक सप्ताह के प्रवास में ही बोलने की अद्भुत सामर्थ्य आप में

विद्यमान है। पूज्य आचार्यश्री ने शारदास्तुति के अतिरिक्त संस्कृत में श्रमणशतक, निरञ्जनशतक, भावनाशतक, परिषहजयशतक एवं सुनीतिशतक नामक पाँच शतक काव्यों की रचना की है। इनमें क्रमशः 107, 106, 101, 100+1 (निरंजनशतकम् से यथावत्) तथा 108 पद्य हैं। श्रमणशतक में आचार्यश्री द्वारा दिगम्बर मुनियों को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि उन्हें अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहिए। निरञ्जनशतक में शुद्ध आत्मतत्व का विवेचन है तो भावनाशतक में जगत् की असारता का वर्णन करते हुए तीर्थकर प्रकृति बांधने वालीं सोलहकारण भावनाओं का वर्णन है। जैनश्रमण 22 परिषहों का विजेता होता है। परिषहजयशतक में इन्हीं 22 परिषहों को सहन करने की पद्धति का विवेचन हुआ है। आचार्य श्री ने सुनीतिशतक द्वारा भव्यों को मोक्षमार्ग में लगाने का पावन प्रयास किया है।

शतक साहित्य का साहित्यिक मूल्यांकन

(क) रस

शब्द और अर्थ काव्य की काया है तो रस काव्य की आत्मा। लोक में रति आदि स्थायिभावों के जो कारण, कार्य और सहकारिकारण होते हैं वे यदि काव्य या नाट्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कहे जाते हैं और विभावादि से अभिव्यक्त स्थायिभाव ही रस कहलाता है।[3] रसाभिव्यक्ति की इस प्रक्रिया को आ. अजितसेन ने बड़े ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है–

नवनीतं यथाज्यत्वं प्राप्नोति परिपाकतः।
स्थायिभावो विभावाद्यैः प्राप्नोति रसतां तथा।।[4]

अर्थात् जिस प्रकार परिपाक हो जाने से नवनीत ही घृत रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार स्थायिभाव विभावादि के द्वारा रस स्वरूपता को प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः काव्य के पढ़ने या सुनने से जो आनन्द की प्राप्ति होती है वह रस ही है। इन रसों की संख्या सामान्यतः नौ मानी गई है–शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। शृंगार आदि आठ रस तो निर्विवाद मान्य रहे हैं, परन्तु शान्त रस के सम्बन्ध में

आलंकारिकों में मतभेद रहा है। भरतमुनि शान्त रस को मानते थे या नहीं यह विवादास्पद है। अष्टम शताब्दी में उद्भट ने शान्तरस को स्पष्टतया स्वीकार कर नौ रसों की मान्यता को स्वीकार किया है।[5] जैनाचार्य आर्यरक्षित (प्रथम शताब्दी) ने अनुयोगद्वारसूत्र में प्रशान्त रस का विवेचन किया है।[6] अतः स्पष्ट है कि उद्भट के पूर्व भी शान्त रस की मान्यता थी। शान्तरस का स्थायिभाव शम या नित्य निर्वेद है। कविवर बनारसीदास (17वीं शताब्दी) ने शान्त रस का लौकिक स्थायिभाव माया में अरुचि तथा पारमार्थिक स्थायिभाव ध्रुव वैराग्य माना है।[7] लौकिक दृष्टि से भले ही श्रृंगार को रसराज की संज्ञा प्राप्त हो, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो शान्त ही रसराज कहा जा सकता है। आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने स्वयं लिखा है–

श्रृङ्गार एवैकरसो रसेषु न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति।
अध्यात्मश्रृंग त्विति रतिशान्तः श्रृंगार एवति ममशयोऽस्ति।।[8]

अर्थात् 'रसों में श्रृंगार रस ही प्रधान है' ऐसा यथार्थ तत्त्वेत्ता कवि नहीं कहते हैं। अध्यात्म के श्रृंगशिखर को जो देता है वह श्रृंगार है ऐसी निरुक्ति से तो शान्त रस ही वास्तविक श्रृंगार-अध्यात्म श्रृंग को पहुँचाने वाला है। परमपूज्य आचार्यश्री के सभी शतक काव्यों में शान्त रस की प्रधानता है। यदि एकाध स्थलों पर वीभत्स एवं भयानक रसों की उपस्थिति है भी तो वह शान्तरस के अंग के रूप में उसे ही परिपुष्ट करती है।

श्रमणशतक में स्थान-स्थान पर शान्तरस दृष्टिगत होता है। साधु के स्वरूप वर्णन में शान्तरस की अभिव्यञ्जना अत्यन्त मनोरम है। यथा–

निस्संगः सदागतिः विचरतीव कन्दरेषु सदागतिः।
ततो भवति सदागतिः स्वरसशमितभारसदागतिः।।[9]

अर्थात् जिसने स्वरस-स्वानुभव रूप जल से कामरूपी अग्नि को शान्त कर दिया है ऐसा पवन के समान निरजंन साधु वन की गुफाओं में विचरण करता है। इस कारण उसे सदागति (निर्वाण) की प्राप्ति होती है।

यहाँ यमक अलंकार का प्रयोग भी रस प्रतीति में किञ्चित् भी बाधा

उपस्थित नहीं करता है। निरञ्जन शतक में शान्त रस का परिपाक सर्वत्र व्याप्त है। यथा–

खविषयं विरसं नहिं मे मनो विचरदिच्छति शैवमगे मनो।
परिविहाय घृतं स सुधीः कदा जगति तक्रमिदं समधीः सदा।।[10]

अर्थात् मोक्षमार्ग में विचरण करने वाला मेरा मन नीरस इन्द्रिय विषयों की इच्छा नहीं करता है। यह ठीक है कि जगत् में कौन ऐसा विद्वान् है जो घी को छोड़कर मट्ठा (छांछ) पीने की इच्छा करता है?

भावनाशतक के तो प्रत्येक पद्य में शान्तरस की अजस्र धारा विद्यमान है। प्रथम पद्य में ही गुरु की स्तुति द्रष्टव्य है–

सुधृतरत्नत्रयशरं गुरो ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम्।
त्वां वीतानुभवशरं यजेऽमुं शमय मेऽनाश! रम्।।

हे गुरु! हे आशा से रहित! रत्नत्रयरूपी हार के धारक, ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा काम को नष्ट करने वाले और अनुभव रूपी जल का पान करने वाले आपकी मैं पूजा करता हूँ, आप मेरे कामभाव को शान्त करो।

परिषहजयशतक का तो उद्देश्य ही 22 प्रकार के परिषहों के आने पर शान्त बने रहना है। इसमें भी सर्वत्र शान्तरस है। मुनि को शीत होने पर भी अपने धर्म में स्थिर रहने का उपदेश देते हुए कहा गया है–

चलतु शीततमोऽपि सदागतिरमृतभावमुपैतु सदागतिः।
जगति कम्पवती रसदागतिः स्खलति नो वृषतोऽपि सदागतिः।।

अर्थात् अत्यन्त शीत पवन चले, अग्नि अमृत भाव को प्राप्त हो और संसार में जीवों की स्थिति कंपन युक्त हो जावे तथा शरीर को विदीर्ण करने वाली हो तो भी मुनि अपने धर्म से विचलित नहीं होते है।

सुनीतिशतक में शान्तरस के विषय में आचार्यश्री ने स्वयं लिखा है कि इस पृथ्वी पर कुमकुम के बिना स्त्री का ललाट, उद्योग के बिना देश, सम्यक्‌दर्शन के बिना मुनि का चरित्र तथा शान्त रस के बिना कवि का छन्द शोभायमान

नहीं होता है–

विनात्र रागेण वधूललाटो विनोद्यमेनापि विभातु देशः।
दृष्ट्या विना तच्च मुनेर्नवृत्तम् रसेन शान्तेन कवेर्न वृत्तम्।।[13]

अर्थात् आत्म विषयक मोहभाव से इन्द्रियों के विषयों में सुख की प्रतीति भले ही हो परन्तु उनमें सुख का लेश भी नहीं होता है। जैसे जल के बिलोने से फेन की अनुभुति उस समय भले ही हो पर घी का अंश प्राप्त नहीं होता है।

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि आचार्य श्री के शतककाव्यों में शान्तरस का सागर भरा हुआ है।

(ख) छन्द

कवि अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए गद्य की अपेक्षा पद्य का आश्रय अधिक लेता है क्योंकि अभिप्राय को प्रभावपूर्ण ढंग से उपस्थित करने में पद्य अधिक प्रभावक बनता है। पद्यों की सहायता से ही संस्कृत का प्राचीनतम साहित्य अद्यावधि सुरक्षित है। संस्कृत की अपनी विशेषता रही है कि गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजनीति सदृश नीरस विषय भी छन्दोबद्ध होकर आकर्षक बन जाते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र ने भावानुरूप छन्दों के निवेश को उचित बताते हुए कहा है कि–

वृत्तरत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता।
कथयत्यज्ञतामेव मेखलेव गले कृता।।[15]

अर्थात् अनुचित स्थान पर किया गया छन्दों का प्रयोग गले में धारण की गई मेखला की तरह कवि की अज्ञता का ही बोध कराता है। अतः स्पष्ट है कि छन्दों का प्रयोग भी विषय वस्तु के अनुसार ही किया जाना चाहिए। आचार्य विद्यासागर ने अपने पाँचों शतककाव्यों में भाषा को संगीतमय, भावों को सशक्त और रसाभिव्याक्ति के लिए आर्या, अनुष्टुप्, उपजाति और द्रुतविलम्बित छन्दों का प्रयोग किया है। जिस मात्रिक वृत्त के प्रथम एवं तृतीय चरण में 12 मात्रायें द्वितीय चरण में 18 मात्रायें तथा चतुर्थ चरण में 15 मात्रायें होती हैं उसे आर्या कहते हैं।[16] सम्पूर्ण श्रमण शतक में आर्याछन्द प्रयुक्त

है। भावनाशतक में अन्तिम 100 वें श्लोक में अनुष्टुप् तथा शेष में आर्याछन्द है। सम्पूर्ण सुनीतिशतक उपजाति छन्द में तथा सम्पूर्ण निरञ्जनशतक द्रुतविलम्बित छन्द में निबद्ध है। सभी अष्टाक्षर वृत्तों की अनुष्टुप् संज्ञा है। किन्तु अनुष्टुप् नाम से वही छन्द विशेष प्रचलित है, जिसके चारों पादो का षष्ठ अक्षर गुरु, पंचम लघु, द्वितीय चतुर्थ पादों में सप्तम अक्षर लघु तथा प्रथम-तृतीय पादों में गुरु होता है।[17] इन्द्रवज्रा एवं उपेन्द्रवज्रा (एकादशाक्षर) आदि छन्दों के मिश्रण को उपजाति छन्द कहते हैं।[18] जिस छन्द में चारों चरणों में क्रमशः नगण, दो भगण एवं रगण होता है। उसे द्रुतविलम्बित छन्द कहते हैं।[19] आचार्य विद्यासागरकृत शतक काव्यों में मात्र इन चार छन्दों का प्रयोग किया गया है।

छन्दों के प्रयोग में विजय वर्णी ने कवि आदि के अनिष्ट के परिहार के लिए वर्णो की शुद्धि आवश्यक मानी है। वर्णो में कुछ वर्ण अनिष्टकारक और कुछ वर्ण शुभफलदायक माने गये है। अजितसेन ने भी इस विषय में विजयवर्णी का ही अनुकरण किया है।[20] आचार्य विद्यासागर ने श्रमणशतक का प्रारंभ 'श्रीवर्धमान-' निरञ्जनशतक का प्रारंभ 'सविनयं-' भावनाशतक का प्रारंभ 'साधव इह', परिषहजय शतक का प्रारंभ 'शिवसुखं' तथा सुनीतिशतक का प्रारंभ 'जिनवरा' से किया है। प्रारंभ में प्रयुक्त श एवं स वर्ण सुखदायक तथा ज वर्ण मित्रलाभकारक माना गया है। श्रमण शतक के प्रारंभ में तगण, भावना शतक के प्रारंभ में भमण तथ शेष तीनों शतक काव्यों के प्रारंभ में तगण का प्रयोग है। तगण का देवता आकाश तथा इसका फल लक्ष्मी किंवा मोक्षलक्ष्मी है। आकाश अनन्त का प्रतीक है। भगण का देवता सौम्य तथा फल सुख है। नगण का देवता गौ तथा फल धन किंवा रत्नत्रय की प्राप्ति है। गौ वात्सल्य की प्रतीक है। इससे स्पष्ट है कि आचार्यश्री ने वर्णो की सुखदुःखात्मकता एवं गणों की शुभाशुभता के विषय में सावधानी रखी है। विषयवर्णी के अनुसार काव्य का प्रारंभ आशीर्वादात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक एवं नमस्क्रियात्मक त्रिविध मंगलाचरणों में से किसी मंगलाचरण से होना चाहिए।[31] आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने इस नियम का पूर्ण ध्यान रखा है।

(ग) अलंकार

प्रारंभ में काव्य के सभी सौन्दर्याधारक तत्त्वों को अलंकार शब्द से अभिहित किया जाता था। इसी कारण भामह, वामन, रुद्रत आदि आलंकारिकों ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के नाम में अलंकार शब्द अवश्य जोड़ा है। वामन ने तो स्पष्ट रूप से कहा है– 'सौन्दर्यमलंकारः'[22] अर्थात् सौन्दर्यकारक तत्त्वों का नाम अलंकार है। धीरे-धीरे यह माना जाने लगा कि जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि आभूषण शरीर को विभूषित करते हैं, उसी प्रकार अनुप्रास-उपमा आदि अलंकार काव्यशरीर शब्दार्थ को विभूषित करते हैं। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अलंकार शब्द और अर्थ के वे अस्थिर धर्म हैं जो अंगद आदि के समान शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं।[23]

आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने अपने शतक काव्यों में वर्णन को प्रभावक एवं शोभन बनाने के लिए शब्दालंकार और अर्थालंकारों का सुष्ठु सन्निवेश किया है। जहाँ एक ओर अनुप्रास की छटा, यमक की मनोरमता, और चित्रालंकार की विचित्रता पाठकों के अलौकिक आनन्द का संवर्धन करती है, वहाँ दूसरी ओर उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार वर्ण्य विषयों की मञ्जुल अभिव्यञ्जना करते है। हाँ वे वहीं-कहीं शब्दालकारों के भार तथा क्लिष्ट संयोजना से आक्रान्त से अवश्य प्रतीत होते हैं। अलंकारों के प्रयोग में कवि को कहाँ तक सफलता मिली है, इसे जानने के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त कतिपय अलंकारो के निदर्शन प्रस्तुत हैं।

अनुप्रास– स्वरों की विषमता होने पर भी व्यंजना की समानता में अनुप्रास अलंकार होता है। उसकी चमत्कृति पूर्ण संयोजना में आ. विद्यासागर कुशल है उनके सभी शतककाव्यों में अनुप्रास की छटा विद्यमान है यथा–

परपदं ह्यपदं विपदास्पदं निजपदं निपदं च निरापदम्।
इति जगाद जनाब्जरविर्भवान् ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान्।।

–निरञ्जनशतक, 3

यहाँ पर प, द आदि की आवृत्ति की सुन्दर योजना हुई है।

यमक— आचार्य विद्यासागर का यमक अलंकार के प्रति तो विशेष आग्रह है। सार्थक होने की दशा में भिन्नार्थक स्वख्यंजन समूह की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक अलंकार कहते हैं। इस अलंकार का सभी शतकों में प्रचुर प्रयोग है। श्रमण शतक में तो इसका बाहुल्य है। यथा—

यत् संसारे सारं स्थायीतरमस्ति सर्वथाऽसारम्।
सारं तु समयसारं मुक्तिर्यल्लभ्यते साऽरम्।।

—*श्रमणशतक*, 37

यहाँ पर चारों पादों के अन्त में 'सारम्' स्वख्यंजनसमूह की आवृत्ति में पादान्त यमक है।

चित्रालंकार (मुरजबन्ध)— चित्र वह अलंकार है जिसे पढ़कर पाठक को आश्चर्य होता है, क्योंकि इनके विन्यास से एक विशिष्ट आकृति बन जाती है भावना शतक में सोलहकारण भावनाओं के वर्णन में प्रत्येक भावना के अन्त में कवि ने एक-एक मुरजबन्ध चित्रालंकार का प्रयोग किया है। मुरजबन्ध अनेक प्रकार का होता है। श्लोक के प्रथम पाद का तृतीय पाद के साथ मुरजबंध का उदाहरण इस श्लोक से देखा जा सकता है—

दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः।
भव्याब्जककदा वाशस्पर्शकोंशुशुंभाकरः।।

—भावनाशतक, 10

मुरजबंध—

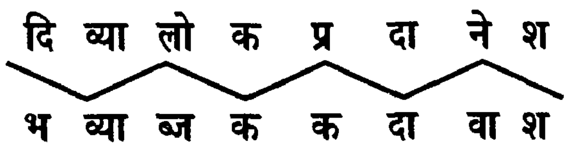

यहाँ प्रथम पाद के प्रथम अक्षर तथा तृतीय पाद के द्वितीय अक्षर को मिलाने से प्रथमपाद के समान पढ़ा जा सकता है। मुरज नामक वाद्य यन्त्र के समान आकृति बनने से यह मुरजबन्ध नामक चित्रालंकार कहलाता है।

उपमा– उपमा अर्थालंकारों में प्रमुख एवं सादृश्यमूलक अलंकारों का आधार है। आ. विद्यासागर द्वारा प्रयुक्त उपमाओं में सरलता, सुन्दरता एवं स्वाभाविकता सहज ही झलकती है। यथा–

मोदेऽमुनाहमधुना नासानन्दनेवेवाम्रमधुना।
लता कोकिलो मधुना नन्दनो जननी स्तनमधुना।।

–भावनाशतक, 37

अर्थात् जिस प्रकार घ्राण को आनन्द प्रदान करने वाले आम्रमकरन्द से कोयल, माँ के स्तन के दुग्ध से बालक और जल से लता प्रसन्न होती है, उसी प्रकार मैं इस समय इस (त्याग धर्म) से प्रसन्न होता हूँ।

यहाँ पर त्याग धर्म उपमेय, आम्रमकरन्द, माता का दूध, एवं जल उपमान हैं। इव वाचक शब्द और प्रसन्न होना साधारण धर्म है। अतः यहाँ पूर्णोपमा है।

उत्प्रेक्षा– उपमेय की उपमान के साथ तादात्म्य संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं। उत्प्रेक्षा की छटा आ. विद्यासागर के शतक साहित्य में इतस्ततः दृष्टिगत होती है। यथा–

निजनिधेर्निलयेन सताऽतनोर्मतिमता वमता ममता तनोः।
कनकताफलतो ह्युदिता तनौ यदसि मोहतमः सविताऽतनो।।

–निरञ्जनशतक, 10

प्रस्तुत श्लोक में भगवान् के शरीर में प्रकट हुई स्वर्ण जैसी आभा के कारण मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए उनमें सूर्य की संभावना की गई है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है।

रूपक–उपमेय और उपमान का अभेदारोप रूपक अलंकार कहलाता है। यथा–

करणकुञ्जरकन्दरं स्वरससेवनसंसेवितकन्दरम्।
त्वा स्तुवे मेऽकं दरं कलय गुरो! दृक्कृषिकन्द! रम्।।

–श्रमणशतक, 85

यहाँ इन्द्रियों पर हाथियों का, दृक् (सम्यग्दर्शन) पर कृषि का आरोप किया

गया है। अतः यहाँ पर रूपक अलंकार है।

अपह्नुति— जहाँ पर प्रकृत का निषेध करके उसमें अप्रकृत की स्थापना की जाती है, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। निरञ्जनशतक में अपह्नुति अलंकार का प्रयोग दृष्टिगत होता है। यथा—

असितकोटिमिता अमिता तके नहि कचा अलिमास्तव तात के।
वरतपोऽनलतो बहिरागता सघनधूम्रनिषेण हि रागता।।

—निरंजनशतक, 14

यहाँ पर भगवान के काले केशों का निषेध करके उन पर ध्यानाग्नि में जलाने पर राग के धुऑ की स्थापना की गई है। अतः अपह्नुति अलंकार है। (धूम के स्थान पर धूम्र शब्द का प्रयोग चिन्त्य है)।

निदर्शना— जहाँ वस्तु का अनुपपद्यमान सम्बन्ध उपमा में पर्यवसित हो जाता है, वहॉ निदर्शना नामक अलंकार होता है। यथा—

स्तुतिरियं तव येन विधीयते तमुभयावतो न विधी यते!।
गजगणोऽपि गुरुगजवैरिणं नखबलैः किमटेद् विभवैरिनम्।।

—निरंजनशतक, 8

अर्थात् जिस बुद्धिमान् के द्वारा आपकी यह स्तुति की जाती है उसके पास दोनों प्रकार के कर्म नहीं आते हैं। क्या हाथियों का समूह स्थूल होने पर भी नखबल के वैभव के कारण वन के राजा सिंह के पास जाता है?

यहाँ पर पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ उपमेय-उपमान भाव में पर्यवसित हो जाते हैं। अतः निदर्शना अलंकार है।

दृष्टान्त— जहाँ पर उपमान उपमेय आदि का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होता है, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। आ. विद्यासागर जी ने उपदेशात्मक उक्तियों को प्रभावशाली बनाने के लिए कहीं-कहीं दृष्टान्त अलंकार का आश्रय लिया है। यथा—

यदुदितं वचनं शुचि साधुना वदति तत् न कुधीरिति साधु ना।
ज्वरमितः सुपयः किमु ना सितां ह्यनुभवद् भुवि रोगविनाशिताम्।।

—निरंजनशतक, 71

प्रस्तुत श्लोक में साधु के निर्दोष वचनों को अज्ञानी द्वारा ठीक न कहना तथा ज्वरयुक्त मनुष्य द्वारा मिश्रीयुक्त दूध को मीठा न कहना-इन दोनों उपमेय-उपमान रूप वाक्यों में विम्ब-प्रतिबिम्बभाव है। यतः यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

व्यतिरेक— जहाँ पर उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य का वर्णन किया जाता है, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। यथा—

लसति भानुरयं जिनदास! खे नयति तापमिदं च तदा सखे!।
जितरविर्महसा सुखहेतुकम् उरसि मेऽस्ति तथात्र न हेतुकम्।।

— निरंजनशतक, 35

यहाँ जिनेन्द्र उपमेय और सूर्य उपमान है। सूर्य आकाश में रहने पर जगत् को संताप देता है किन्तु जिनेन्द्रेव हृदय में रहने पर सन्ताप नहीं देते हैं। ऐसा कहकर उपमान सूर्य की अपेक्षा जिनेन्द्रदेव के आधिक्य का वर्णन होने से व्यतिरेक अलंकार की झलक मिलती है।

विशेषोक्ति— कारण उपस्थित होने पर भी कार्य के न होने में विशेषोक्ति अलंकार माना गया है। यथा—

उपगता अदयैरुपहासतां कलुषितं न मनो भवहाः सताम्।
शमवतां किंतु तत् बुधवन्दनं न हि मुदेऽप्यमुदे जडनिन्दनम्।।

—परिषहजयशतक, 53

यहाँ अप्रीति का कारण निन्दा एवं अनादर तथा प्रीति का कारण वन्दन का वर्णन होने पर भी प्रीति-अप्रीति रूप कार्य की उत्पत्ति न होने से विशेषोक्ति नामक अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास— जहाँ पर सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है, वहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। यथा—

श्रमैकफलारम्भतः पौद्गलिकपुण्यपापोपलम्भतः।
दृक्कथमुदेति हन्त! नवनीतं नीरमन्थनतः।।

—श्रमणशतक, 10

प्रकृत उदाहरण में आरंभ एवं पौद्गलिक पुण्य-पाप से सम्यग्दर्शन की अनुत्पत्ति रूप विशेष का समर्थन जल के मन्थन से नवनीत की अनुत्पत्ति रूप सामान्य से किया गया है। अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

विरोधाभास— जहॉ वास्तविक विरोध न होने पर भी विरोध जैसी प्रतीति होती है, वहां विरोधाभास अलंकार होता है। यथा—

परमवीरक आत्मजयीह त इति शिवो हृदि लोकजयी हतः।
अणुरसीति मनोरसि तानितः समयकान् स्वविदा भवतानितः।।

—निरंजनशतक, 87

यहॉ पर प्रयुक्त विशेषणों आत्मजयी एवं लोकजयी तथा अणु एवं विश्वव्यापी (भवतानित) में विरोध प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक विरोध नहीं है। अतः विरोधाभास अलंकार है।

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त संसृष्टि और संकर अलंकार तो प्रायः उनके शतक काव्यों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

भाषा-शैली

आचार्य विद्यासागर द्वारा विरचित शतकों में सुनीति शतक की भाषा-शैली भर्तृहरि के शतकत्रय की तरह सरल एवं हृदयग्राही है। इसमें वैदर्भी रीति तथा प्रसादगुण विद्यमान है। दार्ष्टान्तिक शैली के कारण उनका कथ्य पाठक को सीधे प्रभावित करता है। शेष शतकों में यद्यपि कोमल कान्त पदावली प्रयुक्त है, तथापि शब्दालंकारों के आधिक्य से कहीं-2 भावाभिव्यक्ति में काठिन्य प्रतीत होता है। स्थान-स्थान पर उदाहरणों के माध्यम से कथ्य को सरल बनाया गया है। सूक्तियों के रूप में मूल्यपरक शिक्षाओं का समावेश अत्यन्त प्रभावी है।

जीवनमूल्यपरक शिक्षायें

नीर मन्थन से नवनीत कैसे उत्पन्न हो सकता है?	श्रमण.,	10
जो पूर्ण प्रयत्न से इन्द्रियों को जीतना है, वह यति है।	श्रमण.,	16
दुःखदायक जगत् में मिथ्यात्व विषधर सर्प है।	श्रमण.,	32
जैसे जलज जल से वैसे आत्मा को संसार से पृथक् मान।	श्रमण.,	33
समयसार (शुद्वात्म परिणाम) ही संसार में सार है।	श्रमण.,	37
मात्र नग्न वेष ही मोक्ष का उपाय नहीं है।	श्रमण.,	78
दोनो नय दो नयनों के समान हैं।	निरञ्जन;	6
नीर दूध में पड़कर दूध बन जाता है।	निरञ्जन;	22
गुरुमुख को छोड़कर क्षणिक जगत् अच्छा नहीं लगता है।	निरञ्जन;	26
कौन ज्ञानी घी छोड़कर मट्ठा की इच्छा करता है?	निरञ्जन;	82
ज्ञान रूपी दीपक से जिनेन्द्र का अवलोकन होने लगता है	भावना.,	28
वस्त्रावृत लौह पारस से भी स्वर्ण नहीं बन सकता है।	भावना.,	44
असमय में बीज के समान अकालवन्दन फलीभूत नहीं है।	भावना.,	84
दीनों पर दयादृष्टि से दान देने से धर्मप्रभावना होती है।	भावना.,	90
बुद्धिमान् मुनि शरीर के रोग से नहीं डरता है।	परिषह.,	67
शास्त्रोपजीवी विद्वान् विद्वत्ता के फल से रहित है।	सुनीति.,	2
शारीरिक कुलादि के योग से मुनिपना मलिन नहीं होता।	सुनीति.,	3
पक्षपाती ज्ञानी स्वपरघाती एवं उभयलोक से भ्रष्ट है।	सुनीति.,	5
अहंकार के लिए धन देने वाला तथा धन-मान के लिए विद्या देने वाला धर्म से दूर है।	सुनीति.,	7
परिग्रह विद्वेष का मूल कारण है।	सुनीति.,	9
सत्संगति वाला नियम से श्रेष्ठ बन जाता है।	सुनीति.,	11
शरीर रोगों का घर और मानसिक पीड़ाओं का स्थान है।	सुनीति.,	12
अध्यात्मशास्त्र शान्तपरिणामी को अमृत और परिग्रही के लिए विपरूप होता है।	सुनीति.,	15

कुमकुम के बिना स्त्री का ललाट, उद्योग के बिना
देश, सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र और शान्तरस के
बिना काव्य सुशोभित नहीं होता है। सुनीति., 20
धन के बिना गृहस्थ और धन से युक्त मुनि का जीवन
आकाशपुष्प एवं इक्षुपुष्प के समान निष्फल है।
मोक्षमार्गी के लिए अल्पपरिग्रह भी विघ्न है। सुनीति., 24
जिनवाणी का आश्रय पापियों को विषय कषाय की पुष्टि
के लिए तथा विपरीत को पुण्य के लिए साधन बनता है। सुनीति., 29
पाप पाप से नहीं धुलता, पुण्य पुरुष को पावन बनाता है। सुनीति., 31
भोग भवबन्धन का कारण तथा योग संसार संतरण का सेतु है। सुनीति., 35
इन्द्रियविषयानुराग दुःखद ओर धर्मानुराग सुखद होता है। सुनीति., 37
केवल नग्नता ही भवमुक्ति का कारण नहीं है। सुनीति., 44
इच्छायें नरक का द्वार हैं। सुनीति., 50
सागार और अनगार दोनो को कर्मक्षय के लिए ही धर्म में लीन
होना चाहिए। विनयपूर्वक दिया गया दान प्रशस्त होता है। सुनीति., 52
व्रतों में शील, दमन में रसना इन्द्रियदमन, दानों में
अभयदान और धर्मो में अहिंसा श्रेष्ठ है। सुनीति., 54
दुःख का मूल कारण शरीर का धारण करना है। सुनीति., 57
जैसी मति वैसी गति तथा जैसी गति वैसी मति होती है। सुनीति., 60
व्यभिचारी अविवाहित से स्वदारसंतोषी विवाहित श्रेष्ठ है। सुनीति., 71
भाग्य की अनुकूलता में जगत् प्रसन्न तथा पापोदय में अप्रसन्न होता है। सुनीति., 76
निज शुद्धभाव ही ध्येय, प्रमेय एवं सुधासम पेय है। सुनीति., 85

इन मूल्यपरक शिक्षाओं के द्वारा मानव-जीवन प्रशस्त बन सकता है। अतः श्रेयोमार्ग के पथिकों के लिए इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्यश्री ने इन शतकों का प्रणयन आत्महित के साथ-साथ श्रमणों के हित किंवा मानवमात्र के हित को सम्पादित करने के लिए किया है। अतः हितेच्छुओं के लिए इनका

बाह्य कलापक्ष जहाँ प्रेय प्रतीत होगा वहाँ अन्तरंग भावपक्ष श्रेयस् की सिद्धि का साधन भी बनेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है आचार्य विद्यासागर महाराज के शतकों ने बीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य में आध्यात्मिक विवेचना के साथ-साथ काव्यसरणि का आश्रय लेकर नवीन भावराशियों का स्मरणीय उपहार दिया है। उनके शतकों के समावेश के निःसन्देह सुरभारती का भण्डारगार समृद्धतर होगा।

सन्दर्भ

1 कठोपनिषद् 1/2/2, 2. ध्वन्यालोक, प्रथमानन

3. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे· स्थापिनो लोके तानि चेन्याट्यकाव्ययो·।।
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचाणिः।
व्यक्त· स तैर्विभावाद्यै· स्थायी भावो रसः स्मृत।। -काव्यप्रकाश 1/27-28

4 अलंकारचिन्तामणि 5/84

5 शृगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा·' स्मृताः।। -काव्यालकारसारसग्रह

6. अनुयोगद्वारसूत्र, द्वितीय भाग पृ 8, 7. नाटकसमयसार (बम्बई प्रकाशन) पृ. 392-393

8. सुनीतिशतक, 22, 9. श्रमणशतक, 38, 10 निरञ्जनशतक, 82, 11. भावनाशतक, 1

12. परिषहजयशतक, 15, 13. सुनीतिशतक, 20, 14. वही, 39, 15 सुवृत्ततिलक, तृतीय विन्यास 13

16. यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रस्यथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।। -श्रुतबोध

17. श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।। -श्रुतबोध 10

18. एतयोः (इन्द्रवज्रोपेन्दवज्रयोः) परयोश्च संकर उपजातिः। -छन्दोऽनुशासन 2/56, 19. द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ। -वृत्तरत्नाकर 3/50, 20. द्रष्टव्य-शृंगारार्णवचन्द्रिका 1/35-47 तथा अलकारचिन्तामणि 1/85-93, 21. शृंगारार्णवचन्द्रिका 1/33, 48-60 (गणों की शुभशुभता)।, 22. काव्यालंकारसूत्र, 1/2

23. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः ये शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽंगदादिवत्।। -साहित्यदर्पण 10/1

— उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एस. डी. (पी.जी.) कॉलेज मुजफ्फरनगर

कर्मवाद एवं ईश्वरवाद : स्वरूप एवं समीक्षा : जैनदर्शन के संदर्भ में

—डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतीय दर्शन की प्रायः सभी शाखाओं में कर्म और सुख-दुःख का परस्पर हेतु-कार्य का संबंध मानते हुए उन पर गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है। दार्शनिक ग्रंथों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि 'कर्म' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। मीमांसा दर्शन-पशुबलि आदि यज्ञ तथा अन्य क्रियाकाण्ड को कर्म मानता है। वैयाकरण पाणिनि अपने 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र द्वारा कर्त्ता के लिए अत्यन्त इष्ट को कर्म कहते हैं। वैशेषिक दर्शन ने अपने सप्त पदार्थों की सूची में कर्म को भी स्थान प्रदान किया है। वैशेषिक दर्शनकार कणाद कहते हैं—जो एक द्रव्य हो-द्रव्यमात्र से आश्रित हो, जिसमें कोई गुण न रहे तथा जो संयोग और विभाग में कारणान्तर की अपेक्षा न करे वह कर्म है।[1] उसके उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन ये पांच भेद कहे गये हैं।[2] नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य क्रियाओं को भी कर्म कहते हैं। सांख्यदर्शन ने संस्कार अर्थ में 'कर्म' को ग्रहण किया है। सांख्य तत्त्व कौमुदी[3] में लिखा है—सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी पुरुष संस्कारवश कर्म के वश से शरीर धारण करके रहता है, जैसे तीव्र गति प्राप्त चक्र संस्कार के वश से भ्रमण करता रहता है।

गीता में कार्यशीलता को कर्म बताया है।[4] कहा है—अकर्मण्य रहने की अपेक्षा कर्म करना श्रेयस्कर है। संन्यास और कर्मयोग ये दोनों ही कल्याणकारी हैं, किंतु कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष महत्त्वास्पद है।[5]

पतंजलि योगसूत्र[6] में कहते हैं—क्लेश का मूल कर्माशय-कर्म की वासना है। वह इस जन्म में वा जन्मान्तर में अनुभव में आती है। अविद्यादिरूप मूल

के सद्भाव में जाति, आयु तथा योगरूप कर्मो का विपाक होता है। वे आनन्द तथा संताप प्रदान करते हैं, क्योंकि उनका कारण पुण्य तथा अपुण्य है। योगी के अशुक्ल तथा अकृष्ण कर्म होते हैं। संसारी जीवों के शुक्ल तथा शुक्ल-कृष्णकर्म होते हैं।

न्यायमंजरी[7] में लिखा है–'जो देव, मनुष्य तथा तिर्यंचों में शरीरोत्पत्ति देखी जाती है, जो प्रत्येक पदार्थ के प्रति बुद्धि उत्पन्न होती है, जो आत्मा के साथ मन का संसर्ग होता है, वह सब प्रवृत्ति के परिणाम का वैभव है। सर्व प्रवृत्ति क्रियात्मक है, अतः क्षणिक है, फिर भी उससे उत्पन्न होने वाला धर्म, अधर्म पदवाच्य आत्म-संस्कार कर्म के फलोपभोग पर्यन्त स्थिर रहता ही है।'

भिक्षु नागसेन ने मिलिन्द सम्राट से जो प्रश्नोत्तर किये थे, उनसे कर्मो के विषय में बौद्धदृष्टि का अवबोध होता है–

राजा बोला-भंते! क्या कारण है कि सभी आदमी एक ही तरह के नहीं होते? कोई कम आयु वाले, कोई दीर्घ आयु वाले, कोई बहुत रोगी, कोई नीरोग, कोई भद्दे, कोई बड़े सुन्दर, कोई प्रभावहीन, कोई बड़े प्रभाव वाले, कोई गरीब, कोई धनी, कोई नीच कुल वाले, कोई उच्च कुल वाले, कोई मूर्ख, कोई बुद्धिमान क्यों होते हैं?

स्थविर बोले–महाराज क्या कारण है कि सभी वनस्पतियां एक सी नहीं होती? कोई खट्टी, कोई नमकीन, कोई तिक्त, कोई कड़वी, कोई कषाय वाली और कोई मधुर क्यों होती हैं?

भंते! मैं समझता हूँ कि बीजों की भिन्नता के कारण ही वनस्पतियों में भिन्नता है।

महाराज! इसी प्रकार सभी मनुष्यों के अपने-अपने कर्म भिन्न-भिन्न होने से वे सभी एक ही प्रकार के नहीं हैं। महाराज! बुद्धदेव ने कहा–हे मानव! अपने कर्मो का सभी जीव उपभोग करते हैं। सभी जीव अपने कर्मो के स्वामी हैं। अपने कर्मों के अनुसार नाना योनियों में जन्म धारण करते हैं। अपना कर्म

ही अपना बंधु है, अपना आश्रय है। कर्म से ही लोग ऊंचे-नीचे हुए हैं।

भंते! आपने ठीक कहा।[8]

प्रवचनसार टीका में अमृतचन्द सूरि लिखते हैं– **क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म (पृ. 165)**

आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से क्रिया को कर्म कहते हैं। उसके निमित्त से परिणमन को प्राप्त पुद्गल भी कर्म कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा में कम्पनरूप क्रिया होती है। इस क्रिया के निमित्त से पुद्गल के विशिष्ट परमाणुओं में जो परिणमन होता है, उसे कर्म कहते हैं।

आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्तिक में लिखा है– **'यथा भाजन विशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः।'** जैसे पात्र विशेष में डाले गये अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों का मदिरारूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार योग तथा कषाय के कारण आत्मा में स्थित पुद्गलों का कर्मरूप परिणाम होता है।

भारतीय दर्शन में ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी के रूप में दो परंपरायें प्रचलित हैं। न्याय-वैशेषिक, सेश्वर सांख्य-योग और वेदान्त दर्शन ईश्वरवादी कहे गये और जैन, बौद्ध, मीमांसा, चार्वाक अनीश्वरवादी। जैन मनीषियों ने गुणों के आधार पर अपने उपास्य को स्वीकार करने की बात कही तथा अन्यों ने प्रायः सभी गुण ईश्वर में समाहित कर दिये। जैनों का ईश्वर मानवता का चरमोत्कर्ष है। मानव के ऊपर ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं।

न्याय–वैशेषिक की दृष्टि से ईश्वर नित्य, मुक्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और इस जगत् का निमित्त कारण है। ईश्वर के अतिरिक्त इस दर्शन में अन्य योगियों की आत्माओं में भी सर्वज्ञत्व को स्वीकार किया गया है, पर वह ज्ञान अनित्य है। ईश्वर का ज्ञान नित्य और अपरोक्षात्मक है। अपवर्ग की प्राप्ति ईश्वर के बिना संभव नहीं है और अपवर्ग में आत्मा के सभी आगंतुक गुण हमेशा के लिए विनष्ट हो जाते हैं। ईश्वर का अस्तित्व इस दर्शन में शब्द और

अनुमान प्रमाण का आश्रय लेकर सिद्ध किया जाता है।

वेदान्त दर्शन में सत्य के रूप में केवल ब्रह्म की सत्ता मानी गयी है। ब्रह्म के दो रूप हैं निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म के रूप में एवं सगुण ब्रह्म ईश्वर के रूप में माना गया है। रामानुज का दर्शन पूर्ण ईश्वरवादी है, इनका ईश्वर वेदान्त दर्शन के सगुण ब्रह्म के ही समान है।

वेदान्त तथा न्याय की ईश्वर की अवधारणाओं में मुख्य भेद यह है कि वेदान्त का ईश्वर संसार का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। जबकि न्याय वैशेषिक का ईश्वर संसार का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। इस अंतर के होने पर भी न्याय-वैशेषिक और वेदान्त इस विषय में सहमत हैं कि सृष्टि सादि है और सृष्टि की उत्पत्ति में ईश्वर का महत्त्वपूर्ण योगदान है। ये दोनों इस विषय में भी सहमत हैं कि वर्तमान सृष्टि भले ही सादि है किंतु परम्परा से सृष्टि अनादि है।

कोई लोग कर्मकृत विश्ववैचित्र्य को स्वीकार करते हुए भी कहते हैं—ईश्वर ही कर्मो के अनुसार इस अज्ञ जीव को विविध योनियों में पहुंचाकर दुःख और सुख देता है। महाभारत में लिखा है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।। वनपर्व 30, 28

आचार्य नेमिचन्द ने एक गाथा लिखी है—

अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च।
सग्गं णिरयं गमणं सव्वं इसरकयं होदि।। गोम्मटसार कर्मकाण्ड

आत्मा अज्ञानी है, असमर्थ है—कुछ करने में समर्थ नहीं है। उसका सुख, दुःख, स्वर्ग या नरक में जाना सब ईश्वर के अधीन है।

न्याय दर्शन का कहना है, कि मनुष्य के कर्म ब्रह्म के नियंत्रण में हैं तथा उसके सहयोग से फल उत्पन्न करते है।[9] देह मनुष्य को अपने कर्मो के अनुसार मिलती है और सुख-दुःख का आधार देह ही है। देह की रचना नियति की

अदृष्ट शक्ति से होती है और वह पूर्व कर्मो के फलों का परिणाम है।[10] वात्स्यायन के अनुसार हमारे सब कर्मो का फल मोक्ष से पूर्व के अंतिम जन्म में प्राप्त होता है।[11] न्याय दर्शन कर्मवाद पर विश्वास करता है। कर्म यदि बिना फलेच्छा के किया जाता है तो जीव का उच्च सुसंस्कृत कुल में जन्म होता है, निष्काम कर्म तत्त्व-साक्षात्कार में सहायक सिद्ध होता है पर स्वयं वह कर्म मिथ्याज्ञान का विनाश नहीं कर सकता। जब प्रतिरोधक कर्म के उपभोग से प्रारब्ध एवं संचित कर्मो का भी अंत हो जाता है तब साधक का शरीर से संबंध छूट जाता है। यह मुक्ति है।[12] प्रत्येक कर्म का फल शीघ्र नहीं मिलता, बहुत से कर्म ऐसे हैं कि उनका फल कालांतर या जन्मांतर में मिलता है। प्रत्येक कर्म से धर्माधर्म रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। फिर वे अन्य कारणों से परिपुष्ट होकर शुभाशुभ फल उत्पन्न करते हैं।[13]

गौतम का न्यायसूत्र और न्यायसूत्र पर वात्स्यायन का वात्स्यायन-भाष्य तथा प्रशस्तपाद का प्रशस्तपाद-भाष्य ईश्वर विषयक युक्तियों के प्रामाणिक संग्रह हैं। इन युक्तियों को जैन आचार्यो ने अपने दार्शनिक ग्रंथों में पूर्वपक्ष के रूप में संकलित किया है वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. पृथ्वी आदि का कर्त्ता कोई बुद्धिमान है क्योंकि वह घट के समान कार्य है। जो कार्य होता है उसका कर्त्ता कोई न कोई अवश्य होता है।
2. कार्यत्व हेतु की व्यष्टि केवल बुद्धिमत्कर्तृत्व के साथ ही मानना चाहिए, अशरीरी सर्वज्ञ कर्त्ता के साथ नहीं। ईश्वर सभी कार्यों का कर्त्ता है अतः उसे सर्वज्ञ भी होना चाहिए। ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न के साथ ही लक्ष्य होते हैं।
3. वह ईश्वर एक है और अनेक कर्त्ता उस एक अधिष्ठाता के नियंत्रण में ही कार्य करते हैं।
4. वनस्पति आदि का कर्त्ता दृश्य नहीं, अतः उसे दृश्यानुपलब्धि हेतु से असिद्ध नहीं किया जा सकता।
5. ईश्वर धर्म-अधर्म की सहायता से परम दयालु होकर तदनुसार सुख-दुःख

रूप शरीरादि की रचना करता है।

6. धर्म-अधर्म तो अचेतन है। अतः ईश्वर रूप चेतन से अधिष्ठित होकर वह कार्य करते हैं। आत्मा वह काम कर नहीं सकता क्योंकि उसमें उदृष्ट तथा परमाणु का ज्ञान नहीं।

आचार्य समंतभद्र ने जो ईश्वर को सुख-दुःख का केवल निमित्त कारण मानते हैं उनके लिए आप्तमीमांसा में लिखा है–

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः।।99।।

काम, क्रोध मोहादि का उत्पत्तिरूप जो भाव संसार है, वह अपने-अपने कर्म के अनुसार होता है। वे जीव शुद्धता, अशुद्धता से समन्वित होते हैं।

इस पर तार्किक पद्धति से विचार करते हुए आचार्य विद्यानन्दि 'अष्टसहस्री' में लिखते हैं कि अज्ञान, मोह, अहंकाररूप यह भाव-संसार है।[14] यह एक स्वभाव वाले ईश्वर की कृति नहीं है, कारण उसके कार्य सुख-दुःखादि में विचित्रता दृष्टिगोचर होती है। जिस वस्तु के कार्य में विचित्रता पायी जाती है, उसका कारण एक स्वभाव विशिष्ट नहीं होता है। जैसे अनेक धान्य अङ्कुरादिरूप विचित्र कार्य अनेक शालि-बीजादिक से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सुख-दुःख विशिष्ट विचित्र कार्य रूप जगत् एक स्वभाव वाले ईश्वरकृत नहीं हो सकता।[15]

'प्रत्येक कार्य ईश्वरकृत है, कर्म के निमित्त से नहीं' इस न्याय-वैशेषिक मत का निराकरण करते हुए अकलंकदेव कहते हैं कि संसार में इच्छा, द्वेष, शरीरादि अनेक कार्यों की जो उत्पत्ति देखी जाती है, वह अपने-अपने कर्म के अनुसार होती है, उस उत्पत्ति का कारण ईश्वर नहीं है। कर्मों की उत्पत्ति भी राग, द्वेष आदि अपने कारणों से होती है। जिस प्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज उत्पन्न होता है और इस प्रकार बीज और अंकुर की अनादि परम्परा चलती रहती है, उसी प्रकार कर्म से रागादि की उत्पत्ति और रागादि से कर्म की उत्पत्ति होती रहती है। इस प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्म की

अनादि सन्तति चलती रहती है। अतः संसार का चक्र स्वकर्म के अनुसार ही चलता है।[16]

जैनाचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र आदि दार्शनिकों ने ईश्वरवादी तर्कों का निम्न प्रकार से खण्डन किया है–

1. कार्यत्व हेतु युक्तियुक्त नहीं क्योंकि उसके मानने पर ईश्वर भी कार्य हो जायेगा। फिर ईश्वर का भी कोई निर्माता होना चाहिए। इस तरह अनवस्था दोष हो जायेगा।
2. जगत् यदि कृत्रिम है तो कूपादि के रचयिता के समान जगत् का रचयिता ईश्वर भी अल्पज्ञ और असर्वज्ञ सिद्ध होगा। असाधारण कर्त्ता की प्रतीति होती नहीं। समस्त कारणों का अपरिज्ञान होने पर भी सूत्रधार मकान बनाता है। ईश्वर भी वैसा ही होगा।
3. एक व्यक्ति समस्त कारकों का अधिष्ठाता हो नहीं सकता। एक कार्य को अनेक और अनेक को एक करते हैं।
4. पिशाचादि के समान ईश्वर अदृश्य है यह ठीक नहीं। क्योंकि जाति तो अनेक व्यक्तियों में रहती है पर ईश्वर एक है। सत्ता मात्र से यदि ईश्वर कारण है तो कुम्भकार भी कारण हो सकता है। अशरीरी व्यक्ति सक्रिय और तदवस्थ नहीं हो सकता।
5. ईश्वर की सृष्टि स्वभावतः यदि रुचि से या कर्मवश होती है तो ईश्वर का स्वातंत्र्य कहां रहेगा? उसकी आवश्यकता भी क्या? वीतरागता उसकी कहां? और फिर संसार का भी लोप हो जायेगा।
6. स्वयंकृत कर्म का फल उसका विपाक हो जाने पर स्वयं ही मिल जाता है। उसे ईश्वर रूप प्रेरक चेतन की आवश्यकता नहीं रहती। कर्म जड़ अवश्य है पर चेतन के संयोग से उसमें फलदान की शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है। जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल यथासमय मिल जाता है।[17]

जैनदृष्टि यह है कि समीचीन पुरुषार्थ करने पर प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है। अब तक अनंत आत्मायें परमात्मा बन चुकीं हैं, बन भी रही

हैं और बनती रहेंगी। इस प्रकार यहां किसी एक ईश्वर की कल्पना स्वीकार्य नहीं है और न ही यह स्वीकृत किया जा सकता है कि कोई भी ईश्वर किसी भी पदार्थ में अपनी इच्छा से कुछ भी करने के लिए समर्थ होता है। सच तो यह है कि ईश्वर तो वीतराग और सर्वज्ञ होता है जो सारी वस्तुओं को जानकर भी उनके प्रति उदासीनभाव अर्थात् वीतरागभाव से निराकुल होकर अपने अनंत गुण स्वरूप ऐश्वर्य में निमग्न रहता है। पर पदार्थ चाहे चिद् हों या अचिद् को सुधारने-बिगाड़ने, अपनी इच्छानुरूप करने या न करने आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। लोक में यह सब मिथ्याहंकार और आकुलतामय चौधराहट के बिना संभव ही नहीं है। जैनदर्शन में ईश्वर के न मिथ्याहंकार है और न ही आकुलता की चौधराहट फिर भला वह पर का कर्त्ता-धर्त्ता क्यों होगा।[18]

यह मान्यता नितांत भ्रामक है कि नैयायिक-वैशेषिक मत में जिस प्रकार ईश्वर जीवात्माओं को सुख-दुःख का फल देता है उसी प्रकार जैन-दर्शन में कर्म जीवों को सुख-दुःख आदि फल प्रदान करते हैं। यह भ्रमापगम के अभिप्राय से हमें यह जान लेना आवश्यक है कि जीवों के द्वारा किये गये कर्मो का फल देने में नैयायिक-वैशेषिक अभिमत ईश्वर निमित्त कर्त्ता है और जैनाभिमत कर्म केवल निमित्त हैं। निमित्त और निमित्तकर्त्ता शब्दों में अविचारित साम्य का भ्रम न हो इसलिए हमें नैयायिक-वैशेषिकों की ईश्वर को निमित्तकर्त्ता बताने रूप मान्यता का और जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार कर्म केवल निमित्त है इस मान्यता का परिज्ञान कर लेना चाहिए।

कर्म फल कैसे देते हैं –

अन्य दर्शनों में भी जीव को कर्म करने में स्वतंत्र माना है किंतु उसका फल भोगने में परतंत्र माना है। उनकी दृष्टि से जड़ कर्म स्वयं अपना फल नहीं दे सकता। अतः ईश्वर उसे उसके कर्मो के अनुसार फल देता है किंतु जैनधर्म में तो ऐसा कोई ईश्वर नहीं है। अतः जीव स्वयं ही कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति दूध पीकर पुष्ट होता है और दूसरा व्यक्ति शराब पीकर मतवाला होता है। क्या इसके लिए किसी

दूसरे की आवश्यकता है? दूध में बलदायक शक्ति है अतः उसको पीने वाला स्वयं बलशाली होता है और शराब में मादक शक्ति है अतः उसे पीने वाला स्वयं मतवाला होता है। इसी प्रकार जो अच्छे कार्यो के द्वारा शुभ कर्म का बंध करता है उसकी परिणति स्वयं अच्छी होती है और जो बुरे कार्यो के द्वारा अशुभ कर्म का बंध करता है उसकी परिणति स्वयं बुरी होती है। पूर्वजन्म के अच्छे-बुरे संस्कारवश ही ऐसा होता है।

आशय यह है कि जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया को निमित्त करके जो पुद्गल कर्म परमाणु जीव की ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उससे बंध जाते हैं। उन कर्म परमाणुओं में भी शराब और दूध की तरह अच्छा या बुरा करने की शक्ति होती है जो चैतन्य के संबंध से व्यक्त होकर उस पर अपना प्रभाव डालती है तथा उससे प्रभावित हुआ जीव ऐसे कार्य करता है जो उसे सुखदायक या दुःखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं तो बंधने वाले कर्म परमाणुओं पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है और कालांतर में अच्छा फल मिलने में निमित्त होते हैं। यदि भाव बुरे होते हैं तो उसका प्रभाव भी बुरा पड़ता है और कालांतर में फल भी बुरा मिलता है। अतः जीव को फल भोगने में परतंत्र मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि ईश्वर को फलदाता माना जाता है तो जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का घात करता है तब घातक को दोषभागी नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस मनुष्य के द्वारा ईश्वर ने मरने वाले को मृत्यु का दण्ड दिया है। जैसे– राजा जिन व्यक्तियों के द्वारा अपराधियों को दण्ड देता है वे व्यक्ति अपराधी नहीं माने जाते, क्योंकि वे राजा की आज्ञा का पालन करते हैं। इसी तरह किसी का घात करने वाला भी जिसका घात करता है उसके पूर्वकृत कर्मो का फल भोगता है क्योंकि ईश्वर ने उसके पूर्वकृत कर्मो की यही सजा नियत की, तभी तो उसका वध हुआ। यदि कहा जाय कि मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है अतः घातक का कार्य ईश्वर प्रेरित नहीं है किंतु उसकी स्वतंत्र इच्छा का परिणाम है, तो कहना होगा कि संसार दशा में कोई भी प्राणी वास्तव में स्वतंत्र नहीं हैं, सभी अपने-अपने कर्मों से बंधे हैं। महाभारत में भी लिखा है—कर्मणा बध्यते जन्तुः। प्राणी कर्म से बंधता है और कर्म की परम्परा अनादि है। ऐसी

परिस्थिति में 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' अर्थात् प्राणियों की बुद्धि कर्म के अनुसार होती है, इस न्याय के अनुसार किसी भी काम को करने या न करने में मनुष्यं सर्वथा स्वतंत्र नहीं है। इस पर से यह आशंका होती है कि ऐसी दशा में तो कोई भी जीव मुक्तिलाभ नहीं कर सकेगा क्योंकि जीव कर्म से बंधा है और कर्म के अनुसार जीव की बुद्धि होती है किंतु ऐसी आशंका ठीक नहीं है क्योंकि कर्म अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। अतः अच्छे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि मनुष्य को सन्मार्ग की ओर ले जाती है और बुरे कर्म का अनुसरण करने वाली बुद्धि मनुष्य को कुमार्ग की ओर ले जाती है। सन्मार्ग पर चलने से क्रमशः मुक्ति का लाभ और कुमार्ग पर चलने से कुगति लाभ होता है।

जब उक्त प्रकार से जीव कर्म करने में स्वतंत्र नहीं है तब घातक का घातनरूप कर्म उसकी दुर्बुद्धि का ही परिणाम कहा जायेगा, और बुद्धि की दुष्टता उसके किसी पूर्वकृत कर्म का फल होना चाहिए। किंतु जब हम कर्म का फल ईश्वराधीन मानते हैं तो उसका प्रेरक ईश्वर को ही कहा जायेगा।

यदि हम ईश्वर को फलदाता न मानकर जीव के कर्मो में ही स्वतः फलदान की शक्ति मान लेते हैं तो उक्त समस्या हल हो जाती है। क्योंकि मनुष्य के पूर्वकृत बुरे कर्म उसकी आत्मा पर इस प्रकार के संस्कार डाल देते हैं जिससे वह क्रुद्ध होकर हत्या तक कर बैठता है।

ईश्वर को फलदाता मानने पर हमारी विचार-शक्ति कहती है कि किसी विचारशील फलदाता को किसी व्यक्ति के बुरे कर्म का फल ऐसा देना चाहिए जो उसकी सजा के रूप में हो, न कि दूसरों को उसके द्वारा सजा दिलवाने के रूप में। उक्त घटना में ईश्वर घातक से दूसरे का घात कराता है, क्योंकि उसे उसके द्वारा दूसरे को सजा दिलानी है किंतु घातक की जिस दुर्बुद्धि के कारण वह पर का घात करता है उस बुद्धि को दुष्ट करने वाले कर्मो का उसे क्या फल मिला। अतः ईश्वर को कर्मफलप्रदाता मानने में इसी तरह अन्य भी अनेक अनुपपत्तियां खड़ी होती हैं।

किसी कर्म का फल हमें तत्काल मिल जाता है, किसी का कुछ समय बाद

मिलता है और किसी का इस जन्म में मिलता नहीं। इसका क्या कारण है? कर्मफल के भोग में यह समय की विषमता क्यों देखी जाती है। ईश्वरेच्छा के सिवाय इसका कोई संतोषजनक समाधान ईश्वरवादियों की ओर से नहीं मिलता। किंतु कर्म में ही फलदान की शक्ति मानने वाला जैन कर्म-सिद्धान्त उक्त प्रश्नों का बुद्धिगम्य समाधान करता है।[19]

संदर्भ

1 एक द्रव्यगुणं संयोग विभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्-1.7 सभाष्य वैशेषिक दर्शन-4.35
2 उत्क्षेपणं ततोऽवक्षेपणमाकुंचनं तथा। प्रसारणं च गमन कर्माण्येतानि पंच च।।--सि मुक्तावली।
3. सम्यक्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ। तिष्ठति संस्कारवशाचक्रभ्रमिवद् धृत शरीरः।— सांख्यतत्त्व कौमुदी 67
4 योग' कर्मसु कौशलम्, 5 कर्मज्यायो ह्यकर्मणः।। गीता 3,8
6 क्लेशमूल कर्माशय. दृष्टादृष्टजन्यवेदनीय सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा । ते ह्लाद परितापफला' पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।। योगसूत्र 2.12, 14 'कर्माशुक्लकृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' योगदर्शन—कैवल्यपाद 7
7 यो ह्यम देव-मनुष्य-तिर्यग्भूमिषु शरीरसर्गः, यश्च प्रतिविषय बुद्धिसगे., यश्चात्मना सह मनसा संसर्ग' स सर्वः प्रवृत्तेरेव परिणामविभव.। प्रवृत्तेश्च सर्वस्याः क्रियात्वात् क्षणिकत्वेऽपि तदुपहितो धर्माधर्मशब्दवाच्य आत्मसंस्कार कर्मफलोपभोग्गपर्यन्त स्थितिरस्त्येव।। न्यायमंजरी, पृ 70
8. अंगुत्तरनिकाय, मिलिन्दप्रशन 81, 9. डॉ. राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, 2/142, 10. वही, 1/128, 11. वही, 1/129, 12 डॉ. श्री नारायण मिश्र . भारतीय दर्शन, 13. न्यायसूत्र, 4/45, 47, 14. आचार्य विद्यानन्दि : अष्टसहस्त्री, पृ. 268-273
15 ससारोऽयं नैकस्वभावेश्वरकृत', तत्कार्यसुख-दु.खादि वैचित्र्यात्। न हि कारणस्यैकरूपत्वके कार्यनानात्वं युक्तं शालिबीजवत्।। अष्टशती, 16. अष्टशती कारिका, 99, 17. डॉ भागचन्द भास्कर का 'दर्शन भारती' पत्रिका में प्रकाशित बौद्ध दर्शन में ईश्वर मीमांसा लेख, पृ. 57
18. डॉ. श्रीयासंकुमार सिंघई का 'दर्शन भारती' पत्रिका में प्रकाशित ईश्वरवाद और जैनकर्म सिद्धान्त, लेख पृ. 113, 19. पं. कैलाशचन्द शास्त्री द्वारा लिखित गोम्मटसार कर्मकाण्ड की प्रस्तावना, पृ. 16-18

—डॉ. अशोक कुमार जैन
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, राजस्थान

वैयाकरण पूज्यपाद और सर्वार्थसिद्धि

—डॉ. कमलेश कुमार जैन

आचार्य पूज्यपाद विक्रम की छठी शताब्दी के विद्वान् हैं। ये पूज्यपाद, जिनेन्द्रबुद्धि और देवनन्दी अथवा देव इन तीन नामों से जाने जाते हैं। परवर्ती आचार्यो ने इन्हीं नामों से उनका स्मरण एवं गुणगान किया है। वस्तुतः आचार्य पूज्यपाद का मूल नाम देवनन्दी है, किन्तु बुद्धि की महत्ता के कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये एवं देवताओं द्वारा उनके पादयुगल पूजे जाने के कारण वे पूज्यपाद कहलाये।[1] और यही प्रतिष्ठापरक नाम उनका सर्वाधिक प्रचलित एवं मान्य है।

आचार्य पूज्यपाद के पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। ये कर्नाटक स्थित 'कोले' नामक ग्राम के निवासी थे और ब्राह्मण कुल के भूषण थे।[2] बाद में इनके पिता माधवभट्ट ने अपनी पत्नी श्रीदेवी के आग्रह से जैनधर्म स्वीकार कर लिया था[3] और आ. पूज्यपाद भी परम्परा से जैनधर्म में दीक्षित हो गये।

आचार्य पूज्यपाद एक उत्कृष्ट वैयाकरण के साथ ही महान् कवि और दार्शनिक भी हैं। उनके द्वारा लिखे गये इष्टोपदेश, समाधितन्त्र, दशभक्तियों (उपलब्ध सात भक्तियों) एवं सिद्धिप्रिय स्तोत्र आदि के माध्यम से उनके कविरूप का दर्शन होता है। साथ ही 'सारसंग्रह'[4] नामक दार्शनिक ग्रन्थ (जो आज अनुपलब्ध है) तथा सर्वार्थसिद्धि में पूर्वपक्ष के रूप उल्लिखित नैयायिक, वैशेषिक, साँख्य, वेदान्त और बौद्धदर्शन आदि विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों से उनके दार्शनिक रूप का ज्ञान होता है।

आचार्य पूज्यपाद में विद्वत्ता की दृष्टि से एकसाथ वैयाकरण, कवि और दार्शनिक का जैसा समवाय दिखलाई देता है, वैसा ही विषय की दृष्टि से विचार करें तो वे अध्यात्म-शास्त्र के बहुत गम्भीर और प्रौढ़ अध्येता हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा के आचार्य होने के कारण आचार्य पूज्यपाद पर

आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। समाधितन्त्र और इष्टोपदेश में आचार्य पूज्यपाद ने आत्मा का विवेचन जिस गहराई से प्रस्तुत किया है उससे आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक विचारधारा का सहज ही स्मरण हो आता है।

आचार्य पूज्यपाद संस्कृत भाषा के प्रौढ़ विद्वान् थे। इसकी पुष्टि उनके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र पर लिखित सर्वार्थसिद्धि नामक टीका ग्रन्थ से होती है। क्योंकि इसकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत एवं प्राञ्जल है। टीका ग्रन्थ होते हुये भी सर्वार्थसिद्धि को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। परवर्ती आचार्य भट्टाकलङ्कदेव ने बिना किसी परिवर्तन के इसकी सैकड़ों पंक्तियों को वार्तिक के रूप में आत्मसात् करके आचार्य पूज्यपाद के वैदुष्य को स्वीकार किया है।

आचार्य पूज्यपाद ने तत्कालीन दार्शनिक प्रस्थानों का न केवल गहन अध्ययन किया था, अपितु उनका मन्थन करके जैन सिद्धान्त के आलोक में उनका खण्डन भी किया है। इससे आचार्य पूज्यपाद की तर्कविदग्धता का ज्ञान होता है।

किसी भी भाषा के शुद्ध ज्ञान एवं तद्गत उसके सूक्ष्म रहस्यों को जानने के लिये उस भाषा के व्याकरण को जानना परमावश्यक है। आचार्य पूज्यपाद कोरे संस्कृतज्ञ नहीं थे, अपितु वे परिष्कृत वैयाकरण भी थे। उनके इस वैयाकरण रूप व्यक्तित्व को अनेक पदवर्ती आचार्यो ने रेखाङ्कित किया है। आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में कहा है कि– देव अर्थात् पूज्यपाद के वचनमयतीर्थ अर्थात् शब्दशास्त्र रूप व्याकरण विद्वानों के वचनमल को नष्ट करने वाला है।[5] वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथचरित के प्रारम्भ में कहा है कि–देव अर्थात् पूज्यपाद के द्वारा शब्दों की सिद्धि अच्छी तरह से होती हैं।[6] आचार्य शुभचन्द्र ने अपने पाण्डवपुराण के प्रारम्भ में आचार्य पूज्यपाद को व्याकरण रूपी समुद्र को पार करने वाला कहा है।[7] आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के प्रारम्भ में देवनन्दी को नमस्कार करते हुये कहा है कि–उनके वचन प्राणियों के काय, वचन और मन सम्बन्धी दोषों को दूर करते हैं, अर्थात् उनके वैद्यकशास्त्र से शरीर के, व्याकरणशास्त्र से वचन के और समाधिशास्त्र से मन के विकार दूर हो जाते हैं।[8]

उपर्युक्तअनेक आचार्यो के ये कथन वस्तुतः आचार्य पूज्यपाद के परिष्कृत

वैयाकरण होने के प्रमाण हैं। साथ ही उनके द्वारा लिखा गया जैनेन्द्र व्याकरण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है। इसमें उन्होंने सर्वप्रथम 'सिद्धिरनेकान्तात्' नामक सूत्र देकर यह सिद्ध किया है कि शब्दों की सिद्धि अनेकान्त के द्वारा होती है।[9] इससे उन्होंने जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद का भी समर्थन किया है। मुग्धबोध के कर्त्ता पं. बोपदेव ने जिन आठ महान् व्याकरण-शास्त्रों का उल्लेख किया है, उनमें जैनेन्द्र व्याकरण की भी गणना की गई है। वे लिखते हैं–

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयत्यष्टौ च शाब्दिकाः।।[10]

अर्थात् इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशली, शाकटायन, पाणिनि, अमर और जैनेन्द्र–इन आठ व्याकरणों के रचयिता जयवन्त हों।

इन उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि आचार्य पूज्यपाद की व्याकरणशास्त्र में गहरी पैठ थी। अतः उनके द्वारा चाहे स्वतन्त्र साहित्य-सृजन का कार्य हो अथवा किसी पूर्वाचार्य की कृति पर टीका-लेखन का कार्य हो–सभी में उनकी अप्रतिहत गति थी। और यही कारण है कि जब उन्होंने अध्यात्मशास्त्र विषयक कृतियों की रचना की तो वे अध्यात्म के क्षेत्र में पर्याप्त प्रभावशाली रहीं तथा जब उन्होंने आचार्य उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र पर टीका लिखी तो उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र पर बड़ी गहराई एवं सूक्ष्मदृष्टि से चिन्तन किया और सिद्धान्त रूपी सागर में गोता लगाकर जो रत्न प्राप्त किये उससे जहाँ जिज्ञासुओं को एक नवीन प्रकाश मिला, वहीं उन्होंने आचार्य उमास्वामी के कद को भी निस्संदेह ऊँचा किया है।

आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र की टीका लिखते समय सर्वप्रथम स्वयं को एक लघु संस्कृतज्ञ के रूप में रखकर जन साधारण की ओर से उमास्वामिकृत सूत्रों पर होने वाली शङ्काओं को उपस्थित किया है। तदनन्तर उन्होंने आगम-परम्परा को सुरक्षित रखते हुये सूत्रगत शङ्काओं का निवारण किया है। उन शङ्काओं के निवारण हेतु आचार्य पूज्यपाद का वैयाकरण रूप उभरकर सामने आया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः'[11] इस सूत्र में सूत्रकार ने 'मार्गः' इस पद में एक वचन का प्रयोग किया है, अतः

उसका स्पष्टीकरण करते हुये आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि—

"मार्गः इति चैकवचननिर्देशः समस्तस्य मार्गभावज्ञापनार्थः"

अर्थात् सूत्र में जो 'मार्गः' पद में एकवचन का निर्देश किया है वह सम्यग्दर्शनादि सभी मिलकर मार्ग हैं ऐसा ज्ञान कराने के लिये किया है।

सूत्रगत शब्दों के क्रम निर्धारण में भी आचार्य पूज्यपाद ने तर्क और आगम का सहारा लेकर सूत्रकार के क्रम को उचित ठहराया है। 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' नामक इसी सूत्र में सूत्रकार ने पहले दर्शन और तदनन्तर ज्ञान शब्द रखा है। यहाँ शङ्कार का कहना है कि – ज्ञान पूर्वक दर्शन होने से तथा अल्पाक्षर होने से दर्शन से पूर्व ज्ञान पद देना उचित है। इस पर आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि— **नैतद्युक्तं, युगपदुत्पत्तेः। यदास्य दर्शनमोहस्योपशमात् क्षयात् क्षयोपशमाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शन-पर्यायेणाविर्भवति तदैव तस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञान-निवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत्। अल्पाच्तरादभ्यर्हितं पूर्वं निपतति।**[13] अर्थात् यह कहना युक्त नहीं है कि दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है इसलिये सूत्र में ज्ञान को पहले ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं। जैसे मेघपटल के दूर हो जाने पर सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक साथ व्यक्त होते हैं, उसी प्रकार जिस समय दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से आत्मा सम्यग्दर्शन पर्याय से आविर्भूत होता है उसी समय उसके मत्यज्ञान और श्रुताज्ञान का निराकरण होकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रकट होते हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसा नियम है कि सूत्र में अल्प अक्षर वाले शब्द से पूज्य शब्द पहले रखा जाता है, अतः पहले ज्ञान शब्द को न रखकर दर्शन शब्द को रखा है।

इसी प्रकार कल्पवासी देवों के विमानों का विधान करने वाले— 'सौधर्मैशान-सानत्कुमार....'[14] इत्यादि सूत्र के अन्तर्गत 'नवसु ग्रैवेयकेषु' में तत्त्वार्थसूत्रकार ने असमासान्त पृथक् 'नव' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका आगमिक परम्परा से सामञ्जस्य स्थापित करते हुये वैयाकरण आचार्य पूज्यपाद ने स्पष्ट किया है कि अनुदिश नाम के अन्य नौ विमान और भी हैं और उन्हीं

का ज्ञान कराने के लिये यहाँ नव शब्द का पृथक् उल्लेख किया गया है।[15]

चतुर्थ अध्याय के बत्तीसवें सूत्र—'आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च'[16] में सूत्रकार ने असमस्त पदों का प्रयोग किया है तथा 'नवसु' पद को ग्रहण किया है। 'नव' शब्द के प्रयोग का औचित्य स्थापित करते हुये आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि प्रत्येक ग्रैवेयक में एक एक सागरोपम अधिक उत्कृष्ट स्थिति है इस बात का ज्ञान कराने के लिये 'नव' शब्द को ग्रहण किया है। यदि ऐसा न करते तो सब ग्रैवेयकों में एक सागरोपम अधिक स्थिति ही प्राप्त होती। 'विजयादिषु' में आदि शब्द प्रकारवाची है, जिससे अनुदिश का ग्रहण हो जाता है। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं है, यह बतलाने के लिये सर्वार्थसिद्धि शब्द अलग से ग्रहण किया गया है।[17]

आचार्य पूज्यपाद ने सिद्धान्त की रक्षा हेतु आवश्यकतानुसार सूत्रार्थ पर गम्भीरता से विचार किया है और सूत्रशैली में प्रतिपादित विषय को आगम के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करने का सार्थक प्रयास किया है। तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय के बाइसवें सूत्र—'पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु'[18] का सामान्य अर्थ है—दो, तीन कल्प-युगलों में और शेष में क्रम से पीत, पद्म और शुक्ललेश्या वाले देव हैं। किन्तु इस सामान्य अर्थ से आगम में विरोध आता है, क्योंकि सौधर्म और ऐशान नामक प्रथम पटल में तो पीतलेश्या है, किन्तु सानत्कुमार और माहेन्द्र नामक दूसरे पटल के देवों के पीत और पद्म—ये दो लेश्याएँ होती हैं। इसी प्रकार ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर और लान्तव-कापिष्ठ नामक तीसरे और चौथे पटल में पद्मलेश्या पाई जाती है, किन्तु शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार नामक पाँचवें एवं छठें पटल के देवों में पद्म और शुक्ल – ये दो लेश्याएँ पाई जाती है। तथा आनत-प्राणत एवं आरण-अच्युत नामक सातवें एवं आठवें पटल के तथा ऊपर के देवों में शुक्ललेश्या पाई जाती है। अब यहाँ शङ्का यह होती है कि सूत्र में कहीं भी मिश्र अर्थात् दो लेश्याओं का उल्लेख नहीं है, जबकि आगम के परिप्रेक्ष्य में उपर्युक्त प्रकार से ही विभिन्न पटलों के देवों में लेश्याओं की व्यवस्था है, फिर मिश्र लेश्याओं का ग्रहण कैसे होगा? जिससे आगम-सम्मत व्यवस्था में किसी भी प्रकार का विरोध उपस्थित न हो।[19] इस

पर आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि—साहचर्याल्लोकवत्। तद्यथा-छत्रिणो गच्छन्ति इति अच्छत्रिषु छत्रव्यवहारः। एवमिहापि मिश्रयोरन्यतरग्रहणं भवति।[20] अर्थात् जैसे लोक में साहचर्य सम्बन्ध से छत्रधारियों के साथ छत्रविहीन व्यक्तियों का भी व्यवहार में ग्रहण हो जाता है, वैसे यहॉ पर भी आवश्यकतानुसार दोनों लेश्याओं में से किसी एक लेश्या का ग्रहण हो जायेगा।

कहीं कहीं सूत्र में एक से अधिक बार 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है तो उसकी सूत्र में सार्थकता बताने का भी आचार्य पूज्यपाद ने प्रयास किया है। उदाहरण के लिये तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय का प्रथम सूत्र है—'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च'[21] यहाँ इस सूत्र में जीव के पाँच भावों का उल्लेख किया गया है। अतः सामान्य नियम के अनुसार द्वन्द्व समास करके सूत्र इस प्रकार बनेगा—'औपशामिकक्षायिकमिश्रौदयिकपारिणामिकाः' किन्तु सूत्रकार ने एक समस्त पद न बनाकर सूत्र में एकाधिक पदों का समावेश किया है और दो चकारों का प्रयोग किया है।[22] इसके औचित्य को आचार्य पूज्यपाद ने व्याकरण के माध्यम से स्पष्ट करते हुये लिखा है—नैवं शङ्क्यम्, अन्यगुणापेक्षया इति प्रतीयेत। वाक्ये पुनः सति 'च' शब्देन प्रकृतोभ्यानुकर्षः कृतो भवति।[23] अर्थात् ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि यदि सूत्र में 'च' शब्द न रखकर द्वन्द्व समास करते तो मिश्र की प्रतीति अन्य गुण की अपेक्षा होती, किन्तु वाक्य में 'च' शब्द के रहने पर उससे प्रकरण में आये हुये औपशमिक और क्षायिकभाव का अनुकर्षण हो जाता है। इसी प्रकार उपर्युक्त सूत्र में ही शङ्काकार का कहना कि—भावों के लिङ्ग और संख्या के समान स्वतत्त्व पद का वही लिङ्ग और संख्या प्राप्त होती है— भावापेक्षया तल्लिङ्गसंख्याप्रसङ्गः स्वतत्त्वस्येति च?[24] आचार्य पूज्यपाद इसका समाधान करते हुये कहते हैं कि—'न', उपात्तलिङ्गसंख्यत्वात्। तद्भावस्तत्त्वम्। स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वमिति।[25] अर्थात् नहीं, क्योंकि जिस पद को जो लिङ्ग और संख्या प्राप्त हो गई है उसका वही लिङ्ग और संख्या बनी रहती है। स्वतत्त्व का अर्थ है स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वम् — जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व है और स्व तत्त्व स्वतत्त्व है।

इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय का इकतीसवाँ सूत्र है—

'त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु'[26] – यहाँ इस सूत्र में सूत्रकार ने ब्रह्म-बह्मोत्तर नामक तीसरे पटल से आरण-अच्युत नामक आठवें पटल तक के कल्पवासी देवों की उत्कृष्ट आयु का उल्लेख किया है और बतलाया है कि इन पटलों के देवों की आयु पूर्व सूत्र से गृहीत सात सागर सहित क्रमशः तीन, सात, नौ, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह सागर अर्थात् क्रमशः दश, चौदह, सोलह, अठारह, बीस और बाइस सागर कही है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि मूल सूत्र में 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो सामान्यतया सूत्र में अलग-थलग दिखलाई दे रहा है, किन्तु उसका यहाॅ विशेष प्रयोजन है, जिसका स्पष्टीकरण करते हुये आचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि– 'अधिकंशब्दोऽनुवर्तमानश्चतुर्भिरभिसंबध्यते नोत्तराभ्यामित्ययमर्थो विशिष्यते। तेनायमर्थो भवति – ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोर्दशसागरोपमाणि साधिकानि। लान्तवकापिष्ठयोश्चतुर्दश सागरोपमाणि साधिकानि। शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशसागरोपमाणि साधिकानि। शतार-सहस्रारयोरष्टादशसागरोपमाणि साधिकानि। आनतप्राणतयोर्विंशति सागरोपमाणि। आरणाच्युतयोर्द्वाविंशति सागरोपमाणि।[27] अर्थात् यहाँ 'तु' शब्द के प्रयोग से यह जानकारी मिलती है कि पूर्व सूत्र से यहाँ जो अधिक शब्द की अनुवृत्ति हुई है उसका सम्बन्ध त्रि आदि चार शब्दों से ही होता है, अन्त के दो स्थिति विकल्पों से नहीं। इससे यहाँ यह अर्थ ध्वनित होता है कि–ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर में साधिक दश सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। लान्तव और कापिष्ठ में साधिक चौदह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। शुक्र और महाशुक्र में साधिक सोलह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। शतार और सहस्रार में साधिक अठारह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। आनत और प्राणत में बीस सागरोपम स्थिति है तथा आरण और अच्युत में बाइस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार उमास्वामी ने सूत्रों में जिन-जिन रहस्यों का समावेश किया है तथा जन साधारण की पकड़ से बाहर हैं उन उन रहस्यों को आचार्य पूज्यपाद ने अपने व्याकरण ज्ञान के माध्यम से प्रकट करने का भरसक प्रयास किया है और उसमें वे पूरी तरह सफल भी हुये हैं। यतः तत्त्वार्थसूत्र की संस्कृत टीकाओं में आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि

सर्वाधिक प्राचीन टीका है, अतः इसका और भी महत्त्व बढ़ जाता है। इसी कारण उनके इस वैयाकरण रूप को रेखाङ्कित करने वाले कतिपय उदाहरण ही यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। विस्तार के लिये सुधीजनों को मूल ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिये। तभी इसके सम्पूर्ण रहस्यों को जाना जा सकता है।

ग्रन्थ-सन्दर्भ

1 यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो, बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभि, र्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्।। —जैन शिलालेख सग्रह, भाग 1, पृष्ठ 25
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 2, पृ. 219-220
3. वही, पृष्ठ 200
4. सारसग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादै· — अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति। — षट्खण्डागम, धवलाटीका, पुस्तक 9, पृष्ठ 160
5. कवीना तीर्थकृद्देवः कितरा तत्त्व वर्ण्यते।
विदुषा वाङ्मलध्वसि तीर्थ यस्य वचोमयम्।। — महापुराण, पर्व 1, पद्य 52
6. अचिन्त्यमहिमा देव· सोऽभिवन्धो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्व प्रतिलम्भिताः।। — पार्श्वनाथचरितम् 1/18
7. पूज्यपादः सदापूज्यपाद· पूज्यै· पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुण ।। — पाण्डवपुराण 1/16
8. अपाकुर्वन्ति यद्वाच· कायवाक् चित्तसम्भवम्।
कलङ्कभङ्गिमा सोऽयं देवनन्दी नमस्यते।। —ज्ञानार्णव 1/15
9. जैनेन्द्र व्याकरण 1/1/1
10. 'सस्कृत-प्राकृत जैन व्याकरण और कोश की परम्परा' के अन्तर्गत संस्कृत के जैन वैयाकरण एक मूल्याङ्कन —डॉ गोकुलचन्द्र जैन पृष्ठ 42
11. तत्त्वार्थसूत्रम् 1/1, 12 सर्वार्थसिद्धि 1/1 की टीका, 13. सर्वार्थसिद्धि 1/1 की टीका, 14. तत्त्वार्थसूत्रम् 4/19, 15. सर्वार्थसिद्धि 4/19 की टीका, 16. तत्त्वार्थसूत्रम् 4/32, 17. सर्वार्थसिद्धि 4/32 की टीका, 18. तत्त्वार्थसूत्रम् 4/22, 19. सर्वार्थसिद्धि 4/22 की टीका, 20 सर्वार्थसिद्धि 4/22 की टीका, 21. तत्त्वार्थसूत्रम् 2/1, 22. सर्वार्थसिद्धि 2/1 की टीका, 23. सर्वार्थसिद्धि 2/1 की टीका, 24. सर्वार्थसिद्धि 2/1 की टीका, 25. सर्वार्थसिद्धि 2/1 की टीका, 26. तत्त्वार्थसूत्रम् 4/31, 27. सर्वार्थसिद्धि 4/31 की टीका

— रीडर एवं अध्यक्ष, जैन-बौद्धदर्शन विभाग,
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सल्लेखना : एक विश्लेषण

—डॉ. बसन्तलाल जैन

भारतीय मनीषियों ने मानव जीवन को सफलतापूर्वक निर्वाह करने को जीवन जीने का कला बताया है, लेकिन मृत्यु के समय मरण का कैसे स्वागत किया जाए या मृत्यु को महोत्सव रूप में कैसे सम्पन्न करें, इसके सम्बन्ध में कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया है। मात्र जैनदर्शन ही मृत्यु-महोत्सव विधान प्रस्तुत करता है। जैन-दर्शन का मानना है कि मृत्यु शाश्वत सुख को उत्पन्न करने वाली है, इसलिए इसका मांगलिक महोत्सव मनाया जाता है, जो प्रशंसा के योग्य है।

जब समतापूर्वक जीवन यापन करते समय मरण अवश्यंभावी हो, तब बिना किसी खेद-खिन्नता के स्वयं अपने शरीर से ममत्व रहित होकर क्रमशः चार प्रकार का आहार-त्याग करते हुए धर्म-ध्यान में मन को एकाग्र करने की विधि को जैन दर्शन में 'सल्लेखना' नाम दिया गया है।

भगवती आराधना के टीकाकार लिखते हैं कि "प्राणधारण करने को जीवन कहते हैं, वह आयु के अधीन है, मेरी इच्छा के अधीन नहीं है। मेरी इच्छा होने पर भी प्राण नहीं ठहरते है। सम्पूर्ण जगत् चाहता है कि उसके प्राण बने रहें, किन्तु वे नहीं रहते हैं।[1] अतः आगामी पर्याय अच्छी हो, इसलिए विधि-पूर्वक शरीर-त्याग में प्रसन्नता होनी चाहिए।

सल्लेखना की व्याख्या – सल्लेखना पद 'सत्' और 'लेखना' शब्दों से बना है। सत् का अर्थ है—सम्यक्, और लेखना का अर्थ है—कृश करना, अर्थात् सम्यक् प्रकार से कृश करना। दूसरो शब्दों में काया और कषाय को अच्छी प्रकार से कृश करना सल्लेखना है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'सम्यक्काय-कषाय-लेखना' को और आचार्य श्रुतसागर ने "सत् सम्यक् लेखनाकायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं" को सल्लेखना कहा है।

मरणकाल के उपस्थित होने पर ही सल्लेखना धारण की जाती है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है कि– 'मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता।'[2] अर्थात् मरण काल आने पर गृहस्थ को प्रीति पूर्वक/विधिपूर्वक सल्लेखना धारण करनी चाहिए। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में लिखा है कि–

> **''उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निः प्रतीकारे।**
> **धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।।''[3]**

अर्थात् प्रतिकार रहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए दुर्भिक्ष जरा तथा रोग की दशा में और ऐसे दूसरे किसी कारण के उपस्थित होने पर जो धर्मार्थ देह का संत्याग है, उसे सल्लेखना कहते हैं। मानव शरीर धर्म करने का साधन है इसलिए यदि वह धर्म-साधन में सहायक होता है तो उसे त्यागना नहीं चाहिए और जब वह शरीर धर्म में बाधक बन जाय तो शरीर के ममत्व को छोड़कर धर्म की ही रक्षा करनी चाहिए। शरीर के ममत्व को त्यागकर समतापूर्वक देहत्याग करना ही समाधिमरण या सल्लेखना है।

काय और कषाय को क्षीण करने के कारण सल्लेखना दो प्रकार मानी जाती है– 1. काय सल्लेखना–जिसे बाह्य सल्लेखना भी कहते हैं और 2. कषाय सल्लेखना–जिसे आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। इन दोनों भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि ''कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण-सम्यग्लेखना सल्लेखना''[4] अर्थात् बाहरी शरीर और भीतरी कषायों के पुष्ट करने वाले कारणों को शनैः-शनैः घटाते हुए उनको भली प्रकार कृश करना सल्लेखना है। आचार्य श्रुतसागर जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि–'कायस्य लेखना वाह्य सल्लेखना। कषायाणां सल्लेखना अभ्यन्तरा सल्लेखना।।''[5] अर्थात् काय की सल्लेखना बाह्य सल्लेखना और कषायों की सल्लेखना आभ्यन्तर सल्लेखना कही जाती है। काय बाह्य सल्लेखना और कषाय आन्तरिक सल्लेखना है।

समाधिमरण और सल्लेखना में एकरूपता :- जैन शास्त्रों में सल्लेखना और समाधिमरण पर्यायवाची शब्द माने गये हैं। दोनों की क्रिया-प्रक्रिया और

नियम-उपनियम एक से हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार के छठे अधिकार की पहली कारिका में सल्लेखना का लक्षण लिखा है और दूसरी कारिका में उसके लिए समाधिमरण का प्रयोग किया है। श्री शिवकोटि आचार्य ने भगवती आराधना में अनेकों स्थानों पर सल्लेखना और समाधिमरण का प्रायः एक अर्थ में प्रयोग किया है। आचार्य उमास्वामी ने श्रावक और मुनि दोनों के लिए सल्लेखना का प्रतिपादन कर मानों सल्लेखना ओर समाधिमरण का भेद ही मिटा दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने समाधिमरण साधु के लिए और सल्लेखना गृहस्थ के लिए माना है। मरण के समय एक साधु शुद्ध आत्मस्वरूप पर अपने मन को जितना एकाग्र कर सकता है, उतना गृहस्थ नहीं। इस समय तक साधु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा समाधिमरण करने में निपुण हो चुकता है। समाधि में एकाग्रता अधिक होती है।

समाधिमरण और उसके भेद :- समाधिमरण दो शब्दों के मेल से बना है– समाधि और मरण। इसका अर्थ है– समाधिपूर्वक मरण। शुद्ध आत्मस्वरूप पर मन को केन्द्रित करते हुए प्राणों का विसर्जन समाधिमरण कहलाता है। यदि जीवन के अन्त समय में राग द्वेष को छोड़कर समाधि न धारण की जायें तो जीवन भर की तपस्या व्यर्थ मानी जाती है। आचार्य समन्तभद्र का कथन है–

अन्तक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणेप्रयतितव्यम्।।[6]

अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य भी यदि मरण के समय उस धर्म की विराधना कर बैठता है तो वह संसार में अनन्त काल तक घूम सकता है। समाधिमरण का विधान सभी के लिए है।

समाधिमरण के पांच भेद हैं– पण्डित पण्डित, पण्डित, बालपण्डित, बाल और बाल-बाल। इनमें से प्रथम तीन अच्छे और अवशिष्ट दो अशुभ हैं। बाल-बाल मरण मिथ्यादृष्टि जीवों के, बाल-मरण अविरत सम्यक् दृष्टियों बाल-पण्डितमरण देशव्रतियों के, पण्डितमरण सकल संयमी साधुओं के और पण्डित-पण्डित मरण क्षीण कषाय केवलियों के होता है। पण्डित मरण के तीन

भेद हैं– पहला भक्त-प्रत्याख्यान कहलाता है। भक्त नाम भोजन का है, उसे शनैः शनैः छोड़कर जो शरीर का त्याग किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। भक्तप्रत्याख्यान करने वाला साधु अपने शरीर की सेवा अपने हाथ से भी करता है, और यदि दूसरा करे तो उसे भी स्वीकार कर लेता है। दूसरा इंगिनीमरण है, जिसमें और तो सब भक्त-प्रत्याख्यान के समान ही होता है किन्तु दूसरे के द्वारा वैय्यावृत्ति स्वीकार नहीं की जाती है। तीसरा प्रायोपगमन मरण है। इसे धारण करने वाले के लिए किसी भी प्रकार की वैय्यावृत्ति का प्रश्न नहीं उठता। इसमें तो मरण-पर्यन्त प्रतिमा के समान किसी शिलापर तदवस्थ रहना होता है।

समाधिमरण आत्मघात नहीं है :- कुछ मनीषियों ने जैन मुनि के समाधिमरण को आत्मघात माना है। आत्मघात का शाब्दिक अर्थ है–आत्मा का घात। किन्तु जैन दर्शन ने आत्मा को शाश्वत सिद्ध किया है आत्मा एक रूप से त्रिकाल में रह सकने वाला नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थ की उत्पत्ति किसी भी संयोग से न हो सकती हो वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी भी संयोग से उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि जड़ के चाहे कितने भी संयोग क्यों न करे, तो भी उसमें चेतन की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। भावलिंगी मुनि सदैव विचार करता है कि "मेरी आत्मा एक है, शाश्वत है और ज्ञान-दर्शन ही उसका लक्षण है। अन्य समस्त भाव बाह्य हैं।[7] इस भांति नित्य आत्मा का घात किसी भी दशा में सम्भव नहीं है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने राग-द्वेष या मोह के कारण, विष शस्त्र या अन्य किसी उपाय से अपने इस जीवन को समाप्त करने को आत्मघात बताया है। किन्तु जैन मुनि की समाधि न तो राग-द्वेष का परिणाम है और न मोह का भावावेश। जैनाचार्यो ने समाधिमरण धारण करने वाले से स्पष्ट कहा है कि यदि रोगादि कष्टों से घबड़ाकर शीघ्र ही समाप्त होने की इच्छा करोगे अथवा समाधि के द्वारा इन्द्रादिपदों की अभिवाञ्छा करोगे तो तुम्हारी समाधि विकृत है।[8] इससे लक्ष्य तक न पहुँच सकोगे। मृत्यु के समय समाधिमरण करने वाले जीव का भाव अपने को समाप्त करना नहीं, अपितु शुद्ध आत्म चैतन्य को उपलब्ध करना होता है। वह मृत्यु को बुलाने का प्रयास नहीं करता, अपितु वह स्वयं आती है। उसका समाधिमरण आने वाले के

स्वागत की तैयारी मात्र है।

समाधिमरण में चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए शरीर के मोह को छोड़ना होता है। किन्तु शरीर का मोह त्याग और आत्मघात दोनों एक बात नहीं है। पहले में संसार की वास्तविकता को समझकर शरीर से ममत्व हटाने की बात है और दूसरे में संसार से घबड़ाकर शरीर को समाप्त करने का प्रयास है। पहले में सात्विकता है, तो दूसरे में तामसिकता एक में ज्ञान का प्रकाश है तो दूसरे में अज्ञान का अन्धकार। मोह-त्याग संयम है तो आत्मघात में असंयम। समाधिमरण का उद्देश्य मोह त्याग भी नहीं अपितु आत्मानन्द प्राप्त करना है। आत्म स्वरूप पर मन को केन्द्रित करते ही मोह तो स्वयं ही दूर हो जाता है।[9] उसे नष्ट करने का प्रयास नहीं करना पड़ता। परमसमाधि में तो सभी इच्छाएं विलीन हो जाती है यहां तक कि आत्मा के साक्षात्कार की अभिलाषा भी नही रहती। इसके अतिरिक्त जैनागमों में आयुकर्म को बहुत प्रबल माना गया है। चार घातिया कर्मो को जीतने वाले अर्हन्त को भी आयु-कर्म के बिलकुल क्षीण होने तक इस संसार में रुकना पड़ता है।

सल्लेखना की समय-सीमा :- आचार्य नेमीचंद सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है कि भक्त-प्रत्याख्यान अर्थात् भोजनत्याग (अन्न, खाद्य, लेह्य पदार्थो के त्याग) की प्रतिज्ञा करके जो संन्यास मरण होता है, उसका जघन्य काल प्रमाण अन्तर्मुहूर्त मात्र है एवं उत्कृष्टतम कालप्रमाण बारहवर्ष है तथा अन्तर्मुहूर्त से लेकर बारह वर्ष पर्यन्त जितने भी समय भेद है वे सब सल्लेखना के मध्यमकाल के भेद हैं।[10]

सल्लेखना विधि :- सल्लेखना की विधि में कषायों को कृश् करने का उपाय बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि साधक को सर्वप्रथम अपने कुटुम्बियों, परिजनों एवं मित्रों से मोह, अपने शत्रुओं से बैर तथा सब प्रकार के बाह्य पदार्थों से ममत्व का शुद्धमन से त्यागकर मिष्ट वचनों के साथ अपने स्वजनों और परिजनों से क्षमा याचना करनी चाहिए तथा अपनी ओर से भी उन्हें क्षमा कर देना चाहिए। उसके बाद किसी योग्य गुरु के पास जाकर कृत, कारित, अनुमोदन से किये गये सब प्रकार के पापों की छल रहित आलोचना कर

मरणपर्यन्त के लिए महाव्रतों को धारण करना चाहिए। उसके साथ ही उसे सब प्रकार के शोक, भय, सन्ताप, खेद, विषाद, कालुष्य, अरति आदि अशुभ भावों को त्यागकर अपने बल, वीर्य, साहस और उत्साह को बढ़ाते हुए गुरुओं के द्वारा सुनाई जाने वाली अमृतवाणी से अपने मन को प्रसन्न रखना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कषायों को कृश करने के साथ अपनी काया को कृश करने के लिए सर्वप्रथम स्थूल आहार का त्याग करना चाहिए तथा दुग्ध छाछ आदि पेय पदार्थो पर निर्भर रहने का अभ्यास बढ़ाना चाहिए। धीरे-धीरे जब दूध छाछ आदि पर रहने का अभ्यास हो जाए तब उनका भी त्यागकर मात्र गर्म जल ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार चित्त की स्थिरतापूर्वक अपने उक्त अभ्यास और शक्ति को बढ़ाकर धीरजपूर्वक अन्त में जल का भी त्याग कर देना चाहिए और अपने व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए पंच नमस्कार मंत्र के स्मरण के साथ ही शांतिपूर्वक देह का त्याग करना चाहिए।

सल्लेखना के लिए स्थान :- अरिहन्त एवं सिद्धों का मंदिर, जहां पर अरिहन्त सिद्ध आदि की प्रतिमायें हैं– ऐसे पर्वत आदि स्थान, कमल युक्त तालाब, समुद्र तट का प्रदेश, दूध वाले वृक्षों से युक्त स्थान, फूल-फलों से लदे हुए वृक्षों से सुशोभित जगह, उद्यान, तोरण द्वारों से सज्जित घर, नागों के घर के समीप एवं यक्षादि का स्थान सल्लेखना लेने वाले व्यक्ति के लिए पवित्र स्थल है।[11] सल्लेखना के लिए पूर्व, उत्तर दिशा को ही श्रेष्ठ दिशा मानकर उसी दिशा में भूमि पर, शिलातल पर अथवा साफ रेत पर सल्लेखना ग्रहण करनी चाहिए।[12]

सल्लेखना धारण करने की आवश्यकता :- काय और कषायों को अच्छी तरह कृश् करने की विधि को सल्लेखना कहा गया है। सल्लेखना के समय काय और कषाय को कृश् करके संन्यास धारण करना यही जीवन भर के तप का फल है। जीवन भर साधना करते रहने के बाद यदि सल्लेखना पूर्वक मरण नहीं हो पाता तो साधना का वास्तविक फल नहीं मिल पाता है। इसलिए प्रत्येक साधक को सल्लेखना अवश्य करनी चाहिए।

सल्लेखना के अतिचार :- जैनाचार्यो ने जीविताशंसा, मरणाशंसा, भय,

मित्रानुराग और निदान सल्लेखना के ये पांच अतिचार बताये हैं।[13] सल्लेखना धारी साधक को अपनी सेवा शुश्रुषा होती देखकर अथवा अपनी इस साधना से बढ़ती हुई प्रतिष्ठा के लोभ में और अधिक जीने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। मैंने आहारादि का त्याग तो कर दिया है किन्तु मैं अधिक समय तक रहूँ तो मुझे भूख-प्यास आदि की वेदना भी हो सकती है, इसलिए अब और अधिक न जीकर शीघ्र ही मर जाऊँ तो अच्छा होगा, इस प्रकार मरण की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। सल्लेखना धारण कर ली है, पर ऐसा न हो कि क्षुधा आदि की वेदना बढ़ जाये और मैं उसे सह न पाऊँ, इस प्रकार का भय भी मन से निकाल देना चाहिए। अब तो मुझे संसार से विदा होना है किन्तु एक बार मैं अपने अमुक मित्र से मिल लेता तो बहुत अच्छा होता इस प्रकार का भाव मित्रानुराग है। साधक को इससे बचना चाहिए। मुझे इस साधना के प्रभाव से आगामी जन्म में विशेष भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त हो; इस प्रकार का विचार करना निदान है। साधक को इससे बचना चाहिए। जीने मरने की चाह, भय, मित्रों से अनुराग और निदान ये पांचों सल्लेखना को दूषित करने वाले अतिचार हैं, अतः साधक को इनसे बचना चाहिए। जो एक बार अतिचार रहित होकर सल्लेखना पूर्वक मरण करता है, वह अति शीघ्र मोक्ष पाता है। इसलिए प्रत्येक साधक श्रावक और मुनि दोनों को जीवन के अन्त में प्रीति एवं समता पूर्वक सल्लेखना धारण करने का उपदेश दिया गया है।

सन्दर्भ

1. भगवती आराधना, विजयोदया टीका गाथा 21 पृष्ठ 43, 2. तत्त्वार्थसूत्र 7/22, 3. रत्नकरण्डक श्रावकाचार —आ. समन्तभद्र-5/1, 4. सर्वार्थसिद्धि 7/22 पृष्ठ 363, 5. तत्त्वार्थवृत्ति, 7/22 पृष्ठ 244, 6. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, आ. समन्तभद्र 5/2, 7. भाव प्राभृत गाथा 59, 8. तत्त्वार्थसूत्र 7/37, 9. परमात्मप्रकाश दोहा पृष्ठ 328, 10.गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 60

11. "अरिहन्त सिद्धसागर-पउमसरं खीरपुफ फलभरिदं।
उज्जाण-भवण-तोरण-पासादं णाग-जक्खघरं।।" —मूलराधना गाथा 560

12. "उत्तरपुव्वा पुज्जा" वृहद् कल्प सूत्र, सूत्र 457, 13. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, आ. समन्तभद्र 5/8

— श्री दि. जैन श्रमण संस्कृति संस्थान
वीरोदयनगर सांगानेर, जयपुर (राज.)

जीवन की सरलता ही मृदुता है

— प्रो. भागचन्द्र जैन

उत्तम क्षमाधर्म यदि जीवन में आ जाये तो आम मार्दव-धर्म स्वतः आ जाता है। क्रोध की उत्पत्ति अहङ्कार पर चोट लगने से होती है। अहङ्कार यदि समाप्त हो जाये तो मृदुता, सरलता और विनय अपने आप आ जाती है। इसलिए मार्दव का प्रतिपक्षी मान है और उसके विगलित हो जाने पर विनय गुण का आविर्भाव होता है।

मूल्याङ्कन का पैमाना हर एक का अलग-अलग होता है। यह पैमाना उसके संस्कारों और भावों पर निर्भर करता है। उनसे ही उसकी पसन्दगी का पता चल जाता है। धर्म की ओर कदम बढ़ाने के लिए और उस पर स्थिर रहने के लिए भी वैसे ही संस्कारों की अपेक्षा होती है। साधना में रचा-पचा व्यक्ति ऐसे संस्कार देने में सक्षम होता है। वह साधना नये आयाम खोलती है और रूपान्तरण की प्रक्रिया को जन्म देती है। वह अहं से अर्ह बना देती है और अन्तर से स्फुटित होकर जीवन का कायाकल्प कर देती है। विजातीय तत्त्व के अलग होने पर ही प्रस्तर प्रतिमा का रूप लेता है। ज्ञेय, हेय और उपादेय को जान लेने पर ही 'कोऽहं' का उत्तर मिल पाता है। तभी मान लेप की भांति झरने लगता है।

संकल्प और जागरण :- किसी भी काम को पूरा करने में चार चरणों को पार करना पड़ता है—इच्छा, आकांक्षा, संकल्प और भावना। भरत ने बाहुबली से युद्ध करने का निश्चय इसी क्रम से किया और अन्त में इच्छा को विजयी बनाया। मान जैसे राक्षस से मुक्त होने के लिए भी इसी क्रम को अपनाना पड़ेगा और इस महापथ पर चलते-चलते भयानक मानसिक संघर्षों से भी लोहा लेना पड़ेगा।

अंधकार से भरे जीवन में जागरण एक अमूल्य औषधि के रूप में आता

है और मान का दुष्परिणाम एक नया अनुभव दे जाता है, जिससे आस्था का निर्माण होता है। संकल्प का जागरण भी तभी हो पाता है। वैद्यराजों द्वारा अनेक प्रयत्न करने के बावजूद सिरदर्द दूर न होनें पर क्रोधित होकर राजा भोज ने आयुर्वेद के ग्रन्थों की आहुति दे दी। लेकिन जीवक ने उसके सिर में से मछली निकालकर जब दर्द दूर कर दिया तो उसके मन में आयुर्वेद के प्रति पुनः आस्था जाग गई। अतः किसी कार्य की प्रतिपत्ति होने के लिए आस्था का निर्माण अत्यावश्यक हो जाता है। मृदुता लाने के लिए साधक में इसी आस्था, पुरुषार्थ और आत्मनिरीक्षण की जरूरत होती है।

मार्दव का अर्थ :- मार्दव-धर्म का विरोधी भाव मान है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शील में से किसी पर भी अभिमान नहीं करना मार्दव-धर्म है–

कुल-रूव-जादि-बुद्धिसु, तब-सुद-सीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स।। (बा. अ. 72)

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार (1.25) में ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और वपु इन आठ मदों से विरहित को मार्दव माना है। उमास्वामी ने कुल, रूप, जाति और श्रुत के बाद ऐश्वर्य, विज्ञान, लाभ और वीर्य को गिनाकर दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा को निग्रह करने को मार्दव-धर्म माना है। चारित्रसार (पृ. 28) में भी लगभग यही बात कही गयी है। अकलंक ने इसमें यह और जोड़ दिया कि दूसरे के द्वारा परिभव के निमित्त उपस्थित किये जाने पर भी अभिमान का अभाव होना मार्दव-धर्म है (त. वा. , 1.6)। आवश्यकचूर्णि, दशवैकालिकचूर्णि (पृ. 18), कार्तिकेयानुप्रेक्षा (315) आदि ग्रन्थों में भी मार्दव-धर्म का वर्णन लगभग इसी प्रकार मिलता है।

स्थानाङ्ग में आये लाघव धर्म (10.16) को किसी सीमा तक मार्दव में सम्मिलित किया जा सकता है। यद्यपि लाघव का अर्थ उपकरण की अल्पता है पर वहां ऋद्धि, रस और सात (सुख) इन तीन गौरवों का जो त्याग बताया गया है (प्रवचनसारोद्धार, वृत्ति पत्र 135) वह त्याग मार्दव की सीमा में आ

जाता है। गौरव का अर्थ यहाँ अभिमान है।

आत्मा का स्वभाव :- मार्दव-धर्म आत्मा का स्वभाव है और उसका विरोधी भाव मान उसका विभाव है। मान-सम्मान की आकांक्षा के पीछे अहङ्कार का भाव रहता है। वह न मिलने पर अहङ्कारी दुःख और अपमान का अनुभव करता है और दूसरे का अपमान कर उसका बदला लेता है। उसके अहङ्कार की तृप्ति समाज में पहुंचकर होती है। वह समाज नैतिक होगा या धार्मिक होगा; पर उसकी नैतिकता और धार्मिकता के पीछे अहङ्कारी का अहङ्कार तृप्त हुए बिना नहीं रहेगा।

समाज धार्मिक कम होता है, नैतिक अधिक होता है। नीति का लबादा ओढ़े वह कर्तव्य की बात करता है। व्यक्ति माता-पिता की सेवा तो नहीं करना चाहता पर समाज अंगुलि न उठाये इसलिए कर्तव्य मानकर वह सेवा करता है। ऐसी सेवावृत्ति में उसे आनन्द नहीं आता; क्योंकि वह सेवा भीतर से नहीं होती, उसे वह धर्म नहीं मानता। अतः धर्म और नीति दोनों अलग-अलग तत्त्व हैं। विवेक इन सभी के ऊपर है। सारी बीमारियां और बुराइयां विवेकहीनता में होती हैं। विवेक उस बेहोशी को और अहङ्कार को दूर कर देता है। यही विवेक सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान में शुष्क बुद्धि काम नहीं करती, जागरण काम करता है जिसे आत्मा का स्वभाव कहा जा सकता है।

अहङ्कार : प्रकृति और परिणाम :- अहङ्कार शक्ति की खोज में रहता है, धर्म की खोज में नहीं। शक्ति की खोज में सतत् घूमने वाले नेपोलियन, हिटलर जैसे लोग भी अन्त में हाथ खोलकर चल बसे। उनकी यात्रा शक्ति की यात्रा थी, पर धर्म की यात्रा अन्तर की यात्रा है। शक्ति की यात्रा में अहङ्कार फलता-फूलता रहता है, वहाँ न सत्य की खोज हो पाती है और न तपस्या ही पूरी हो पाती है। वह तो दूसरे में दोष देखता है और स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, निन्दा में रस लेता है और प्रशंसा में पीड़ा का अनुभव करता है। पर्वत पर खड़े व्यक्ति को नीचे खड़ा व्यक्ति छोटा ही दिखता है।

अहङ्कार जैसा भ्रम और अज्ञान दूसरा नहीं होता। बीज के चारों तरफ अहङ्कार की खोल लगी है जिससे बीच पनप नहीं पाता। स्वाभिमान की सीमा में अहङ्कार ठीक कहा जा सकता है पर उससे आगे बढ़कर अभिमान को प्रशस्त नहीं कहा जा सकता मृत्यु के पूर्व वह निश्चित रूप से टूटना चाहिए।

मात्र जिज्ञासु रहना अहङ्कारिता को बढ़ावा देना है। उसमें जब तक मुमुक्षुवृत्ति जाग्रत नहीं होगी रूपान्तरित होने की स्थिति में वह नहीं आ सकता। साधक के लिए जिज्ञासु के साथ-साथ मुमुक्षु भी होना चाहिए। जिज्ञासा एक दर्शन है, मुमुक्षा एक धर्म है। जिज्ञासा से अहङ्कार मजबूत होता है और मुमुक्षा से वह अहङ्कार पिघलता है। मुमुक्षु आत्माज्ञान से पदार्थो को जानता है, दर्शन से श्रद्धान् करता है और आचरण से कर्मो के आवरण को दूर करता है।

अहङ्कारी लोकेषणा के पीछे दौड़ता रहता है, मान का पोषण करता है और दूसरे को काटने में आनन्द लेता है। शेषनाग में मान नहीं होता पर बिच्छू स्वल्प जहर होने पर भी अहंकारवश डंक ऊपर उठाये घूमता रहता है। वह घनघोर हिंसक भी होता है। उसमें प्रतिक्रिया और प्रतिशोध की आग सुलगती रहती है। उसकी मानसिकता कठोरता में जीती रहती है। उसकी यह कठोरता कभी शैल के समान रहती है, कभी अस्थि जैसी रहती है, कभी काष्ठ के समान होती है तो कभी लता जैसी भी दिखती है। यह उसकी कठोरता का क्रम है। इस कठोरता को अहङ्कारी जीवित रखना चाहता है। क्रोधी क्रोध निमित्तक पदार्थ को नष्ट करना चाहता है, पर मानी उसे सम्भाल कर रखना चाहता है।

अहङ्कार से मुक्त होने के उपाय :- इस आत्मघाती अहङ्कार को समाप्त करने के लिए धर्म ही एक सच्चा शरण है। क्षान्ति, मृदुता, ऋजुता और आत्मालोचन उसके द्वार हैं। देहादि में एकत्व बुद्धि छोड़कर, समता भरा आचरण उसका एक सुनियोजित महापथ है, जिस पर चलकर अहङ्कार से मुक्त हो सकता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार (पञ्च परमेष्ठी वंदन) रूप विनय का आचरण उसे रूपान्तरित कर सकता है।

अहङ्कार से ग्रस्त व्यक्ति किसी को गुरु मानने के लिए तैयार नहीं होता, जिससे न वह कुछ विशेष सीख पाता है और न उसमें विनय ही जाग्रत हो पाता है। शिष्य भाव के बिना सीखना सम्भव नहीं होता। **गुरजिर्यक** ने अपने शिष्य **आर्स्यस्की** को एक कोरा कागज लिखने के लिए दिया परीक्षा करने की दृष्टि से, पर उसने उसे कोरा ही वापिस कर दिया। अहङ्कार का विसर्जन और ज्ञानार्जन की आकांक्षा कागज को वापिस करने के पीछे एक दृष्टि थी।

मार्दव-धर्म का परिपालन करने के लिए कषायों पर विजय प्राप्त करना जरूरी हो जाता है। शान्तिनाथ नाम हो और वह व्यक्ति घनघोर अशान्त और क्रोधी प्रकृति का हो तो नाम के साथ सामञ्जस्य कैसे हो सकता है? अतः कषायों के परिणाम पर चिन्तन करते हुए मृदुता लानी चाहिए।

बिना भेदभाव के आदर देना विनय कहलाता है। जीसस ने जुदास को सम्मान दिया, जबकि वह शत्रुओं से मिला हुआ था। महावीर ने गोशालक को सम्मान दिया, जबकि गोशालक महावीर का घनघोर विरोधी था। विरोधियों के साथ भी मित्रवत् व्यवहार करना आर्जव-धर्म है।

मान उबलता दूध जैसा है जिसे ठण्डा होने पर ही पिया जा सकता है। उसे या तो चूल्हें से उतार कर नीचे रख दीजिए या ईंधन को बुझा दीजिए। इसी तरह मान के कारणों को दूर कर आत्मचिन्तन किया जाना चाहिए।

मान को जीतने का एक यह भी उपाय है कि साधक माध्यस्थ वृत्ति धारण कर विपरीत परिस्थितियों में मौन हो जाये। द्वीपायन ऋषि एक अच्छे साधक थे। वे जहां तपस्या कर रहे थे, वहां यादव लोग शराब पीकर मस्ती कर रहे थे। उन्होंने द्वीपायन को भला-बुरा कहा। साधक के कान में ये शब्द पहुँचे, जिसे वे सहन नहीं कर पाये और अपनी उग्र तपस्या के बल पर द्वीपायन ने द्वारिका जला कर राख कर दी। यदि उन्होंने अपशब्दों की उपेक्षा की होती तो इतना बड़ा हादसा नहीं होता।

मृदुता के उदाहरण :- मार्दव-धर्म के सन्दर्भ में अनेक उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं, जिनमें कतिपय उद्धृत कर रहा हूँ ताकि उसकी प्रकृति को

समझा जा सके और अहङ्कार के दुष्परिणामों से बचा जा सके।

(1) सुदर्शन ने अर्जुनमाली को विनम्रता से जीता।

(2) वर्णी जी ने आत्मकथा में एक घटना का उल्लेख किया है कि किसी सेठ ने स्वयं मन्दिर बनवाया पर उसका कलश समाज से चढ़वाया ताकि मन्दिर बनवाने का अभिमान उसे या उसके परिवार को न आ जाये।

(3) अहङ्कार एक प्रतिक्रिया से भरा जीवन होता है। असमर्थ व्यक्ति घर बनाता है और समर्थ बलशाली व्यक्ति उस घर को तोड़ देता है– असमर्थो गृहारम्भे समर्थो गृहभंजने। बन्दर वटेर का घोसॅला उखाड़कर यही करता है।

(4) भरत-बाहुबली का युद्ध मान कषाय का जीता जागता उदाहरण है। कहा जाता है कि भरत पट्टशिला पर लिखे हुए किसी नाम को मिटाकर ही अपना नाम लिख सके। अहङ्कारी यही करता है। वह दूसरे अस्तित्व को मटियामेट कर अपने अस्तित्व पर मुहर लगाना चाहता है।

(5) अहङ्कारी जब शक्तिहीन हो जाता है तो उसे कोई नहीं पूछता। नेपोलियन जैसे सम्राट् को आखिर घसियारन के लिए रास्ता देना ही पड़ा।

(6) ज्ञानी और बौद्धिक में अन्तर है। प्राचीन काल में ज्ञानी को पण्डित भी कहा जाता था, जो स्वानुभूति और सम्यक् आचरण में पला था। पर आज बौद्धिक व्यक्ति ही पण्डित कहा जाता है। वह इतनी अन्तर्दृष्टि सम्पन्न होता है कि विनम्रतापूर्वक अपने अज्ञान को स्वीकार लेता है, ध्यानी होता है, जागरूक होता है। भगवान् महावीर परमज्ञानी थे। उन्होंने इन्द्रभूति के अहं को बड़े ही सहज ढंग से निरस्त किया और उसे अपना अनन्य शिष्य बना लिया। विद्वान् ज्ञानी को परास्त नहीं कर सकता, बल्कि उससे सीख सकता है। उपाध्याय यशोविजय जी द्वारा आनन्दघन को प्रणाम करना यही अभिव्यक्त करता है।

(7) देवी ने सुकरात को सबसे बड़ा ज्ञानी माना पर सुकरात ने इसे स्वीकार

नहीं किया, बल्कि यह कहा कि उसे मालूम है वह कितना अज्ञानी है। ज्ञानी को अज्ञानता का आभास हो जाना चाहिए। यही उसकी निरहङ्कारवृत्ति और मार्दवता है।

(8) बोलने में इतना माधुर्य हो कि श्रोता को कटुता का आभास न हो। 'अक्ष्णा काणः' कहकर व्यंग बाण नहीं चलाना चाहिए। "शुष्को वृक्षः तिष्ठत्यग्रे" उदाहरण के सन्दर्भ में लोग जानते ही है।

इस प्रकार मार्दव-धर्म आत्मा की वह सरलता और मृदुता है जिसमें किसी भी प्रकार का अहङ्कार न हो। आत्मसाधना ही उसका जीवन हो और आलोचना और प्रायश्चित्त से उसका मन-मार्जन हो रहा हो। साम्यभाव, परमार्थ का पुरुषार्थ, मोह-राग-द्वेष से विमुक्ति आदि गुण विनम्रता को जन्म देते हैं, यही मार्दव है।

सन्दर्भ

1. कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो णवि कुव्वदि समणो मद्दवधम्म हवे तस्स। बा अणु 72, स सि. 9.6, पृ 412, रा वा 9-6 3, पृ 595, चा सा, पृ. 61
2. उत्तमणाणपहाणो उत्तमतवयरणकरणसीलो वि।
अप्पाणं जो हीलदि मदद्वयणं भवे तस्स।। –का अनु0, 395, भ. आ, 1427-1430
3 जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवम्। स. सि, 9 6
4. मार्दव मानोदयनिरोधः। औप. अभय. वृ. 16, पृ 33
5. मद्दवं नाम जाइकुलादीहीणस्स अपरिभयसीलत्तण...... ..माणस्स उदिन्नस्स निरोहो उदयपत्तस्स विफलीकरण। दशवै चू., पृ. 18

–तुकाराम चाल, सदर,
नागपुर-440001

पद्मपुराण के विविध संस्करण एवं पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य की सम्पादन कला का वैशिष्ट्य

– डॉ. जय कुमार जैन

अद्यावधि उपलब्ध संस्कृत जैन पुराणों में रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण सर्वाधिक प्राचीन है। सात महाधिकारों, 123 पर्वो में विभक्त 18000 श्लोक प्रमाण यह ग्रन्थ भगवान् महावीर के निर्वाण के 1203½ वर्ष बीत जाने पर लिखा गया था।[1] इस आधार पर यह 676 ई. के मई माह में विरचित सिद्ध होता है। जैन परम्परा में दाशरार्थ राम पद्म नाम से भी उल्लिखित हुए हैं तथा उनका यह नाम बहुप्रसिद्ध रहा है। अतः पद्मपुराण से आशय रामकथाविषयक पुराण है। 'पुरातनं पुराणं स्यात्'[2] आचार्य जिनसेन जी के इस उल्लेख के अनुसार प्राचीन आख्यानों का नाम पुराण है।

श्री रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण को पुरानी हिन्दी के गद्य में सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का गौरव बसवा (राजस्थान) निवासी पण्डित दौलतराम जी कासलीवाल को मिला। यह जैन जगत् में पद्मपुराण की भाषावचनिका के नाम से प्रसिद्ध है। यह जयपुर के आसपास की तत्कालीन लोक बोली ढूँढारी में लिखी गई है। दौलतराम जी अठारहवीं शताब्दी के विद्वान् हैं तथा उन्हें हिन्दी में गद्यविधा का जनक माना जा सकता है। क्योंकि इसके पूर्व गद्य में हिन्दी का कोई व्यवस्थित रूप नही मिलता है। श्री दौलतराम जी का पद्मपुराण यद्यपि रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण का यथावत् अनुवाद नही है, तथापि उसमें किसी घटनाक्रम को छोड़ा नहीं गया है। भले ही उन्होंने उसे आकर्षक बनाकर अपने भावों में प्रस्तुत किया हो। इसकी भाषा एकदम प्रवाहमयी एवं सहजग्राह्य है। एक उदाहरण देखें–"हे सेनापति! तू मेरे वचन रामसूँ कहियो कि मेरे त्याग का विषाद आप न करणा, परम धीर्यकूँ अवलम्बन कर सदा प्रजा की रक्षा करियो। जैसे पिता पुत्र की रक्षा करे। आप महान्यायवंत हो अर

समस्त प्रजा के पारगामी हौ। राजाकूँ प्रजा ही आनन्द का कारण है। राजा वही जाहि प्रजा शरद के पूनों के चन्द्रमा की न्याई चाहे।" यह ग्रन्थ पद्मपुराण भाषावचनिका नाम से सर्वप्रथम कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, जो पत्राकार था तथा मन्दिर-मन्दिर में इसी की वचनिका होती थी। बाद में यह पुस्तकाकार रूप में लोहारिया (राजस्थान) से श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् द्वारा भी प्रकाशित किया गया है।

सन् 1928-1929 में रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण का एक संस्करण पद्मचरित नाम से बिना हिन्दी अनुवाद के मात्र संस्कृत में माणिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला मुम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक श्री पं. दरबारीलाल न्यायतीर्थ हैं तथा इस पर श्री पं. नाथूराम प्रेमी की भूमिका है। यह तीन भागों में प्रकाशित है। यद्यपि इसके सम्पादन में बहुत सावधानी नहीं बरती गई है तथा कदाचित् एक ही हस्तप्रति का उपयोग किया गया है तथापि श्री पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य का संस्करण का मूल आधार यही संस्करण प्रतीत होता है। मुम्बई के इस संस्करण के आधार पर श्री पं. लालाराम जी ने सर्वप्रथम पूरा हिन्दी अनुवाद किया तथा उसे प्रकाशित कराया। मूल संस्कृत पाठ में पाठान्तरों का समीचीन उपयोग न हो पाने से भले ही कहीं-कहीं अनुवाद पूरी तरह संगत सा नही लगता है किन्तु पं. पन्नालाल जी कृत हिन्दी अनुवाद का मूल आश्रय इसी अनुवाद को कहा जाना चाहिए। पं. लालाराम जी ने 100 से अधिक ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया था। 4 जनवरी 1962 को 76 वर्ष की आयु में आदरणीय पं. जी ने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया था।[3] पं. जी सा. के अनेक अनुवाद आज भी उनके फिरोजाबाद के गोपालनगर स्थित गृह में पौत्रों के पास अप्रकाशित पड़े हैं। विद्वानों की इस ओर दत्तावधानता आवश्यक है।

पद्मपुराण का चौथा संस्करण श्री पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्यकृत हिन्दी अनुवाद के साथ भारतीय ज्ञानपीठ काशी से तीन भागों में 1958-1959 ई. में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था, जिसकी द्वितीय आवृत्ति भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली से 2002 एवं 2003 ई. में प्रकाशित हुई है। पूर्ववर्ती संस्करणों के साथ

हस्तलिखित प्रतियों का समीचीन एवं व्यवस्थित उपयोग करने के कारण यह संस्करण अधिक प्रचलित है। इसका प्रकाशन, मुद्रण आदि में किया गया परिश्रम भी श्लाघ्य है।

ज्ञानपीठ संस्करण में पं. पन्नालाल जी की सम्पादन-कला का वैशिष्ट्य

श्री पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर का जैन साहित्य के विकास में महनीय अवदान है। उन्होंने संस्कृत भाषा में अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना की तथा प्राचीन जैन साहित्य के पुराणों, काव्यो आदि का सम्पादन एवं अनुवाद किया। यद्यपि उनके समक्ष श्री पं. लालाराम जी शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद प्रायः उपलब्ध थे, अतः अनुवाद में उन्हें उनकी पर्याप्त सहायता मिली। परन्तु अधुनातन सम्पादन कला की तकनीक का उपयोग जैन पुराणों एवं काव्यों आदि के सम्पादन में उन्होंने अत्यन्त सावधानीपूर्वक किया है तथा इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है। पद्मपुराण के परिप्रेक्ष्य में उनकी सम्पादन कला को बिन्दुवार इस प्रकार देखा जा सकता है।

(क) हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग – श्री पं. पन्नालाल जी ने पं. दरबारीलाल न्यायतीर्थ द्वारा सम्पादित/संशोधित तथा भा. दि. जैन ग्रन्थमाला मुम्बई द्वारा प्रकाशित पद्मचरित नाम से प्रकाशित पद्मपुराण के संस्करण के संशोधन के लिए निम्नलिखित हस्तप्रतियों का प्रयोग किया है–

(1) श्री पं. परमानन्द शास्त्री द्वारा प्राप्त दिगम्बर जैन सरस्वती भवन धर्मपुरा की पौष कृष्णा सप्तमी बुधवार वि. सं. 1775 (1718 ई.) की प्रति, जिसे भुसावर निवासी श्री मानसिंह पुत्र श्री सुखानन्द ने लिखी थी। इसका सांकेतिक नाम 'क' रखा है।

(2) श्री पं. परमानन्द शास्त्री द्वारा प्राप्त दिगम्बर जैन सरस्वती भवन पंचायती मन्दिर मस्जिद खजूर की प्रति, जिसका सांकेतिक नाम 'ख' है तथा जिसके प्रारंभिक दो श्लोकों पर संस्कृत टीका भी है। इस पर लेखन समयादि अंकित नही है।

(3) श्री पं. चैनसुखदास जी के सौजन्य से प्राप्त श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र

श्री महावीर जी वाली प्रति, जो अत्यन्त प्राचीन जान पड़ती है किन्तु इस पर लेखन समयादि का अंकन नही है। पं. जी की संभावना है कि इस प्रति के अन्त का एक पत्र गुम हो गया है, अन्यथा उसमें लिपि संवत् वगैरह का उल्लेख मिल जाता। इस प्रति का सांकेतिक नाम 'ज' दिया गया है।

(4) यह प्रति पं. धन्नालाल ऋषभचन्द्र रामचन्द्र बम्बई की है। यह प्रायः शुद्ध है तथा इसका सर्वाधिक उपयोग किया गया है। इस प्रति का सांकेतिक नाम **'ब'** रखा गया है।

(5) पंचम प्रति श्री पं. परमानन्द शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त श्री दि. जैन सरस्वती भण्डार धर्मपुरा दिल्ली की है, जिस पर लेखन काल पौष कृष्णा पंचमी रविवार वि. सं. 1894 है तथा यह लश्कर में लिखी गई थी।

उक्त पाँच हस्तप्रतियों के अतिरिक्त पण्डित जी ने सन्देह बने रहने पर श्री पं. के. भुजबली शास्त्री से मूडवद्री की ताड़पत्रीय प्रति से भी मिलान कराके पद्मपुराण का सम्पादन किया है। परिणाम स्वरूप प्रायः सम्पादन का पाठ शुद्ध-निर्धारित हो गया है। कुछ स्थल अनुपलब्ध बने रहने से पूर्ण नही किये जा सके हैं। यथा प्रथम पर्व के 69वें श्लोक का उत्तरार्द्ध पूरा नही किया जा सका है।[4] हालाँकि उसके रहने या न रहने से प्रवाह में कोई अन्तर नहीं आता है।

(ख) अनुसंधानपूर्ण मूलपाठ – आदरणीय पं. जी ने मूलपाठ के निर्धारण में परम्परा, युक्ति एवं अनुभव का प्रयोग किया है। प्रथम पर्व के 41-42 वें श्लोक का अनुवाद करते समय पं. जी ने 'प्रभवं क्रमतः कीर्तिं ततोऽनुत्तरवाग्मिनम्'[5] में अनूत्तरवाग्मिनम् (अनु + उत्तरवाग्मिनम्) पाठ की कल्पना की है तथा उन्होंने इस प्रकार अर्थ किया है–'फिर प्रभव को प्राप्त हुआ, फिर कीर्तिधर आचार्य को प्राप्त हुआ। उनके अनन्तर उत्तरवाग्मी मुनि को प्राप्त हुआ।' परन्तु जब डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने पं. जी का ध्यान आकृष्ट किया तथा कीर्तिधर का विशेषण अन्यत्र भी अनुत्तरवाग्मी प्रयुक्त होने की बात बताई तो पण्डित जी ने उसे स्वीकार कर लिया। 'अनुत्तरवाग्मिनम्' पाठ सभी प्रतियों में समान रूप से उपलब्ध है। अतः अन्य पाठ की संभावना वास्तव में पण्डित जी का

अपार्थप्रयास था।

(ग) कठिन शब्दों के टिप्पण तथा यथावश्यक कोष निर्देश – पं. जी सा. ने कठिन शब्दों के स्पष्टीकरण के लिए टिप्पण प्रति का तो उपयोग किया ही है, साथ ही यथावश्यक अन्य स्थलों पर भी टिप्पण देकर कठिन शब्दों का अर्थ स्पष्ट कर दिया है तथा अपने अनुवाद की समीचीनता में उसे हेतु रूप में उपन्यस्त किया है। जहाँ आवश्यक समझा वहाँ कोष का भी निर्देश किया है। यथा वासुपूज्य भगवान् के लिए प्रयुक्त वसुपूज्य विशेषण का अर्थ 'कुबेर द्वारा पूज्य' करके 'वसुर्मयूरवाग्निधनाधिपेषु इति कोषः' टिप्पण में वसु का अर्थ धनाधिप (कुबेर) मानने में कोषकारों की मान्यता को उद्धृत कर दिया है।

(घ) छन्दों का निर्देश – पण्डित जी सा. ने पद्मपुराण में प्रयुक्त सभी छन्दों का प्रायः निर्देश कर दिया है। **किन्तु कुछ छन्दों को अप्रचलित तथा वृत्तरत्नाकर में उपलब्ध न होने के कारण प्रश्नवाचक चिन्ह लगाकर छोड़ दिया है। इस प्रसंग में 123वें पर्व के 170-179, 181-182 ये 12 श्लोक हैं। इनमें से एक श्लोक यहाँ द्रष्टव्य है–**

इति जीवविशुद्धिदानदक्षं
परितः शास्त्रमिदं नितान्तरम्यम्।
सकले भुवने रविप्रकाशं
स्थितमुद्योतितसर्ववस्तुसिद्धम्।।

इसके विषम अर्थात् प्रथम एवं तृतीय पादों में दो सगण, एक जगण तथा अन्त में दो गुरु हैं तथा सम अर्थात् द्वितीय एवं चतुर्थ पादों में सगण, भगण, रगण और यगण है। यह एक अर्द्धसमवृत्त है और छन्दोमंजरी में इसे कालभारिणी तथा छन्दोऽनुशासन में मालभारणी छन्द कहा गया है। यथा–

विषमे ससजा यदि गुरू भवेत्
सभरा येन तु कालभारिणीयम्।[7]
एवं
ससज्गागा स्भर्या मालभारणी।[8]

जैन ग्रन्थों में इस छन्द का अन्यत्र भी प्रयोग हुआ है। वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरित के पञ्चम सर्ग के 110 श्लोकों में तथा षष्ठ सर्ग के 5,9,84,106,116 इन पॉच श्लोकों में इस छन्द का प्रयोग हुआ है। इस छन्द में वियोगिनी छन्द के समपादों में एक गुरू और बढ़ जाता है।

(ड.) **प्रस्तावना** – किसी ग्रन्थ की प्रस्तावना भवन की नींव के समान होती है। पं. जी ने पद्मपुराण की प्रस्तावना में आधार प्रतियों के परिचय के साथ रामकथा की विभिन्न धाराओं का संक्षिप्त उल्लेख करके जैन रामकथा के वैविध्य का निरूपण कर दिया है तथा पद्मचरित एवं आचार्य रविषेण का परिचय भी प्रस्तुत कर दिया है। अतः प्रस्तुत संस्करण पूर्णतया उपयोगी बन गया है। हाँ कहीं-कहीं प्रस्तावना की भाषा चिन्त्य है। यथा–'भारतीय ज्ञानपीठ के संचालको को मेरी यह बात पसन्द पड़ गयी।' [10]

(च) परिशिष्ट – परिशिष्ट में श्लोकानुक्रमाणिका का होना शोधार्थियों को यह विशेष लाभदायक हो गया है। यदि हरिवंशपुराणादि ग्रन्थों की तरह शब्दानुक्रमाणिका देकर पारिभाषिक शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट कर दिये जाते तो यह ग्रन्थ और अधिक उपयोगी बन सकता था। क्योंकि जैन दर्शन के अनभ्यस्त पाठकों के लिए पुद्गल, गुप्ति, समिति, निदान आदि शब्दों का अर्थ समझना आपाततः दुरूह है तथा अनुवाद में इसका स्पष्टीकरण संभव भी नही है।

(छ) हिन्दी अनुवाद – पद्मपुराण का पं. पन्नालालजीकृत हिन्दी अनुवाद सहृदय-संवेद्य श्लोकार्थ है, जो श्लोकों के धर्य को प्रकट करने में समर्थ है। पं. जी ने ग्यारहवें पर्व के तीन-चार दार्शनिक श्लोकों का अर्थ करने में श्री पं. फूलचन्द्र शास्त्री की सहायता ली थी। इसका उन्होंने सादर उल्लेख किया है। [11] अनुवाद की रोचकता पाठकों को लगातार पढ़ने की इच्छा उत्पन्न करती तो असंस्कृत भी इसका आनन्द ले पाते।

संक्षेप में पद्मपुराण का यह संस्करण विद्वान् मनीषियों, शोधार्थियों तथा स्वाध्यायप्रेमियों सभी की आवश्यकता के अनुरूप है। नयनाभिरामता से संग्राहकों के योग्य भी है।

सन्दर्भ

1 द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धेश्चरित पद्मनेरिदं निबद्धम्।।

— पद्मपुराण, 123/182

2. आदिपुराण - जिनसेनाचार्य, 1/21

3 द्र प्रेरणा, बाबू जयकुमार जैन स्मृति ग्रन्थ में श्री ब्रजकिशोर जैन द्वारा लिखित 'फिरोजाबाद के जैन विद्वान्' आलेख

4. 'सताप विजयार्द्धाद्रिगमन रावणस्य च।
... .।।'

पद्मपुराण, 1/69

5 पद्मपुराण, 1/42 का पूर्वार्द्ध

6 पद्मपुराण, 123/181

7 छन्दोमजरी, 3/12

8 छन्दोऽनुशासन, 3/17

9 द्र. पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ 197-198

10. पद्मपुराण, प्रस्तावना पृ. 39 अनुच्छेद II पक्ति IV

11. वही, अन्तिम अनुच्छेद

अध्यक्ष - संस्कृत विभाग
एस. डी. कालेज, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)

जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल में अनेकान्तदर्शी, आचरण की भूमिका में चरित्रनिष्ठ, प्रवृत्तिकाल में ज्ञानी, निवृत्तिकाल में ध्यानी, बाह्य के प्रति कर्मयोगी और अन्तर के प्रति तपस्वी हैं, वह नानारूपधर भगवान् वर्द्धमान हमारे लिए शरण हों।

सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन

– डॉ. रमेश चन्द जैन

सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है– सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षण वाला सराग सम्यग्दर्शन है और आत्मा की विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है।[1]

प्रशम– पञ्चेन्द्रियों के विषय में और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावों में स्वभाव से मन का शिथिल होना प्रशम भाव है अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवों के विषय में कभी भी उनके करने आदि की प्रयोजन बुद्धि का नहीं होना प्रशम भाव है। इस प्रशमभाव के होने में अनन्तानुबन्धियों का उदयाभाव और शेष कषायों का अंश रूप में मन्दोदय कारण है। यद्यपि प्रशम भाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जीव दैव वश बिना इच्छा के आरम्भ आदि क्रिया करता है, तथापि अन्तरङ्ग में शुद्धता होने से वह क्रिया उसके नाश का कारण नहीं हो सकती। सम्यक्त्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला जो प्रशम भाव है, वह परमगुण है और सम्यक्त्व के अभाव में जो प्रशमगुण होता है, वह प्रशमाभास है।[2]

संवेग– धर्म और धर्म के फल में आत्मा का परम उत्साह होना या समान धर्म वालों में अनुराग का होना या परमेष्ठियों में प्रीति का होना संवेग है। सम्यक्त्व मात्र या शुद्ध आत्मा का अनुभव ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही उसका फल है। समान धर्म वालों में और पाँच परमेष्ठियों में जो अनुराग हो वह उनके गुणों में अनुरागवृद्धि से ही होना चाहिए। किन्तु जो समान धर्म वालों या पॉच परमेष्ठियों के गुणों से रहित है उनमें इन समान होने की लिप्सा के बिना भी अनुराग नहीं होना चाहिए। प्रकृत में अनुराग शब्द का अर्थ अभिलाषा नहीं कहा गया है किन्तु अधर्म और अधर्म के फल से निवृत्त होकर जो शेष रहता है, वही अनुराग शब्द का अर्थ है अथवा जिस समय

अनुराग शब्द का अर्थ विधिरूप से कहा गया है, उस समय उसका अर्थ प्राप्ति और उपलब्धि होता है; क्योंकि अनुराग, प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं। ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि अभिलाषा केवल भोगों में ही निबद्ध मानी गई है, किन्तु जैसे भोगों की अभिलाषा निषिद्ध है, वैसे ही शुद्धोपलब्धि की अभिलाषा भी निषिद्ध मानी गयी है। वास्तव में जितनी भी अभिलाषा है, वह सब सम्यग्दर्शन के अभाव में होती है, इसलिए वह अज्ञानरूप ही है; क्योंकि जिसे तत्त्वार्थ की प्राप्ति नहीं हुई है, वही प्राप्ति करना चाहता है। जिसने प्राप्त कर लिया है, वह प्राप्ति की अभिलाषा से रहित है। वास्तव में जितनी भी अभिलाषायें हैं, वे सब केवल मिथ्याकर्म के उदय से होती हैं, इसलिए मिथ्या ही हैं; क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कोई भी अभिलाषा अपनी अभीष्ट क्रिया की सिद्धि कराने में समर्थ नहीं है। उदाहरणार्थ कहीं पर अभिलाषा के होने पर भी कारण सामग्री के मिल जाने से इष्टसिद्धि हो जाती है। यद्यपि सम्पूर्ण जगत् यश, लक्ष्मी, पुण्य और मित्र आदि की चाह करता है तथापि पुण्योदय के बिना केवल चाह मात्र से उनकी प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् जरा, मृत्यु और दरिद्रता की चाह नहीं करता है, तथापि यदि जीव के अशुभ का उदय है तो राग के बिना भी जबरदस्ती उनका संयोग हो जाता है। संवेग विधिरूप होता है और निर्वेद निषेधरूप होता है। विवक्षा वश ही ये दो हैं। वास्तव में इन दोनों में कोई भेद नहीं है। सब प्रकार की अभिलाषाओं का त्याग ही निर्वेद है; क्योंकि इसका यही लक्षण है। अथवा वह निर्वेद संवेग रूप धर्म प्राप्त होता है; क्योंकि जो अभिलाषा सहित है, उसके संवेग धर्म नहीं हो सकता। यदि क्रियामात्र को धर्म कहा जाय तो भी बात नहीं है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि के निरन्तर रागादि पाए जाते हैं इसलिए वास्तव में वह अधर्म ही है। वह राग रहित कभी भी नहीं हो सकता और सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर रागरहित होता है अथवा उसके सदाकाल राग नहीं पाया जाता।[3]

अनुकम्पा— जो भूखे, प्यासे अथवा अन्य प्रकार से दुःखी प्राणी को देखकर स्वयं दुःखित हृदय होता हुआ दयापूर्वक उसे अपनाता है, उसका दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है, उसके अनुकम्पा होती है।[4] अनुकम्पा का अर्थ

कृपा है या सब जीवों पर अनुग्रह करना अनुकम्पा है अथवा मैत्रीभाव का नाम अनुकम्पा है। माध्यस्थ्य भाव का नाम अनुकम्पा है या शत्रुता त्याग कर देने से शल्यहित हो जाना अनुकम्पा है। इसका कारण केवल दर्शनमोहनीय का अनुदय है; क्योंकि मिथ्याज्ञान के बिना किसी जीव में वैरभाव नहीं होता है। पर के निमित्त से अपने लिए या अपने निमित्त से अन्य प्राणियों के लिए थोड़े भी सुख दुःखादि या मरण और जीवन की चाह कला मिथ्याज्ञान है और जिसके यह अज्ञान होता है, वही मिथ्यादृष्टि है और वह शल्य वाला है। वह अज्ञानवश दूसरे को मारना चाहता है, पर मार नहीं सकता। सब प्राणियों में जो समभाव धारण किया जाता है, वह परानुकम्पा है और काँटे के समान शल्य का त्याग कर देना वास्तव में स्वानुकम्पा है। रागादि अशुद्ध भावों के सद्भाव में बंध ही होता है और उनके अभाव में बन्ध नहीं होता, इसीलिए अपने ऊपर ऐसी कृपा करनी चाहिए, जिससे रागदि भाव न हो।[5]

किसी वृषादि दुःख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतीकार करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना, वह अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी की अनुकम्पा तो निचली भूमिका में विहरते हुए (स्वयं निचले गुणस्थानों में वर्तता हो तब) जन्मार्णव में निमग्न जगत् के अवलोकन से (अर्थात् संसार महासागर में डूबे हुए जगत् को देखने से) मन में किञ्चित खेद होना, वह है।[6]

आचार्य जयसेन का कहना है कि तीव्र तृषा, तीव्र क्षुधा, तीव्र रोग आदि से पीड़ित प्राणी को देखकर अज्ञानी जीव 'किसी भी प्रकार मैं इसका प्रतीकार करूँ' इस प्रकार व्याकुल होकर अनुकम्पा करता है, ज्ञानी तो स्वात्मभावना को प्राप्त करता हुआ (अर्थात् निजात्मा को अनुभव की उपलब्धि न होती हो तब) संक्लेश के परित्याग द्वारा (अशुभ भाव को छोड़कर) यथासम्भव प्रतीकार करता है तथा उसे दुःखी देखकर विशेष संवेग और वैराग्य भावना करता है।[7]

आस्तिक्य – स्वतः सिद्ध तत्त्वों के सद्भाव में निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्म के हेतु और धर्म के फल में आत्मा की अस्ति आदि बुद्धि का होना आस्तिक्य है। जो स्वतः सिद्ध है, अमूर्त है और चेतन है, वह आत्मा है।

इसका दूसरा नाम जीव है तथा इसके सिवाय जितना भी पदार्थ है, वह सब अजीव है। आत्मा अनादि काल से कार्माण वर्गणा रूप कर्मो से बँधा हुआ है और अपने को उन्हीं का कर्त्ता व भोक्ता मान रहा है। जब इनका क्षय कर देता है, तब मुक्त हो जाता है। उस संसारी जीव के पुण्य; पाप, इनका कारण, इनका फल और आस्रव सदैव बने रहते हैं। इस प्रकार पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा बन्ध भी है और मोक्ष भी है और उसका फल भी है। शुद्ध नय की अपेक्षा सभी जीव सदा शुद्ध हैं। उनमें एक जीव ही ऐसा है, जो स्वसंवेद्य चिदात्मक और सोहम् प्रत्ययवेद्य होने से उपादेय है, बाकी जितने भी रागादिभाव हैं, वे सब हेय हैं, क्योंकि वे पौद्गलिक हैं। इस प्रकार अनादि काल से चला आया और समस्त जीवादि वस्तु समुदाय निश्चय और व्यवहार नय से जो जैसा माना गया है, वह वैसा ही है, ऐसी बुद्धि का होना आस्तिक्य है।

जो सम्यक्त्व का अविनभावी है और जिसका स्वानुभूति एक लक्षण है, वह सम्यक् आस्तिक्य है और इससे विपरीत मिथ्या आस्तिक्य है।

शङ्का – वास्तव में एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है। बाकी के चारों ज्ञान कभी भी प्रत्यक्ष नहीं है। अथवा अपने आत्मा के सुखादिक की तरह इन्द्रियजन्य ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष है, इसलिए आस्तिक्यभाव स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो जाता है?

समाधान – यह कहना ठीक है तथापि आदि के दो ज्ञान पर पदार्थो का ज्ञान करते समय यद्यपि परोक्ष हैं, तथापि दर्शनमोहनीय के उपशम आदि के कारण स्वानुभव के कारण यद्यपि परोक्ष है तथापि दर्शमोहनीय के उपशम आदि के कारण स्वानुभव के समय वे प्रत्यक्ष ही हैं। प्रकृत में अपने आत्मा की अनुभूति ही आस्तिक्य नाम का परमगुण माना गया है फिर चाहे परद्रव्य का ज्ञान हो, चाहे मत हो; क्योंकि परपदार्थ पर हैं। दूसरे यद्यपि जीवादि पदार्थ परोक्ष है, तथापि इस सम्यग्दृष्टि जीव को जैसी उनकी गाढ़ प्रतीति होती है, वैसी उनकी-स्पष्ट प्रतीति मिथ्यादृष्टि के भी नहीं होती; क्योंकि दर्शनमोहनीय के उदय से उसके निरन्तर भ्रान्ति बनी रहती है। इसलिए युक्ति, स्वानुभव और आगम से भली भाँति सिद्ध होता है कि सम्यकत्व के साथ अविनाभाव

सम्बन्ध रखने वाला आस्तिक्य नाम का महान गुण है।[8]

सप्त प्रकृतियों के क्षय की अवस्था – दर्शन मोहनीय की सातों प्रकृतियों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने पर जो आत्मविशुद्धि मात्र प्रकट होती है, वह वीतराग सम्यक्त्व हैं।[9]

प्रशस्त राग तथा प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के राग से रहित अवस्था– भगवती आराधना विजयोदया टीका में कहा गया है कि सम्यक्त्व दो प्रकार का है- सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। प्रशस्तराग सहित जीवों का सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व है और प्रशस्त तथा अप्रशस्त दोनों प्रकार के राग से रहित क्षीण मोह वीतरागियों का सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व है। सराग सम्यदृष्टि केवल अशुभकर्म के कर्त्तापने को छोड़ता है (शुभकर्म के कर्त्तापने को नहीं), जबकि निश्चय चारित्र के अविनाभूत वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर वह शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मो के कर्तापने को [11] छोड़ देता है।

औपशमिकादि की अपेक्षा सराग और वीतराग – वीतराग और सराग के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है और शेष दो अर्थात् औपशमिक व क्षायोपशामिक सराग है।

व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व के साथ एकार्थता – शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थो का श्रद्धान रुप सराग सम्यक्त्व व्यवहार सम्यक्त्व है और वीतराग चारित्र के बिना नहीं होने वाली वीतराग सम्यक्त्व नामक निश्चय सम्यक्त्व है।

त्रिगुप्ति रूप अवस्था – त्रिगुप्ति रूप अवस्था ही वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण है।[14]

गुणस्थान क्रम – चौथे से छठे गुणस्थान तक स्थूल सराग सम्यग्दृष्टि हैं; क्योंकि उनकी पहिचान उनके काय आदि के व्यापार से हो जाती है और सातवें से दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म सराग सम्यग्दृष्टि हैं; क्योंकि उनकी पहिचान काय आदि के व्यापार से या प्रशम आदि गुणों पर से नहीं होती है। यहाँ अर्थापत्ति से यह बात जान ली जाती है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि 11वें से 14वें गुणस्थान तक होते हैं। सकल मोह का अभाव हो जाने से वे ही वास्तव में वीतराग हैं या वीतराग[14] चारित्र के धारक हैं।

सातवें से 10वें गुणस्थान तक अबुद्धि पूर्वक सूक्ष्मराग होता है, जो इससे ऊपर के गुणस्थानों में नहीं होता है। केवल यही विचार कर किन्हीं आचार्यो ने असद्भूत व्यवहार नय से जिस प्रकार छठे गुणस्थान तक के ज्ञान को रागयुक्त कहा है, उसी प्रकार सम्यक्त्व को भी रागयुक्त कहा है।

सन्दर्भ

1. तद् द्विविधं सराग वीतराग विषय भेदात्। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याहि अभिव्यक्ति लक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।
2 मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. 261-264
3 पञ्चाध्यायी 2/426-430
4. पञ्चास्तिकाय —गाथा-137
5 पञ्चाध्यायी 2/431-445
6. पञ्चास्तिकाय-137 (अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित समय व्याख्या)
7. पञ्चास्तिकाय – गाथा-137 (जयसेनाचार्यकृत टीका)
8. पञ्चाध्यायी 2/446-451
9. सप्तानां कर्मप्रकृतीनां आत्यन्तिके अपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते।। तत्त्वार्थवार्तिक 1/2/31/22/11
10. भगवती आराधना-विजयोदया टीका 51/175/18, 21
11. समयसार तात्पर्यवृत्ति 97/125/13
12. अमितगति श्रावकाचार 2/65
13. द्रव्यसंग्रह टीका 41/168/2
14. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश – भाग-4 पृष्ठ 361
15. पञ्चाध्यायी (उत्तरार्द्ध)-912

—जैन मन्दिर के पास
बिजनौर, उ.प्र.

पचास वर्ष पूर्व

धवलादि-श्रुत-परिचय

— आचार्य पं. जुगलकिशोर मुख़्तार

'धवल' और 'जयधवल' नाम से जो सिद्धान्तग्रन्थ प्रसिद्धि को प्राप्त हैं वे वास्तव में कोई मूल-ग्रन्थ नहीं हैं, बल्कि टीका-ग्रन्थ हैं। खुद उनके रचयिता वीरसेनाचार्य ने तथा जिनसेनाचार्य ने उन्हें टीका-ग्रन्थ लिखा है और इन टीकाओं के नाम 'धवला', 'जयधवला' बतलाए हैं, जैसा कि उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है–

"भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेणा"।।5।
"कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला"।।8।। –धवल-प्रशस्ति

"इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।"
"एकान्नषष्ठिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या।।" –जयधवल-प्रशस्ति

धवल और जयधवल नामों की यह प्रसिद्धि आज की अथवा बहुत ही आधुनिक नहीं है। ब्रह्म हेमचन्द्र अपने प्राकृत श्रुतस्कन्ध में और विक्रम की 10वीं-11वीं शताब्दी के विद्वान् महाकवि पुष्पदन्त अपने महापुराण में भी इन्हीं नामों के साथ इन ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं। यथा–

"सदरीसहस्स धवलो जयधवलो सट्ठिसहसबोधव्वो।
महबंधो चालीसं सिद्धंततयं अहं वंदे।।" –श्रुतस्कन्ध, 88

"ण उ बुझिउ आयमु सद्दधामु।
सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम।।" –महापुराण, 1,9,8

इस तरह ये नाम बहुत कुछ पुराने तथा रूढ़ हैं और इनकी सृष्टि टीका

को भाष्यरूप में प्रदर्शित करने की दृष्टि से हुई जान पड़ती है। परन्तु आम जैन-जनता सुने-सुनाये आधार पर इन्हें मूल एवं स्वतंत्र ग्रंथों के रूप में ही मानती आ रही है। अपने स्वरूप से मूल-ग्रंथ न होकर टीका-ग्रंथ होते हुए भी, ये अपने साथ में उन मूल सूत्रग्रन्थों को लिये हुए हैं जिनके आधार पर इनकी यह इतनी बड़ी तथा भव्य इमारत खड़ी हुई है। सिद्धिविनिश्चय-टीका तथा कुछ चूर्णियों आदि की तरह ये प्रायः सूत्रों के संकेत-मात्र को लिये हुए नहीं हैं; बल्कि मूल सूत्रों को पूर्ण रूप से अपने में समाविष्ट तथा उद्धृत किये हुए हैं, और इसलिये इनकी प्रतिष्ठा मूल सिद्धान्तग्रन्थों जैसी ही है और ये प्रायः स्वतन्त्र रूप में 'सिद्धान्तग्रन्थ' समझे तथा उल्लेखित किये जाते हैं।

धवल-जयधवल की आधारशिलाएँ

जयधवल की 60 हजार श्लोकपरिमाण निर्माण को लिये भव्य इमारत जिस आधारशिला पर खड़ी है उसका नाम 'कसायपाहुड' (कषायप्राभृत) है। और धवल की 70 हजार या 72 हजार[1] श्लोक परिमाण-निर्माण को लिये हुए भव्य इमारत जिस मूलाधार पर खड़ी हुई है वह 'षट्खण्डागम' है। षट्खण्डागम के प्रथम चार खंडों– 1. जीवस्थान, 2. क्षुल्लकबन्ध, 3. बन्ध-स्वामित्वविचय और 4. वेदाना, जिसे 'वेयणकसीण-पाहुड' तथा 'कम्मपयडिपाहुड' (कर्मप्रकृतिप्राभृत) भी कहते हैं, यह पूरी टीका है–इन चार खण्डों का इसमें पूर्ण रूप से समावेश है और इसलिये इन्हें ही प्रधानतः इस ग्रन्थ ही आधार-शिला कहना चाहिये। शेष 'वर्गणा' और 'महाबन्ध' नाम के दो खण्डों की इसमें कोई टीका नहीं है और न मूल सूत्र रूप में ही उन खण्डों का संग्रह किया गया है– उनके किसी-किसी अंश का ही कहीं-कहीं पर समावेश जान पड़ता है।

वर्गणाखण्ड-विचार

धवल ग्रन्थ में 'बन्धस्वामित्वविचय' नाम के तीसरे खण्ड की समाप्ति के अनन्तर मंगलाचरणपूर्वक 'वेदना' खण्ड का प्रारम्भ करते हुए, 'कम्मपयडिपाहुड' इस द्वितीय नाम के साथ उसके 24 अनुयोगद्वारों की सूचना करके उन अनुयोगद्वारों के कदि, वेयणा, फास, कम्म, पयडि, बंधण, इत्यादि 24 नाम दिये हैं और फिर उन अनुयोगद्वारों (अधिकारों) का क्रमशः उनके अवान्तर

अनुयोगद्वारों के भेद-प्रभेद-सहित वर्णन करते हुए अन्त के 'अप्पाबहुग' नामक 24वें अनुयोगद्वार की समाप्ति पर लिखा है—"एवं चउवीसदिमणिओगद्दारं समत्तं।" और फिर " एवं सिद्धांतार्णावं पूर्तिमगमत् चतुर्विंशति अधिकार 24 अणिओगद्दाराणि। नमः श्रीशांतिनाथाय श्रेयस्करो बभूव" ऐसा लिखकर 'जस्ससेसाण्णमए' इत्यादि ग्रन्थप्रशस्ति दी है, जिसमें ग्रन्थकार श्रीवीरसेनाचार्य ने अपनी गुरुपरम्परा आदि के उल्लेखपूर्वक इस धवला टीका की समाप्ति का समय कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी शकसंवत् 738 सूचित किया है। इससे साफ जाना जाता है कि यह 'धवल' ग्रन्थ 'वेदना-खण्ड' के साथ ही समाप्त होता है—वर्गणाखण्ड उसके साथ में लगा हुआ नहीं है।

परन्तु पं. पन्नालालजी सोनी आदि कुछ विद्वानों का खयाल है कि 'धवला' चार खण्डों की टीका न होकर पॉच खण्डों की टीका है—पॉचवॉं 'वर्गणा' खण्ड भी उसमें शामिल है। उनकी राय में 'वेदनाखण्ड में 24 अनुयोगद्वार नहीं हैं, 'वेदना' नाम का दूसरा अनुयोगद्वार ही 'वेदनाखण्ड' है और 'वर्गणाखण्ड' फास, कम्म, पयडि नाम के तीन अनुयोगद्वारों और 'बन्धन' अनुयोगद्वार के 'बंध' और 'बंधणिज्ज' के हैं, जो कि अग्रायणीय नाम के दूसरे पूर्व की पाँचवीं च्यवनलब्धि वस्तु का चौथा पाहुड है और जिसके कदि, वेयणा (वेदना) फासादि 24 अनुयोगद्वार हैं। 'वेदना-खण्ड' इस कम्मपयडिपाहुड का दूसरा 'वेदना' नाम का अनुयोगद्वार है। इस वेदनानुयोगद्वार के कहिये या वेदनाखण्ड के कहिये 16 ही अनुयोगद्वार हैं, जिनके नाम वेदणणिक्खेब, वेदणणयविभासणदा, वेदणणाम-विहाण, वेदणदव्वविहाण, वेदणखेत्तेविहार, वेदण-कालविहाण, वेदणभावविहाण आदि हैं।'[2]

ऐसी राय रखने और कथन करने वाले विद्वान् इस बात को भुला देते हैं कि 'कम्मपयडिपाहुड' और 'वेयणकसीणापाहुड' दोनों एक ही चीज के नाम हैं। कर्मो का प्रकृत स्वरूप वर्णन करने से जिस प्रकार 'कम्मपयडिपाहुड' गुण नाम है उसी प्रकार 'वेयणकसीणपाहुड' भी गुणनाम है; क्योंकि 'वेदना' कर्मो के उदय को कहते हैं, उसका निरवशेषरूप से जो वर्णन करता है उसका नाम 'वेयणकसीणापाहुड' है; जैसा कि 'धवला' के निम्न वाक्य से प्रकट है, जो आरा

के जैन सिद्धान्तभवन की प्रति में पत्र नं. 17 पर दिया हुआ है–

"कम्माणं पयडिसरूवं वण्णेदि तेण कम्मपयडिपाहुडे त्ति गुणणामं, वयणकसीणपाहुडे त्ति बि तस्स विदियं णाममत्थि, वेयण कम्माणमुदयो त कसीणं णिखसेसं वणणदि अदो वेयणकसीणपाहुडमिदि, एदमवि गुणणाममेव।"

वेदनाखण्ड का विषय 'कम्मपयडिपाहुड' न होने की हालत में यह नहीं हो सकता कि भूतबलि आचार्य कथन करने तो बैठें वेदनाखण्ड का और करने लगें कथन कम्मपयडिपाहुड का, उसके 24 अधिकारों का क्रमशः नाम देकर! उस हालत में कम्मपयडिपाहुड के अन्तर्गत 24 अधिकारों (अनुयोगद्वारों) में से 'वेदना' नाम के द्वितीय अधिकार के साथ अपने वेदनाखण्ड का सम्बन्ध व्यक्त करने के लिये यदि उन्हें उक्त 24 अधिकारों के नाम का सूत्र देने की जरूरत भी होती तो वे उसे देकर उसके बाद ही 'वेदना' नाम के अधिकार का वर्णन करते; परन्तु ऐसा नहीं किया गया–'वेदना' अधिकार के पूर्व 'कदि' अधिकार का और बाद को 'फास' आदि अधिकारों का भी उद्देशानुसार (नाम क्रम से) वर्णन प्रारम्भ किया गया है। धवलकार श्रीवीरसेनाचार्य ने भी, 24 अधिकारों के नाम वाले सूत्र की व्याख्या करने के बाद, जो उत्तरसूत्र की उत्थानिका दी है उसमें यह स्पष्ट कर दिया है कि उद्देश के अनुसार निर्देश होता है इसलिये आचार्य 'कदि' अनुयोगद्वार का प्ररूपण करने के लिये उत्तरसूत्र कहते हैं। यथा–

"जहा उद्देसो तहा णिद्देसो त्ति कट्टु कदिअणिओगद्दारं परूवणट्ठमुत्तरसुत्तं भणदि।"[3]

इससे स्पष्ट है कि 'वेदनाखण्ड' का विषय ही 'कम्मपयडिपाहुड' है; इसी से इसमें उसके 24 अधिकारों को अपनाया गया है, मंगलाचरण तक के 44 सूत्र भी उसी से उठाकर रखे गये हैं। यह दूसरी बात है कि इसमें उसकी अपेक्षा कथन संक्षेप से किया गया है, कितने ही अनुयोगद्वारों का पूरा कथन न देकर उसे छोड़ दिया है और बहुत सा कथन अपनी ग्रंथपद्धति के अनुसार सुविधा आदि की दृष्टि से दूसरे खण्डों में भी ले लिया गया है। इसीसे 'षट्खण्डागम' महाकम्मपयडिपाहुड (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) से उद्धृत कहा जाता है।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि वेदनाखण्ड के मूल 24 अनुयोगद्वारों के साथ ही धवला टीका समाप्त हो जाती है, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, और फिर उसमें वर्गणाखण्ड तथा उसकी टीका के लिये कोई स्थान नहीं रहता। उक्त 24 अनुयोगद्वारों में 'वर्गणा' नाम का कोई अनुयोगद्वार भी नहीं है। 'बंधण' अनुयोगद्वार के चार भेदों में 'बंधणिज्ज' भेद का वर्णन करते हुए, उसके अवान्तर भेदों में विषय को स्पष्ट करने के लिये[4] संक्षेप में 'वर्गणा-प्ररूपणा' दी गई है– वर्गणा के 16 अधिकारों का उल्लेख करके भी दो ही अधिकारों का वर्णन किया है। और भी बहुत कुछ संक्षिप्तता से काम लिया है, जिससे उसे वर्गणाखण्ड नहीं कहा जा सकता और न कहीं वर्गणाखण्ड लिखा ही है। इसी संक्षेप-प्ररूपण-हेतु को लेकर अन्यत्र कदि, फास और कम्म आदि अनुयोगद्वारों के खण्डग्रन्थ होने का निषेध किया गया है। तब अवान्तर अनुयोगद्वारों के भी अवान्तर भेदान्तर्गत इस संक्षिप्त वर्गणाप्ररूपण को 'वर्गणाखण्ड' कैसे कहा जा सकता है?

ऐसी हालत में सोनी जी जैसे विद्वानों का उक्त कथन कहाँ तक ठीक है, इसे विज्ञ पाठक इतने परसे ही स्वयं समझ सकते हैं, फिर भी साधारण पाठकों के ध्यान में यह विषय और अच्छी तरह से आ जाए, इसलिये मैं इसे यहाँ और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ और यह खुले रूप में बतला देना चाहता हूँ कि 'धवला' वेदनान्त चार खण्डों की टीका है—पाँचवें वर्गणाखण्ड की टीका नहीं है।

वेदनाखण्ड की आदि में दिये हुए 44 मंगलसूत्रों की व्याख्या करने के बाद श्रीवीरसेनाचार्य ने मंगल के 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' ऐसे दो भेद करके उन मंगलसूत्रों को एक दृष्टि से अनिबद्ध और दूसरी दृष्टि से निबद्ध बतलाया है और फिर उसके अनन्तर ही एक शंका-समाधान दिया है, जिसमें उक्त मंगलसूत्रों को ऊपर कहे हुए तीन खण्डों—वेदणा, बंधसामित्तविचओ और खुद्दाबंधो—का मंगलाचरण बतलाते हुए यह स्पष्ट सूचना की गई है कि 'वर्गणाखण्ड' की आदि में तथा 'महाबन्धखंड' की आदि में प्रथक् मंगलाचरण किया गया है, मंगलाचरण के बिना भूतबलि आचार्य ग्रन्थ का प्रारम्भ ही नहीं करते हैं। साथ ही, यह भी बतलाया है कि जिन कदि, फास, कम्म, पयडि,

(बंधण) अनुयोगद्वारों का भी यहाँ (एत्थ)—इस वेदनाखण्ड में—प्ररूपण किया गया है, उन्हें खण्डग्रन्थ संज्ञा न देने का कारण उनके प्रधानता का अभाव है, जो कि उनके संक्षेप कथन से जाना जाता है। इस कथन से सम्बन्ध रखने वाले शंका-समाधान के दो अंश इस प्रकार हैं :—

"उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं? तिण्णं खंडाणं। कुदो? वग्गणामहाबंधाणं आदीए मंगलकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदबलि-भडारओ गंथस्स पारंभदि तस्स अणाइरियत्तप्प संगादो।"

"कादि-फास-कम्म-पयडि-(बंधण)-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि तेसिं खंडगंथसण्णा-मकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे? ण तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे? संखेवेण परूवणादो।" [5]

उक्त, 'फास' आदि अनुयोगद्वारों में से किसी के भी शुरू में मंगलाचरण नहीं है—'फासे त्ति', 'कम्मे त्ति' 'पयडि त्ति', 'बंधणे त्ति' सूत्रों के साथ ही क्रमशः मूल अनुयोगद्वारों का प्रारम्भ किया गया है, और इन अनुयोगद्वारों की प्ररूपण वेदनाख़ण्ड में की गई है तथा इनमें से किसी को ख़ण्डग्रन्थ की संज्ञा नहीं दी गई, यह बात ऊपर के शंकासमाधान से स्पष्ट है। ऐसी हालत में सोनीजी का 'वेदना' अनुयोगद्वार को ही 'वेदनाखण्ड' बतलाना और फास, कम्म, पयडि अनुयोगद्वारों को तथा बंधण-अनुयोगद्वार के बन्ध और बंधनीय अधिकारों को मिलाकर 'वर्गणाखण्ड' की कल्पना करना और यहाँ तक लिखना कि ये अनुयोगद्वार "वर्गणाखंड के नाम से प्रसिद्ध हैं" कितना असंगत और भ्रमपूर्ण है उसे बतलाने की जरूरत नहीं रहती। 'वर्गणाखंड' के नाम से उक्त अनुयोगद्वारों के प्रसिद्ध होने की बात तो बड़ी ही विचित्र है! अभी तो यह ग्रन्थ लोकपरिचय में भी अधिक नहीं आया। फिर उसके कुछ अनुयोगद्वारों की 'वर्गणाखंड' नाम से प्रसिद्धि की तो बात ही दूर है। सोनीजी को यह सब लिखते हुए इतनी भी खबर नहीं पड़ी कि यदि अकेला वेदना-अनुयोगद्वार ही वेदनाखंड है तो फिर 'कदि' अनुयोगद्वार को कौन से खंड में शामिल किया जाएगा? 'बंधसामित्तविचओ' नाम के पूर्वखंड में तो उसका समावेश हो नहीं सकता—वह अपने विषय और मंगलसूत्रों आदि के द्वारा उससे पृथक् हो चुका

है। इसी तरह यह भी खबर नहीं पड़ी कि यदि बंधण-अनुयोगद्वार के बंध और बन्धनीय अधिकारों को वर्गणाखंड में शामिल किया जायगा तो शेष अधिकार के क्रमशः प्राप्त कथन के लिये कौन से नये खंड की कल्पना करनी होगी? क्या उसे किसी भी खंड में शामिल न करके अलग ही रखना होगा? आशा है इन सब बातों के विचार पर से सोनीजी को अपनी भूल मालूम पड़ेगी।

अब मैं उन बातों को भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ जिनसे सोनीजी को भ्रम हुआ जान पड़ता है और जिन्हें वे अपने पक्ष की पुष्टि में हेतुरूप से प्रस्तुत करते हैं।

(क) सबसे पहली बात है वेदना अनुयोगद्वार के अन्त में वेदनाखंड की समाप्ति का लिखा जाना, जिसकी शब्द रचना इस प्रकार है–

''एवं वेयणअप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता।''

इस वाक्य में ''वेयणाखंड समत्ता'' यह पद अशुद्ध है–''वेयणा समत्ता'' ऐसा होना चाहिये; क्योंकि वेयणकसीणपाहुड अथवा कम्मपयडिपाहुड के 24 अनुयोगद्वारों में से, जिनका ग्रन्थ में उद्देश-क्रम से कथन किया है, 'वेयणा' नाम का दूसरा अनुयोगद्वार है, जिसकी टीका प्रारंभ करते हुए वीरसेनाचार्य ने भी, ''वेयणमहाहियारं विविहियारं परूवेमो'' इस प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा उसे विविध अधिकारों से युक्त 'वेयणा' नाम का महाअधिकार सूचित किया है–'वेयणाखंड' नहीं लिखा है–वही अधिकार अथवा अनुयोगद्वार अपने अवान्तर 16 अनुयोगद्वारों और उनके भी फिर अवान्तर अधिकारों के साथ वहाँ पूरा हुआ है। 'वेयणा' के 16 अनुयागद्वारों में अन्त का अनुयोगद्वार 'वेयणअप्पाबहुग' है, उसी की समाप्ति के साथ 'वेयणा' की समाप्ति की बात उक्त समाप्ति सूचक वाक्य में कही गई है। 'वेयणा' पद स्त्रीलिंग होने से उसके साथ में 'समत्ता' (समाप्त हुई) क्रिया ठीक बैठ जाती है। दोनों के बीच में पड़ा हुआ 'खंड' शब्द असंगत और प्रक्षिप्त जान पड़ता है। श्रीवीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका में कहीं भी अकेले 'वेयण' अनुयोगद्वार को 'वेयणाखंड' नहीं लिखा है– वे 'वेयणाखण्ड' अनुयोगद्वारों के उस समूह को बतलाते हैं

जिसका प्रारम्भ 'कदि' अनुयोगद्वार से होता है और इसी से 'कदि' अनुयोगद्वार के शुरू में दिये हुए उक्त 44 मंगलसूत्रों को उन्होंने 'वेदनाखण्ड' का मंगलाचरण बतलाया है; जैसा कि उनके निम्नवाक्य में प्रयुक्त हुए "वेयणाखण्डस्स आदीए मंगलट्ठं" शब्दों से स्पष्ट है-

"ण ताव णिबद्धमंगलमिदं महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादिचउबीसअणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदबलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणोदूण ठविदस्स णिबद्धत्तविरोहादो।"

ऐसी हालत में और इससे पूर्व में डाले हुए प्रकाश की रोशनी में उक्त 'खंड' शब्द के प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह मालूम नहीं होता। 'खण्ड' शब्द लेखक की किसी असावधानी का परिणाम है। हो सकता है कि यह उस लेखक के द्वारा ही बाद में बढ़ाया गया हो जिसने उक्त वाक्य के बाद अधिकार की समाप्ति का चिन्ह होते हुए भी नीचे लिखे वाक्यों को प्रक्षिप्त किया है-

"णमो णाणाराहणाए णमो दंसणाराहणाए णमो चरित्ताराहणाए णमो तवाराहणाए। णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं। णमो भयवदो महदिमहावीरवड्ढमाणबुद्धिरिसिस्स णमो भयवदो गोयमसामिस्स. नमः सकलविमलकेवलज्ञानावभासिने नमो वीतरागाय महात्मने नमो वर्द्धमानभट्टारकाय। वेदनाखण्डसमाप्तम्।।"[6]

ये वाक्य मूलग्रन्थ अथवा उसकी टीका के साथ कोई खास सम्बन्ध रखते हुए मालूम नहीं होते-वैसे ही किसी पहले लेखक द्वारा अधिकार-समाप्ति के अन्त में दिए हुए जान पड़ते हैं। और भी अनेक स्थानों पर इस प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं, जो या तो मूलप्रति के हाशिये पर नोट किये हुए थे अथवा अधिकार-समाप्ति के नीचे छूटे हुए खाली स्थान पर बाद को किसी के द्वारा नोट किये हुए थे; और इस तरह कापी करते समय ग्रन्थ में प्रक्षिप्त हो गये हैं। वीरसेनाचार्य की अपने अधिकारों के अन्त में ऐसे वाक्य देने की कोई

पद्धति भी नहीं पाई जाती—अधिकांश अधिकार ही नहीं किन्तु खंड तक ऐसे वाक्यों से शून्य पाये जाते हैं और कितने ही अधिकारों में ऐसे वाक्य प्रक्षिप्त हो रहे हैं जिनका पूर्वापर कोई भी सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। उदाहरण के लिए 'जीवाट्ठाण' की एक चूलिका (संभवतः 7वीं या 8वीं) में "तव्वदिरित्तठाणाणि असंखेज्जगुणाणि पडिवादुप्पादठाणाणि मोत्तूण सेससव्वट्ठाणाणं गहणादो।"

इस वाक्य के अनन्तर ही बिना किसी सम्बन्ध के ये वाक्य दिये हुए हैं।

"श्रीश्रुतिकीर्तित्रैविद्यदेवस्थिरं जीयाओ।।10।।
नमो वीतरागाय शान्तये" [7]

ऐसी हालत में उक्त 'खंड' शब्द निश्चित रूप से प्रक्षिप्त अथवा लेखक की किसी भूल का परिणाम है। यदि वीरसेनाचार्य को 'वेदना' अधिकार के साथ ही 'वेदनाखंड' का समाप्त करना अभीष्ट होता तो वे उसके बाद ही क्रम प्राप्त वर्गणाखंड का स्पष्ट रूप से प्रारंभ करते—फासाणियोगद्वार का प्रारंभ करके उसकी टीका के मंगलाचरण में 'फासणिओअं परूवेमो' ऐसा न लिखते। मूल 'फास' अनुयोगद्वार के साथ में कोई मंगलाचरण न होने से उसके साथ वर्गणाखंड का प्रारम्भ नहीं किया जा सकता; क्योंकि वर्गणाखंड के प्रारंभ में भूतबलि आचार्य ने मंगलाचरण किया है, यह बात श्रीवीरसेनाचार्य के शब्दों में ही ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है। अतः उक्त समाप्ति सूचक वाक्य में 'खंड' शब्द के प्रयोग मात्र से सोनीजी के तथा उन्हीं के सदृश दूसरे विद्वानों के कथन को कोई पोषण नहीं मिलता। उनकी इस पहली बात में कुछ भी जान नहीं है, वह एक निर्दोष हेतु का काम नहीं दे सकती।

(ख) दूसरी बात बहुत साधारण है। फासाणियोगद्वार की टीका के अन्त में एक वाक्य निम्न प्रकार से पाया जाता है—

"जदि कम्मफासे पयदं तो कम्मफासो सेसपण्णारसअणिओगद्दरेहिं भूदबलिभयवदा सो एत्थ किण्ण परूविदो? ण एस दोसो, कम्मक्खंधस्स फाससण्णिदस्स सेसाणियोगद्दारेहिं परूवणाए कीरमाणाए वेयणाए परूविदत्थादो विसेसो णत्थि त्ति।"

इस वाक्य के द्वारा यह सूचित किया गया है कि फासणिओगद्दार के 16 अनुयोगद्वारों में से एक का कथन करके शेष 15 अनुयोगद्वारों का कथन भूतबलि आचार्य ने यहाँ इसलिये नहीं किया है कि उनकी प्ररूपणा में 'वेदना' अधिकार में प्ररूपित अर्थ से कोई विशेष नहीं है।

इसी तरह पयडि (प्रकृति) अनुयोगद्वार के अन्त में भूलबलि आचार्य का एक वाक्य निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है–

सेसं वेयणाए भंगो।"

इस वाक्य की टीका में वीरसेनाचार्य लिखते हैं–

"सेसाणिओगद्दाराणं जहा वेयणाए परूवणा कदा तहा कायव्वा।" अर्थात् शेष अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा जिस प्रकार वेदना-अनुयोगद्वार में की गई है उसी प्रकार यहाँ भी कर लेनी चाहिये।

उक्त दोनों वाक्यों को देकर सोनीजी लिखते हैं–"इन दो उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि 'फासाणियोगद्दार' के पहले तक ही 'वेदनाखंड' है।" परन्तु कैसे स्पष्ट होता है? इसे सोनी जी ही समझ सकते है! यह सब उसी भ्रम तथा भूल का परिणाम है जिसके अनुसार 'फासाणियोगद्दार' समझ लिया गया है और जिसका ऊपर काफी स्पष्टीकरण किया जा चुका है। उक्त वाक्यों में प्रयुक्त हुआ 'वेयण' शब्द 'वेदनाअनुयोगद्वार' का वाचक है—-वेदनाखण्ड' का वाचक नहीं है।

(ग) तीसरी बात वर्गणाखण्ड के उल्लेख से सम्बन्ध रखती है। सोनीजी 'जयधवला' से **"सिप्पोग्गहादीणं अत्थो जहा वग्गणाखंडे परूविदो तहा एत्थ परूवेदव्वो"** यह वाक्य उद्धृत करके लिखते हैं–

"जयधवल में न तो अवग्रह आदि का अर्थ लिखा है और न मतिज्ञान के 336 भेद ही स्पष्ट गिनाये गये हैं। 'प्रकृति' अनुयोगद्वार में इन सबका स्पष्ट और सविस्तर वर्णन टीका में ही नहीं बल्कि मूल में भी है। इससे मालूम होता है कि वेदनाखण्ड के आगे के उक्त अनुयोगद्वार वर्गणाखण्ड के अन्तर्गत हैं या

उनका सामान्य नाम वर्गणाखण्ड है। यदि ऐसा न होता तो आचार्य 'प्रकृति' अनुयोगद्वार को वर्गणाखण्ड के नाम से न लिखते।"

कितना बढ़िया अथवा विलक्षण यह तर्क है, इस पर विज्ञ पाठक जरा गौर करें! सोनीजी प्रकृति (पयडि) अनुयोगद्वार को 'वर्गणाखण्ड' का अंग सिद्ध करने की धुन में वर्गणाखण्ड के स्पष्ट उल्लेख को भी 'प्रकृति' अनुयोगद्वार का उल्लेख बतलाते हैं और यहाँ तक कहने का साहस करते हैं कि खुद जयधवलाकार आचार्य ने 'प्रकृति' अनुयोगद्वार को वर्गणाखण्ड के नाम से उल्लेखित किया है! इसी का नाम अतिसाहस है! क्या एक विषय का वर्णन अनेक ग्रंथों में नहीं पाया जाता? यदि पाया जाता है तो फिर एक ग्रन्थ का नाम लेकर यदि कोई उल्लेख करता है तो उसे दूसरे ग्रन्थ का उल्लेख क्यों समझा जाय? इसके सिवाय, यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है कि वर्गणाखण्ड की आदि में भूतबलि आचार्य ने मंगलाचरण किया है और जिन 'फास' आदि चार अनुयोगद्वारों को 'वर्गणाखण्ड' बतलाया जाता है उनमें से किसी की भी आदि में कोई मंगलाचरण नहीं है, इससे वे 'वर्गणाखण्ड' नहीं हैं किन्तु 'वेदनाखण्ड' के ही अधिकार हैं, जिनके क्रमशः कथन की ग्रंथ में सूचना की गई है।

(घ) चौथी बात है कुछ वर्गणासूत्रों के उल्लेख की। सोनीजी ने वेदनाखण्ड के शुरू में दिये हुए मंगलसूत्रों की व्याख्या में से निम्नलिखित तीन वाक्यों को उद्धृत किया है, जो वर्गणासूत्रों के उल्लेख को लिये हुए हैं–

"ओहिणाणावरणस्स असंखेज्जमेत्ताओ चेव पयडीओ त्ति वग्गणसुत्तादो।"

"कालो चउण्ण उड्ढी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढीए वुड्ढीए दब्बपज्जय भजिदव्वो खेत्तकाला दु।।

एदम्हादो वग्गणसुत्तादो णव्वदे।"

"आहारवग्गणाए दव्वा थोवा, तेयावग्गणाए दव्वा अणंतगुणा, भासावग्गणाए दव्वा अणंतगुणा, मण. दव्वा अणंतगुणा, कम्मइय अणंतगुणा

त्ति वग्गणसुत्तादो णव्वदे।"

ये वाक्य यद्यपि धवलादि सम्बन्धी मेरी उस नोट्सबुक में नोट किये हुए नहीं है जिसके आधार पर यह सब परिचय लिखा जा रहा है, और इससे मुझे इनकी जाँच का और इनके पूर्वापर सम्बन्ध को मालूम करके यथेष्ट विचार करने का अवसर नहीं मिल सका; फिर भी सोनीजी इन वाक्यों में उल्लेखित प्रथम दो वर्गणासूत्रों का 'प्रकृत' अनुयोगद्वार में और तीसरे का 'बन्धनीय' अधिकार में जो पाया जाना लिखते हैं उस पर मुझे सन्देह करने की जरूरत नहीं है। परन्तु इस पाये जाने मात्र से ही 'प्रकृत' अनुयोगद्वार और 'बन्धनीय' अधिकार वर्गणाखण्ड नहीं हो जाते। क्योंकि प्रथम तो ये अधिकार और इनके साथ के फासादि अधिकार वर्गणाखण्ड के कोई अंग नहीं हैं, यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है—इनमें से किसी के भी शुरू, मध्य या अन्त में इन्हें वर्गणाखंड नहीं लिखा, अन्त के 'बन्धनीय' अधिकार को समाप्त करते हुए भी इतना ही लिखा है कि "**एवमोगाहणप्पाबहुए सुवुत्ते बंधणिज्जं समत्तं होदि।**" दूसरे, 'वर्गणासूत्र' का अभिप्राय वर्गणाखंड का सूत्र नहीं किन्तु वर्गणाविषयक सूत्र है। वर्गणा का विषय अनेक खंडों तथा अनुयोगद्वारों में आया है, 'वेदना' नाम के अनुयोगद्वार में भी वह पाया जाता है—"वग्गणपरूवणा" नाम का उसमें एक अवान्तरान्तर अधिकार है। उस अधिकार का कोई सूत्र यदि वर्गणासूत्र के नाम से कहीं उल्लेखित हो तो क्या सोनीजी उस अधिकार अथवा वेदना अनुयोगद्वार को ही 'वर्गणाखंड' कहना उचित समझेंगे? यदि नहीं तो फिर उक्त वर्गणासूत्रों के प्रकृति आदि अनुयोगद्वार में पाये जाने मात्र से उन अनुयोगद्वारों को 'वर्गणाखंड' कहना कैसे उचित हो सकता है? कदापि नहीं। अतः सोनीजी का उक्त वर्गणासूत्रों के उल्लेख पर से यह नतीजा निकालना कि "यही वर्गणाखंड है—इससे जुदा और कोई वर्गणाखंड नहीं है" जरा भी तर्कसंगत मालूम नहीं होता।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि षट्खण्डागम के उपलब्ध चार खंडों में सैकड़ों सूत्र ऐसे हैं जो अनेक खंडों तथा एक खंड के अनेक अनुयोगद्वारों में ज्यों के त्यों अथवा कुछ पाठभेद के साथ पाये जाते

हैं—जैसे कि 'गइ इंदिए च काए' नाम का मार्गणासूत्र जीवट्ठाण, खुद्दाबंध और वेयणा नाम के तीन खंडों में पाया जाता है। किसी सूत्र की एकता अथवा समानता के कारण जिस प्रकार इन खंडों में से एक खंड को दूसरा खंड तथा एक अनुयोगद्वार को दूसरा अनुयोगद्वार नहीं कह सकते उसी प्रकार वर्गणाखंड के कुछ सूत्र यदि इन खंडों अथवा अनुयोगद्वारों में पाये जाते हो तो इतने पर से ही इन्हें वर्गणाखंड नहीं कहा जा सकता। वर्गणाखंड कहने के लिये तद्विषयक दूसरी आवश्यक बातों को भी उसी तरह देख लेना होगा जिस तरह कि उक्त सूत्र की एकता के कारण खुद्दाबंध को जीवट्ठाण कहने पर जीवट्ठाण-विषयक दूसरी जरूरी बातों को वहां देख लेना होगा। अतः सोनीजी ने वर्गणासूत्रों के उक्त उल्लेख पर से जो अनुमान लगाया है वह किसी तरह भी ठीक नहीं है।

(ङ) एक पाँचवीं बात और है, और वह इस प्रकार है—

"आचार्य वीरसेना लिखते हैं— अवसेसं सुत्तट्ठं वग्गणाए परूवइस्सामो' अर्थात् सूत्र का अवशिष्ट अर्थ 'वर्गणा' में प्ररूपण करेंगे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'वर्गणा' का प्ररूपण भी वीरसेनस्वामी ने किया है। वर्गणा का वह प्ररूपण धवल से बहिर्भूत नहीं है किन्तु धवल ही के अन्तर्भूत है।"

यद्यपि आचार्य वीरसेन का उक्त वाक्य मेरे पास नोट किया हुआ नहीं है, जिससे उस पर यथेष्ट विचार किया जा सकता; फिर भी यदि वह वीरसेनाचार्य का ही वाक्य है और 'वेदना' अनुयोगद्वार में दिया हुआ है तो उससे प्रकृत विषय पर कोई असर नहीं पड़ता—यह लाजिमी नहीं आता कि उसमें वर्गणाखण्ड का उल्लेख है और वह वर्गणाखण्ड फासादि अनुयोगद्वारों से बना हुआ है—उसका सीधा संबंध स्वयं 'वेदना' अनुयोगद्वार में दी हुई है 'वग्गणपरूवणा' तथा 'बंधणिज्ज' अधिकार में दी हुई वर्गणा की विशेष प्ररूपणा के साथ हो सकता है, जोकि धवल के बहिर्भूत नहीं है और यदि जुदे वर्गणाखण्ड का ही उल्लेख हो तो उस पर वीरसेनाचार्य की अलग टीका होनी चाहिये, जिसे वर्तमान में उपलब्ध होने वाले धवलभाष्य अथवा धवला टीका में समाविष्ट नहीं किया गया है। हो सकता है कि जिस विकट परिस्थियों में

यह ग्रंथप्रति मूडबिद्री से आई है उसमें शीघ्रतादि के वश वर्गणाखण्ड की कापी न हो सकी हो और अधूरी ग्रन्थप्रति पर यथेष्ठ पुरस्कार न मिल सकने की आशा से लेखक ने ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति को 'वेदनाखण्ड' के बाद जोड़कर ग्रंथप्रति को पूरा प्रकट किया हो, जिसकी आशा बहुत ही कम है। कुछ भी हो, उपलब्ध प्रति के साथ में वर्गणाखण्ड नहीं है और वह चार खण्डों की ही टीका है, इतना तो स्पष्ट ही है। शेष का निर्णय मूडबिद्री की मूल प्रति को देखने से ही हो सकता है। आशा है पं. लोकनाथ जी शास्त्री उसे देखकर इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश डालने की कृपा करेंगे—यह स्पष्ट लिखने का जरूर कष्ट उठाएँगे कि वेदनाखण्ड अथवा कम्मपयडिपाहुड के 24वें अधिकार की समाप्ति के बाद ही—"एवं चउवीसदि-मणिओगद्दारं समत्तं" इत्यादि समाप्तिसूचक वाक्यों के अनन्तर ही—उसमें 'जस्स सेसाण्णमए' नाम की प्रशस्ति लगी हुई है या कि उसके बाद 'वर्गणाखण्ड' की टीका देकर फिर वह प्रशस्ति दी गई है।

हॉ, सोनीजी ने यह नहीं बतलाया कि वह सूत्र कौनसा है जिसके अवशिष्ट अर्थ को 'वर्गणा' में कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और वह किस स्थान पर कौन सी वर्गणाप्ररूपण में स्पष्ट किया गया है? उसे जरूर बतलाना चाहिये था। उससे प्रकृत विषय के विचार को काफी मदद मिलती और वह बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता। अस्तु।

यहाँ तक के इस संपूर्ण विवेचन पर से और ग्रंथ की अंतरंग साक्षी पर से मैं समझता हूँ, यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उपलब्ध धवला टीका षट्खण्डागम के प्रथम चार खण्डों की टीका है, पाँचवें वर्गणा खण्ड की टीका उसमें शामिल नहीं है और अकेला 'वेदना' अनुयोगद्वार ही वेदनाखण्ड नहीं है बल्कि उसमें दूसरे अनुयोगद्वार भी शामिल हैं।

इन्द्रनन्दी और विबुध श्रीधर के श्रुतावतारों की बहिरंग साक्षीपर से भी कुछ विद्वानों को भ्रम हुआ जान पड़ता है; क्योंकि इन्द्रनन्दी ने **"इतिषण्णाँ खण्डानां...टीकां विलिख्य धवलाख्याम्"** इस वाक्य के द्वारा धवला को छह खण्डों की टीका बतला दिया है! और विबुध श्रीधर ने **'पंचखंडे षट्खंडं संकल्प्य'** जैसे वाक्य के द्वारा धवला में पाँच खण्डों का होना सूचित किया है।

इस विषय में मैं सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि इन ग्रंथकारों के सामने मूल सिद्धान्तग्रंथ और उनकी प्राचीन टीकाएँ तो क्या धवल और जयधवल ग्रंथ तक मौजूद नहीं थे और इसलिये इन्होंने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह सब प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने-सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है। यही वजह है कि धवल-जयधवल के उल्लेखों से इनके उल्लेखों में कितनी ही बातों का अन्तर पाया जाता है, जिसका कुछ परिचय पाठकों को अनेकान्त के द्वितीय वर्ष की प्रथम किरण के पृष्ठ 7,8 को देखने से मालूम हो सकता है और कुछ परिचय इस लेख में आगे दिये हुए फुटनोटों आदि से भी जाना जा सकेगा। ऐसी हालत में इन ग्रंथों की बहिरंग साक्षी को खुद धवलादिक की अंतरंग साक्षी पर कोई महत्व नहीं दिया जा सकता। अन्तरंग-परीक्षण से जो बात उपलब्ध होती है वही ठीक जान पड़ती है।

षट्खण्डागम और कषायप्राभृत की उत्पत्ति

अब यह बतलाया जाता है कि धवल के मूलाधार-भूत 'षट्खंडागम' की और जयधवल के मूलाधाररूप 'कषायप्राभृत' की उत्पत्ति कैसे हुई कब किस आचार्य-महोदय ने इनमें से किस ग्रंथ का निर्माण किया और उन्हें तद्विषयक ज्ञान कहॉ से अथवा किस क्रम से (गुरुपरम्परा से) प्राप्त हुआ। यह सब वर्णन अथवा ग्रंथावतार कथन यहॉ धवल और जयधवल के आधार पर—उनके वर्णनानुसार ही दिया जाता है।

धवल के शुरू में, कर्ता के 'अर्थकर्ता' और 'ग्रन्थकर्ता' ऐसे दो भेद करके, केवलज्ञानी भगवान महावीर को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-रूप से अर्थकर्ता प्रतिपादित किया है और उसकी प्रमाणता में कुछ प्राचीन पद्यों को भी उद्धृत किया है। महावीर-द्वारा-कथित अर्थ को गोतम गोत्री ब्राह्मणोत्तम गौतम ने अवधारित किया, जिसका नाम इन्द्रभूति था। यह गौतम सम्पूर्ण दुःश्रुति का पारगामी था, जीवाजीव-विषयक सन्देह के निवारणार्थ श्रीवर्द्धमान महावीर के पास गया था और उनका शिष्य बन गया था। उसे वहीं पर उसी समय क्षयोपशम-जनित निर्मल ज्ञान-चतुष्टय की प्राप्ति हो गई थी। इस प्रकार भाव-श्रुत पर्याय-रूप परिणत हुए इन्द्रभूति गौतम ने महावीर कथित अर्थ की बारह अंगों-चौदह पूर्वो

में ग्रन्थ-रचना की और वे द्रव्यश्रुत के कर्ता हुए। उन्होंने अपना वह द्रव्य-भाव-रूपी श्रुतज्ञान लोहाचार्य[8] के प्रति संचारित किया और लोहाचार्य ने जम्बूस्वामी के प्रति। ये तीनों–गौतम, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी–सप्तप्रकार की लब्धियों से सम्पन्न थे और उन्होंने सम्पूर्ण श्रुत के पारगामी होकर केवलज्ञान को उत्पन्न करके क्रमशः निर्वृति को प्राप्त किया था।

जम्बूस्वामी के पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भ्रदबाहु ये पांच आचार्य चतुर्दश-पूर्व के धारी अर्थात् सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के पारगामी हुए।

भद्रबाहु के अनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य[9], नागाचार्य[10], सिद्धार्थदेव, धृतिषेण, विजयाचार्य[11], बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये क्रमशः 11 आचार्य ग्यारह अंगों और उत्पादपूर्वादि दश पूर्वो के पारगामी तथा शेष चार पूर्वो के एकदेश धारी हुए।

धर्मसेन के बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन[12] और कंसाचार्य ये क्रमशः पांच आचार्य ग्यारह अंगों के पारगामी और चौदह पूर्वो के एकदेश धारी हुए।

कंसाचार्य के अनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु[13] और लोहाचार्य ये क्रमशः चार आचार्य आचारांग के पूर्णपाठी और शेष अंगों तथा पूर्वो के देश धारी हुए।[14]

लोहाचार्य के बाद सर्व अंगों तथा पूर्वो वह एक-देशश्रुत जो आचार्य-परम्परा से चला आया था धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ। धनसेनाचार्य अष्टाँग महानिमित्त के पारगामी थे। वे जिस समय सोरठ देश के गिरिनगर (गिरनार) पहाड़ की चन्द्र-गुहा में स्थित थे उन्हें अपने पास के ग्रन्थ (श्रुत) के व्युच्छेद हो जाने का भय हुआ, और इसलिये प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित होकर उन्होंने दक्षिणा-पथ के आचार्यो के पास, जो उस समय महिमा[15] नगरी में सम्मिलित हुए थे (**'दक्खिणा-वहाइरियाणं महीमाए मिलियाणं'**)[16] एक लेख (पत्र) भेजा। लेखस्थित धरसेन के वचनानुसार उन आचार्यों ने दो साधुओं को, जो कि

ग्रहण-धारण में समर्थ थे, बहुविध निर्मल विनय से विभूषित तथा शील-माला के धारक थे, गुरु-सेवा में सन्तुष्ट रहने वाले थे, देश कुल-जाति से शुद्ध थे और सकल-कला-पारागामी एवं तीक्ष्ण-बुद्धि के धारक आचार्य थे– आन्ध्र देश के वेण्यातट[17] नगर से धरसेनाचार्य के पास भेजा। **(अंधवि-सयवेण्णायडादो पेसिदा)**। वे दोनों साधु जब आ रहे थे तब रात्रि के पिछले भाग में धरसेन भट्टारक ने स्वप्न में सर्व-लक्षण सम्पन्न दो धवल वृषभों को अपने चरणों में पड़ते हुए देखा। इस प्रकार सन्तुष्ट हुए धरसेनाचार्य ने **'जयतु श्रुतदेवता'**[18] ऐसा कहा। उसी दिन वे दोनों साधुजन धरसेनाचार्य के पास पहुँच गये और तब भगवान् धरसेन का कृतिकर्म (वन्दनादि) करके उन्होंने दो दिन[19] विश्राम किया, फिर तीसरे दिन विनय के साथ धरसेन भट्टारक को यह बतलाया कि 'हम दोनों जन अमुक कार्य के लिये आपकी चरण-शरण में आए हैं।' इस पर धरसेन भट्टारक ने 'सुष्ठु भद्रं' ऐसा कहकर उन दोनों को आश्वासन दिया और फिर वे इस प्रकार चिन्तन करने लगे–

''सेलघण-भग्गघड-अहि-चालणि-महिसाऽवि-जा-हयसुएहि।''[20]

मट्टिय-मसयसमाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा।। 1।। दुध (?) गारवपडिवद्धो विसयामिसविसवसेण घुम्मंतो।

सो णट्ठबोहिलाहो भमइ चिरं भववणे मूढो।। 2।।

इस वचन से स्वच्छन्दचारियों को विद्या देना संसार-भय का बढ़ाने वाला है। ऐसा चिन्तन कर, शुभ-स्वप्न के दर्शन से ही पुरुष में भेद को जानने वाले धरसेनाचार्य ने फिर भी उनकी परीक्षा करना अंगीकार किया। सुपरीक्षा ही निःसन्देह हृदय को मुक्ति दिलाती है।[21] तब धरसेन ने उन्हें दो विद्याएँ दीं– जिनमे एक अधिकाक्षरी, दूसरी हीनाक्षरी थी–और कहा कि इन्हें षष्ठोपवास के साथ साधन करो। इसके बाद विद्या सिद्ध करके जब वे विद्यादेवताओं को देखने लगे तो उन्हें मालूम हुआ कि एकका दाँत बाहर को बढ़ा हुआ है और दूसरी कानी (एकाक्षिणी) है। देवताओं का ऐसा स्वभाव नहीं होता यह विचार कर जब उन मंत्र-व्याकरण में निपुण मुनियों ने हीनाधिक अक्षरों का क्षेपण-अपनयन

विधान करके–कमीवेशी को दूर कर के–उन मंत्रों को फिर से पढ़ा तो तुरन्त ही वे दोनों विद्या-देवियाँ अपने-अपने स्वभाव-रूप में स्थित होकर नजर आने लगीं। तदनन्तर उन मुनियों ने विद्या-सिद्धि का सब हाल पूर्ण विनय के साथ भगवद् धरसेन से निवेदन किया। इस पर धरसेन जी ने सन्तुष्ट होकर उन्हें सौम्य तिथि और प्रशस्त नक्षत्र के दिन उस ग्रन्थ का पढ़ाना प्रारम्भ किया, जिसका नाम 'महाकम्मपयडिपाहुड' (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) था। फिर क्रम से उसकी व्याख्या करते हुए (कुछ दिन व्यतीत होने पर) आषाढ़ शुक्ला एकादशी को पूर्वाह्न के समय ग्रन्थ समाप्त किया गया। विनयपूर्वक ग्रन्थ का अध्ययन समाप्त हुआ, इससे सन्तुष्ट होकर भूतों ने वहाँ पर एक मुनि की शंख-तुरही के शब्द सहित पुष्पबलि से महती पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारक ने उस मुनि का 'भूतबलि' नाम रक्खा, और दूसरे मुनि का नाम 'पुष्पदन्त' रक्खा, जिसको पूजा के अवसर पर भूतों ने उसकी अस्तव्यस्त रूप से स्थित विषमदन्त-पंक्ति को सम अर्थात् ठीक कर दिया था।[22] फिर उसी नामकरण के दिन[23] धरसेनाचार्य ने उन्हें रुखसत (विदा) कर दिया। गुरुवचन अलंघनीय है, ऐसा विचार कर वे वहाँ से चल दिये और उन्होंने अंकलेश्वर[24] में आकर वर्षाकाल व्यतीत किया।[25]

वर्षायोग को समाप्त करके तथा 'जिनपालित'[26] को देखकर पुष्पदन्ताचार्य तो वनवास देश को चले गये और भूतबलि भी द्रमिल (द्राविड) देश को प्रस्थान कर गये। इसके बाद पुष्पदन्ताचार्य ने जिनपालित को दीक्षा देकर, बीस सूत्रों (विंशति प्ररूपणात्मकसूत्रों) की रचना कर और वे सूत्र जिनपालित को पढ़ाकर उसे भगवान् भूतबलि के पास भेजा। भगवान् भूतबलि ने जिनपालित के पास उन विंशतिप्ररूपणात्मक सूत्रों को देखा और साथ ही यह मालूम किया कि जिनपालित अल्पायु है। इससे उन्हें 'महाकर्मप्रकृतिप्रभृत' के व्युच्छेद का विचार उत्पन्न हुआ और तब उन्होंने (उक्त सूत्रों के बाद) 'द्रव्यप्रमाणानुगम' नाम के प्रकरण को आदि में रखकर ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का नाम ही 'षट्खण्डागम' है; क्योंकि इस आगम ग्रन्थ में 1. जीवस्थान, 2. क्षुल्लकबंध, 3. बन्धस्वामित्वविचय, 4. वेदना, 5. वर्गणा और 6. महाबन्ध नाम के छह खण्ड अर्थात् विभाग हैं, जो सब महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत-नामक मूलागम ग्रन्थ

को संक्षिप्त करके अथवा उस पर से समुद्धृत करके लिखे गये हैं। और वह मूलागम द्वादशांगश्रुत के अग्रायणीय-पूर्वस्थित पंचम वस्तु का चौथा प्राभृत है। इस तरह इस षट्खंडागम श्रुत के मूलतंत्रकार श्री वर्द्धमान महावीर, अनुतंत्रकार गौतमस्वामी और उपतंत्रकार भूतबलिपुष्पदन्तादि आचार्यो को समझना चाहिये। भूतबलि-पुष्पदन्त में पुष्पदन्ताचार्य सिर्फ 'सत्प्ररूपण' नामक प्रथम अधिकार के कर्ता हैं, शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ के रचियता भूतबलि आचार्य हैं। ग्रन्थ का श्लोक-परिमाण इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार के कथनानुसार 36 हजार है, जिनमें से 6 हजार संख्या पांच खण्डों की और शेष महाबन्ध खण्ड की है; और ब्रह्म हेमचन्द्र के श्रुतस्कन्धानुसार 30 हजार है।

यह तो हुई धवला के आधारभूत षट्खण्डागम श्रुत के अवतार की कथा; अब जयधवला के आधारभूत 'कसायपाहुड' श्रुत को लीजिये, जिसे 'पेज्जदोस पाहुड' भी कहते हैं। जयधवला में इसके अवतार की प्रारम्भिक कथा तो प्रायः वही दी है जो महावीर से आचारांग-धारी लोहाचार्य तक ऊपर वर्णन की गई है—मुख्य भेद इतना ही है कि यहां पर एक-एक विषय के आचार्यो का काल भी साथ में निर्दिष्ट कर दिया गया है, जबकि 'धवला' में उसे अन्यत्र 'वेदना' खण्ड का निर्देश करते हुए दिया है। दूसरा भेद आचार्यो के कुछ नामों का है। जयधवला में गौतमस्वामी के बाद लोहाचार्य का नाम न देकर सुधर्माचार्य का नाम दिया है, जो कि वीर भगवान् के बाद होने वाले तीन केवलियों में से द्वितीय केवली का प्रसिद्ध नाम है। इसी प्रकार जयपाल की जगह जसपाल और जसबाहू की जगह जयबाहू नाम का उल्लेख किया है। प्राचीन लिपियों को देखते हुए 'जस' और 'जय' के लिखने में बहुत ही कम अन्तर प्रतीत होता है इससे साधारण लेखकों द्वारा 'जस' का 'जय' और 'जय' का 'जस' समझ लिया जाना कोई बड़ी बात नहीं है। हॉ, लोहाचार्य और सुधर्माचार्य का अन्तर अवश्य ही चिन्तनीय है। जयधवला में कहीं कहीं गौतम और जम्बूस्वामी के मध्य लोहाचार्य का नाम दिया है; जैसा कि उसके 'अणुभागविहत्ति' प्रकरण के निम्न अंश से प्रकट है :—

''विउलगिरिमत्थयत्थवढ्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमियगोदम

लोहज्ज-जंबुसामियादि आइरिय परंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय...
(आरा की प्रति पत्र 313)

जब धवला और जयधवला दोनों ग्रंथों के रचयिता वीरसेनाचार्य ने एक ही व्यक्ति के लिये इन दो नामों का स्वतंत्रतापूर्वक उल्लेख किया है, तब ये दोनों एक ही व्यक्ति के नामान्तर हैं ऐसा समझना चाहिये; परन्तु, जहाँ तक मुझे मालूम है, इसका समर्थन अन्यत्र से अथवा किसी दूसरे पुष्ट प्रमाण से अभी तक नहीं होता—पूर्ववर्ती ग्रंथ 'तिलोयपण्णत्ती' में भी 'सुधर्मस्वामी' नाम का उल्लेख है। अस्तु; जयधवला पर से शेष कथा की उपलब्धि निम्न प्रकार होती है :—

आचारांग-धारी लोहाचार्य का स्वर्गवास होने पर सर्व अंगों तथा पूर्वो का जो एकदेशश्रुत आचार्य परम्परा से चला आया था वह गुणधराचार्य को प्राप्त हुआ। गुणधराचार्य उस समय पाँचवे ज्ञानप्रवाद-पूर्वस्थित दशम वस्तु के तीसरे 'कसायपाहुड' नामक ग्रन्थ-महार्णव के पारगामी थे। उन्होंने ग्रंथ-व्युच्छेद के भय से और प्रवचन वात्सल्य से प्रेरित होकर सोलह हजार पद परिमाण उस 'पेज्जदोसपाहुड' ('कसायपाहुड') का 180[27] सूत्र गाथाओं में उपसंहार किया—सार खींचा। साथ ही, इन गाथाओं के सम्बन्ध तथा कुछ वृत्ति-आदि की सूचक 53 विवरण-गाथाएँ भी और रचीं, जिससे गाथाओं की कुल संख्या 233 हो गई। इसके बाद ये सूत्र-गाथाएँ आचार्य परम्परा से चलकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती नाम के आचार्यो को प्राप्त हुई।[28] इन दोनों आचार्यो के पास से गुणधराचार्य की उक्त गाथाओं के अर्थ को भले प्रकार सुनकर यतिवृषभाचार्य ने उन पर चूर्णि-सूत्रों की रचना की, जिनकी संख्या छह हजार श्लोक-परिमाण है। इन चूर्णि-सूत्रों को साथ में लेकर ही जयधवला-टीका की रचना हुई है, जिसके प्रारम्भ का एक तिहाई भाग (20 हजार श्लोक-परिमाण) वीरसेनाचार्य का और शेष (40 हजार श्लोक-परिमाण) उनके शिष्य जिनसेनाचार्य का लिखा हुआ है।

जयधवला में चूर्णि सूत्रों पर लिखे हुए उच्चारणाचार्य के वृत्ति सूत्रों का भी कितना ही उल्लेख पाया जाता है परन्तु उन्हें टीका का मुख्याधार नहीं बनाया गया है और न सम्पूर्ण वृत्ति-सूत्रों को उद्धृत ही किया जान पड़ता है, जिनकी

संख्या इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में 12 हजार श्लोक परिमाण बतलाई है।

इस प्रकार संक्षेप में यह दो सिद्धान्तागमों के अवतार की कथा है, जिनके आधार पर फिर कितने ही ग्रंथों की रचना हुई है। इसमें इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार से अनेक अंशों में कितनी ही विशेषता और विभिन्नता पाई जाती है, जिसकी कुछ मुख्य मुख्य बातों का दिग्दर्शन, तुलनात्मक दृष्टि से, इस लेख के फुटनोटों में कराया गया है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि धवला और जयधवला में गौतमस्वामी से आचारांगधारी लोहाचार्य तक के श्रुतधर आचार्यो की एकत्र गणना करके और उनकी रूढ़ काल-गणना 683 वर्ष की देकर उसके बाद धरसेन और गुणधर आचार्यों का नामोल्लेख किया गया है, साथ में इनकी गुरुपरम्परा का कोई खास उल्लेख नहीं किया गया[29] और इस तरह इन दोनों आचार्यों का समय वीर-निर्वाण से 683 वर्ष बाद का सूचित किया है। यह सूचना ऐतिहासिक दृष्टि से कहॉ तक ठीक है अथवा क्या कुछ आपत्ति के योग्य है उसके विचार का यहाँ अवसर नहीं है। फिर भी इतना जरूर कह देना होगा कि मूल सूत्र ग्रंथों को देखते हुए टीकाकार का यह सूचन कुछ त्रुटिपूर्ण अवश्य जान पड़ता है, जिसका स्पष्टीकरण फिर किसी समय किया जाएगा।

भाषा और साहित्य-विन्यास

दोनों मूल सूत्रग्रंथों—षट्खण्डागम और कषायप्राभृत की भाषा सामान्यतः प्राकृत और विशेषरूप से जैन शौरसेनी है तथा श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के ग्रंथों की भाषा से मिलती-जुलती है। षट्खण्डागम की रचना प्रायः गद्य सूत्रों में ही हुई है। परन्तु कहीं कहीं गाथा सूत्रों का भी प्रयोग किया गया है; जब कि कषायप्राभृत की संपूर्ण रचना गाथा-सूत्रों में ही हुई है। ये गाथा-सूत्र बहुत संक्षिप्त हैं और अधिक अर्थ के संसूचन को लिये हुए हैं। इसी से उनकी कुल संख्या 233 होते हुए भी इन पर 60 हजार श्लोक-परिमाण टीका लिखी गई है।

धवल और जयधवल की भाषा उक्त प्राकृत भाषा के अतिरिक्त संस्कृत भाषा भी है—दोनों मिश्रित हैं—दोनों में संस्कृत का परिमाण अधिक है। और

दोनों में ही उभय भाषा में 'उक्तं च' रूप से पद्य, गाथाएँ तथा गद्य-वाक्य उद्धृत हैं– कहीं नाम के साथ और अधिकांश बिना नाम के ही। ऐसी गाथाएँ बहुत सी 'अ' रूप से उद्धृत हैं जो 'गोम्मटसार' में प्रायः ज्यों की त्यों तथा कहीं कहीं कुछ थोड़े से पाठ-भेद के साथ उपलब्ध होती हैं और चूंकि गोम्मटसार धवलादिक से बहुत बाद की कृति है इसलिये वे गाथाएँ इस बात को सूचित करती हैं कि धवलादि की रचना से पहले कोई दूसरा महत्व का सिद्धान्त ग्रंथ भी मौजूद था जो इस समय अनुपलब्ध अथवा अप्रसिद्ध जान पड़ता है।

सन्दर्भ

1. ब्रह्म हेमचन्द्र ने 'श्रुतस्कन्ध' में धवल का परिमाण जब 70 हजार श्लोक जितना दिया है, जब इन्द्रनन्दि आचार्य ने अपने 'श्रुतावतार' में उसे 'ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या' पद के द्वारा 72 हजार सूचित किया है।

2. देखो, 'जैनसिद्धान्तभास्कर' के पाँचवें भाग की तृतीय किरण में प्रकाशित सोनीजी का 'षड्खण्डागम और भ्रमनिवारण' शीर्षक लेख। आगे भी सोनीजी के मन्तव्यों का इसी लेख के आधार पर उल्लेख किया गया है।

3. देखो, आरा जैन सिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति, पत्र 552।

4 जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है–

"तेण बंधणिज्जपरूपवणे कीरमाणे वग्गणपरूवणा णिच्छएणकायव्वा। अण्णहा तेवीस वग्गणा सुइया चेव वग्गणा बधपाओगा अण्णा जो बंधपाओगा ण होंतिअत्तिगमाणु वपत्तीदो।"

5. देखो, आरा–जैनसिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति पत्र 532।

6. देखो, आरा–जैनसिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति पत्र 37।

7. देखो, आरा–जैनसिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति पत्र 341।

8. धवल के 'वेदना' खण्ड में भी लोहाचार्य का नाम दिया है। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में इस स्थान पर सुधर्म मुनि का नाम पाया जाता है।

9, 10, 11. इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में जयसेन, नागसेन, विजयसेन, ऐसे पूरे नाम दिये हैं। जयधवला में भी जयसेन, नागसेन-रूप से उल्लेख है परन्तु साथ में विजय को विजयसेन-रूप से उल्लेखित नहीं किया। इससे मूल नामों में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

12. यहाँ पर यद्यपि द्रुमसेन (दुमसेणो) नाम दिया है परन्तु इसी ग्रंथ के 'वेदना' खड में और

जयधवला मे भी उसे ध्रुवसेन नाम से उल्लेखित किया है—पूर्ववर्ती ग्रथ 'तिलोयपणयत्ती' में भी ध्रुवसेन नाम का उल्लेख मिलता है। इससे यही नाम ठीक जान पड़ता है अथवा द्रुमसेन को इसका नामान्तर समझना चाहिये। इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार मे द्रुमसेन नाम से ही उल्लेख किया है।

13 अनेक पट्टावलियो मे यशोबाहु को भद्रबाहु (द्वितीय) सूचित किया है और इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार मे 'जयबाहु' नाम दिया है तथा यशोभद्र की जगह अभयभद्र नाम का उल्लेख किया है।

14 इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार मे इन आचार्यो को शेष अगों तथा पूर्वो के एकदेश धारी नही लिखा, न धर्मसेनादि को चौदह पूर्वो के एकदेश-धारी लिखा और न विशाखाचार्यादि को शेष चार पूर्वो के एकदेशधारी ही बतलाया है। इसलिये धवला के ये उल्लेख खास विशेषता को लिए हुए हैं और बुद्धि ग्राह्य तथा समुचित मालूम होते है।

15. 'महिमानगड' नामक एक गाव सतारा जिले मे हैं (देखो, 'स्थलनामकोश'), संभवत यह वही जान पडता है।

16 इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार के निम्न वाक्य से यह कथन स्पष्ट नही होता—वह कुछ गड़बड को लिये हुये जान पडता है :-

"देशेन्द्र (ऽन्ध्र?) देशनामनि वेणाकलटीपुरे महामहिमा। समुदित मुनीन् प्रति..."

इसमे 'महामहिमासमुदितमुनीन्' लिखा है तो आगे, लेखपत्र के अर्थ का उल्लेख करते हुए, उसमें 'वेणाकतटसमुदितयतीन्' विशेषण दिया है जो कि 'महिमा' और 'वेण्यातट' के वाच्यों को ठीक रूप में न समझने का परिणाम हो सकता है।

17 'वेण्या' नाम की एक नदी सतारा जिले में है (देखो 'स्थलाम कोश')। संभवत· यह उसी के तट पर बस हुआ नगर जान पड़ता है।

18 इन्द्रनन्दिश्रुतावतार मे 'जयतु-श्रीदेवता' लिखा है, जो कुछ ठीक मालूम नही होता, क्योंकि प्रसग श्रुतदेवता का है।

19. इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में तीन दिन के विश्राम का उल्लेख है।

20. इन गाथाओं का संक्षिप्त आशय यह है कि 'जो आचार्य गौरवादिक के वशवर्ती हुआ मोह से ऐसे श्रोताओं को श्रुत का व्याख्यान करना है जो शैलघन, भग्न घट, सर्प, छलनी, महिष, मेष, जोंक, शुक, मिट्टी और मशक के समान है—इन जैसी प्रकृति को लिये हुए हैं—
वह मूढ़ बोधिलाभ से भ्रष्ट होकर चिरकाल तक ससार वन मे परिभ्रमण करता है।'

21 इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में 'सुपरीक्षा हृन्निर्वर्तिकरीति, इत्यादि वाक्य के द्वारा परीक्षा की यही बात सूचित की है, परन्तु इससे पूर्ववर्ती चिन्तनादि-विषयक कथन, जो इस पर 'धरसेन' से प्रारम्भ होता है, उसमें नहीं है।

22. इन्द्रनदिन्द-श्रुतावतार में उक्त मुनियो का यह नामकरण धरसेनाचार्य के द्वारा न होकर भूतों द्वारा किया गया, ऐसा उल्लेख है।

23. इन्द्रनदिन्द-श्रुतावतार में ग्रन्थसमाप्ति और नामकरण का एक ही दिन विधान करके, उससे दूसरे दिन रुखसत करना लिखा है।

24. यह गुजरात के भरोंच जिले का प्रसिद्ध नगर है।

25. इन्द्रनन्दि श्रुतावतार मे ऐसा उल्लेख न करके लिखा है कि खुद धरसेनाचार्य ने उन दोनो मुनियों को 'कुरीश्वर' पत्तन भेज दिया था जहाँ वे 9 दिन में पहुँचे थे और उन्होंने वहीं आषाढ़ कृष्णा पंचमी को वर्षायोग ग्रहण किया था।

26. इन्द्रनन्दि-श्रुतावार में जिनपालित को पुष्पदन्त का भानजा लिखा है और दक्षिण की ओर बिहार करते हुए दोनों मुनियों के करहाट पहुँचने पर उसके देखने का उल्लेख किया है।

27. इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में 'त्र्यधिकाशीत्या युक्तं शतं' पाठ के द्वारा मूलसूत्रगाथाओं की संख्या 183 सूचित की है, जो ठीक नहीं है और समझने की किसी गलती पर निर्भर है। जयधवला में 180 गाथाओं का खूब खुलासा किया गया है।

28. इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में लिखा है कि 'गुणधराचार्य ने इन गाथासूत्रों को रचकर स्वयं ही इनकी व्याख्या नागहस्ती और आर्यमंक्षु को बतलाई।' इससे ऐतिहासिक कथन मे बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

29. इन्द्रनन्दि ने तो अपने श्रुतावतार मे यह स्पष्ट ही लिख दिया है कि इन गुणधर और धरसेनाचार्य की गुरुपरम्परा का हाल हमें मालूम नही है; क्योंकि उसको बतलाने वाले शास्त्रों तथा मुनि-जनों का अभाव है।

— अनेकान्त 3/1 से उद्धृत
वीर सेवा मन्दिर,
सरसावा, ता. 20-11-1939

प्रसिद्ध-सिद्धान्तागमस्तिमाली, समस्त वैय्याकरणाधिराजः।
गुणाकरस्तार्किक-चक्रवर्ती, प्रवादीसिंहो वरवीरसेनः।।

-धवला, सहारनपुर प्रति, पत्र-718

अर्थात्-श्री वीरसेनाचार्य प्रसिद्ध सिद्धान्तों-षट्खण्डागमादिकों को प्रकाशित करने वाले सूर्य थे, समस्त वैय्याकरण के अधिपति थे, गुणों की खान थे, तार्किक चक्रवर्ती थे और प्रवादिरूपी गजों के लिये सिंह-समान थे।

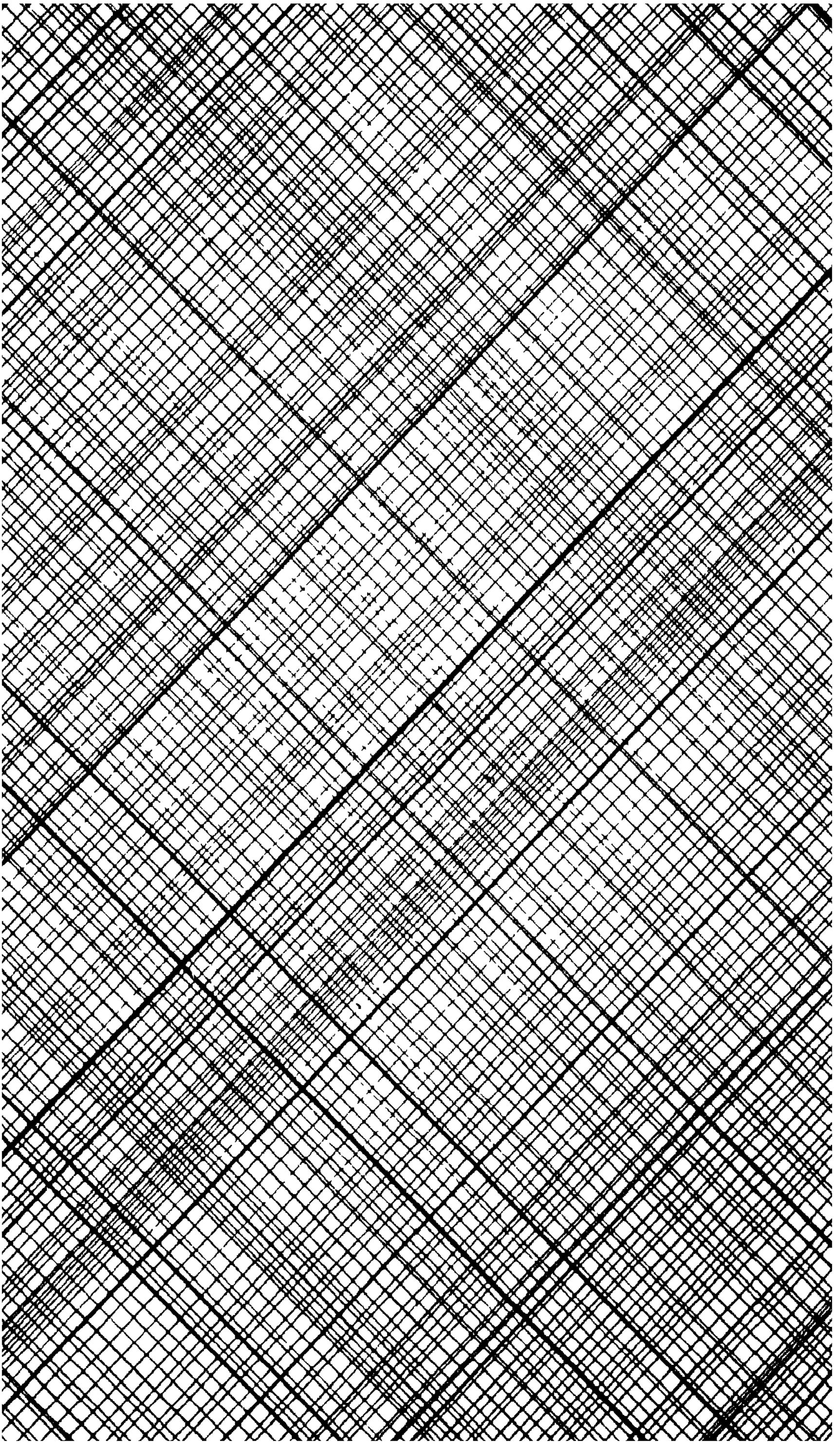

57/3-4

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या?

1. अध्यात्म-पद - कविवर बनारसीदास 1
2. दिगम्बरत्व को कैसे छला जा रहा है -पद्मचन्द्र शास्त्री 2
3. अभीक्ष्ण संवेग में जगत् स्वरूप का चिन्तन -प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन 6
4. आचार्य मल्लवादी का नय विषयक चिन्तन -डॉ. अनेकान्तकुमार जैन 12
5. विविध श्रावकाचारों में वर्णित गुरु का स्वरूप, वन्दन एवं उपासनाविधि -डॉ जयकुमार जैन 21
6. पहाड़ी लघु चित्रशैलियो में शिव-परिवार विषयक चित्र -कु. रूपा जैन 35
7. पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से ज्ञान-ध्यान को सार्थक बनावें -डॉ. राजेन्द्रकुमार बसल 45
8. प्राचीन भारत में राजकीय विभाग -डॉ. मुकेश बसल 63
9. श्रमणचर्या का अभिन्न अंग अनियतविहार डॉ. श्रेयासकुमार जैन 75
10. ढूंढारी भाषा की एक प्राचीन कृति-होली की कथा -अनूपचन्द न्यायतीर्थ 86
11 मुगल साम्राज्य की अहिंसा इतिहास के पन्नों में -सुरेशचन्द्र बरोलिया 93
12. पं. नाथूराम प्रेमी के साहित्य मे दलितोत्थान के स्वर -डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 101
13. पचास वर्ष पूर्व सत्य अनेकान्तात्मक है -बाबू जयभगवान जैन 107
14. जैन दर्शन में वस्तु का अनेकान्तात्मक स्वरूप -डॉ. बसन्तलाल जैन 122

वर्ष-57, किरण-3-4
जुलाई-दिसम्बर 2004

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
429, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन: (0131) 2603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-

वार्षिक शुल्क 30/-

इस अक का मूल्य 10/-

सदस्यों व मंदिरों के लिए नि:शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

अध्यात्म-पद

ज्यों सुवास फल फूल में, दही दूध में घीव,
पावक काठ पषाण में, त्यों शरीर में जीव।

चेतन पुद्गल यों मिले, ज्यों तिल में खलि तेल,
प्रकट एकसे दीखिए, यह अनादि को खेल।।

वह वाके रस में रमें, वह वासों लपटाय,
चुम्बक करषै लोह को, लोह लगै तिह धाय।

कर्मचक्र की नींद सों, मृषा स्वप्न की दौर,
ज्ञानचक्र की ढरनि में, सजग भांति सब ठौर।।

—कविवर बनारसीदास

वीर सेवा
7141

विचारणीय

दिगम्बरत्व को कैसे छला जा रहा है?

—पद्मचन्द्र शास्त्री

"भरते हैं मेरी आह को वोह ग्रामोफोन में।
कहते हैं फीस लीजिए और आह कीजिये।।"

हम 'अनेकान्त' में पहले लिख चुके हैं कि हमारे परमपूज्य मूल आचार्य पद्मनन्दि आचार्य (कुन्दकुन्द) स्वयं ही सीमंधर रहे। कुन्दकुन्द की विदेह के सीमंधर तीर्थंकर के पास जाने की कल्पना निराधार है और कुन्दकुन्द ने स्वयं भी कहीं उनका स्मरण नहीं किया है—वे बारम्बार श्रुतकेवली का ही उपकार मानते रहे हैं। फलतः उनके विदेह गमन की किंवदन्ती मात्र रही जो क्रमशः भिन्न-भिन्न कल्पित विरोधी कथाओं से गढ़ी जाती रही। हमें दर्शनसार की गाथा देखने में आयी। स्वयं देवसेनाचार्य ने लिखा है कि दर्शनसार संग्रह ग्रंथ है, उनका स्वयं रचित नहीं। उन्होंने संग्रह कहाँ से किया है इसका भी प्रमाण देखने में नहीं आया। तथाहि—

"पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण।।
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसएणवए।
सिरि पासणागेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए।।" —(दर्शनसार-49-50)

अर्थात् पूर्वाचार्यों द्वारा कही गयीं गाथाओं को इकट्ठा करके धारा में रहते हुए श्री देवसेन गणि के द्वारा भव्यजीवों के हाररूप दर्शनसार सं.-909 माघ सुदी दशमी को प्रसिद्ध पार्श्वनाथ मंदिर में रचा गया।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि दर्शनसार ग्रंथ देवसेन गणि की मौलिक रचना न होकर पूर्व किन्हीं भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा रचित गाथाओं का संकलित ग्रंथ है। जिसे लोगों ने देवसेन का स्वरचित मानकर प्रामाणिकता दे दी है। इसी आधार पर निम्न गाथा—

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामि-दिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।" –(दर्शनसार-43)

के गलत अर्थ को प्रामाणिक मानकर पद्मनन्दि आचार्य को सीमंधर स्वामी (विदेह के तीर्थंकर) के समीप जाने की मिथ्या कल्पना भी कर ली। जबकि उक्त गाथा से यही स्पष्ट होता है कि **पद्मनन्दि आचार्य ही सीमंधर विशेषण से युक्त थे** और उन्हीं ने दिव्यज्ञान के द्वारा मुनियों को सम्बोधित किया था न कि विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी ने पद्मनन्दि आचार्य और अन्य श्रमणों को। गाथा के अन्वयार्थ से भी यही स्पष्ट होता है–

अन्वय– जइ सीमंधर सामि पउमणंदि णाहो दिव्वणाणेण
ण 'विवोहइ' तो समणा सुमग्गं कहं पयाणंति।

स्पष्ट है कि उक्त गाथा में सीमंधर स्वामी विदेह के तीर्थंकर नहीं अपितु पद्मनन्दि आचार्य स्वयं सीमंधर हैं क्योंकि उन्हीं ने ऐसे कठिन समय में जबकि श्वेताम्बरों ने धर्म की सीमाओं का उल्लंघन कर दिया था तब दिगम्बर धर्म की रक्षा के लिए आगमानुसार दिगम्बरत्व की सीमाओं का अवधारण किया और कराया–**"सीमां मर्यादां पूर्वपुरुषकृतां धारयति। न आत्मना विलोपयति यः सः तथा। कृतमर्यादापालके।"**

–(अभिधान राजेन्द्र)

अतः गाथा में सीमंधर स्वामी पद्मनन्दि का विशेषण है, न कि विदेह के तीर्थंकर सीमंधर के प्रसंग में।

यदि विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के पास कुन्दकुन्दाचार्य का जाना हुआ होता और उनसे उपदेश प्राप्त हुआ होता तो गाथा में क्रिया का रूप कर्मवाच्य होने के कारण **'विवोहिअ'** होता न कि कर्तृवाच्य का रूप **'विवोहइ'**। जबकि उपर्युक्त गाथा में कर्तृवाच्य के रूप का प्रयोग किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि इसका प्रयोग पद्मनन्दि आचार्य के लिए ही किया गया है न कि विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी के लिये। यदि पद्मनन्दि आचार्य विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी से उपदिष्ट होते तो गाथा में कर्मवाच्य **'विवोहिअ'** का प्रयोग किया गया होता न कि कर्तृवाच्य के रूप **विवोहइ** का।

विदेह के तीर्थंकर सीमंधर स्वामी से कुन्दकुन्दाचार्य ने उपदेश ग्रहण किया

इस भ्रान्त धारणा के प्रचलित होने से लोगों ने विदेह के सीमंधर तक की मूर्ति यहाँ स्थापित कर दीं। वास्तविकता तो यह है कि कुन्दकुन्द का गुणगान करके कुछ छद्म लोग अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए कुन्दकुन्द के दिगम्बरत्व पोषक सिद्धान्तों का प्रच्छन्न विरोध ही करते रहे हैं। जबकि कुन्दकुन्दाचार्य ने–

"परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि।।"
"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिदिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।"

जैसी गाथाओं द्वारा रागादि के किञ्चित् मात्र भी होने पर आत्मज्ञान होने का सर्वथा निषेध किया है। तब भी ये कुन्दकुन्द के गुणगान का स्वाँग भरने वाले स्वार्थ सिद्धि के लिये गृहस्थ अवस्था में ही आत्मानुभूति की चर्चा करने लगे हैं; जो कुन्दकुन्द के दिगम्बरत्व सम्बन्धी सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत है।

आगम में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों का उपदेश है तथा यह भी उपदेश है कि इनमें से चार ज्ञान रूपी पदार्थो को जानते हैं अरूपी आत्मा को मात्र केवलज्ञान ही जानता है।

कहा गया है– **' रूपिष्ववधेः' 'तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य'**

'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'। ऐसे में छद्मस्थों को आत्मानुभव की बात करना आगम और पाठकों को धोखा देना और दिगम्बरत्व के विरुद्ध प्रचारमात्र है। इससे तो लगता है कि यह दिगम्बरों को नष्ट करने का सुनियोचित षड्यंत्र मात्र ही है। क्योंकि उन्हें तो परिग्रही को मुक्ति इष्ट है न कि कुन्दकुन्द के सिद्धान्त दिगम्बरत्व से।

यह मान्यता भी भ्रामक है कि व्यवहार नय सर्वथा मिथ्या होता है और निश्चय नय सम्यक् होता है तथा निश्चय नय को ग्रहण और व्यवहार नय को छोड़ना चाहिए। जबकि निश्चय नय से ग्रहीत पदार्थ का अनुभव केवली के सिवाय अन्य नहीं कर सकता। तथाहि–

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसिहिं।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे।। –(समयसार-14)

छहढाला के पाठक इस पर विचार करें कि—**'सकल द्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता'** को प्रकाशित करने वाला निश्चय ज्ञान क्या छद्मस्थ को हो सकता है? यदि कहा जाये कि इनका अंशज्ञान तो हो सकता है, तो वह अंशज्ञान नयाधीन है प्रत्यक्ष नहीं है। यदि व्यवहार नय मिथ्या होता तो केवली भगवान के भी मिथ्यात्व का प्रसंग उत्पन्न हो जाता क्योंकि—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।। —(नियमसार-154)

जब केवली भगवान स्वयं व्यवहार से जानते देखते हैं तब व्यवहार नय कैसे मिथ्या हो सकता है?

वीर सेवा मंदिर के संस्थापक श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा 1954 में की गई सम्भावना अब यथार्थ रूप धारण कर चुकी है। उन्होंने कहा था—"आप (कहान जी) वास्तव में कुन्दकुन्दाचार्य को नहीं मानते और न स्वामी समन्तभद्र जैसे दूसरे महान जैनाचार्यों को ही वस्तुतः मान्य करते हैं। क्योंकि उनमें से कोई भी आचार्य निश्चय व्यवहार दोनों में से किसी एक ही नय के पक्षपाती नहीं हुए हैं; बल्कि दोनों नयों का परस्पर सापेक्ष, अविनाभव सम्बन्ध को लिए हुए एक-दूसरे के मित्र के रूप में मानते और प्रतिपादन करते आए हैं। —(अनेकान्त/जुलाई/954, पृ.-8)

कुछ मिथ्याधारणा वाले चारित्र की उपेक्षा कर मात्र दर्शन के ही गुणगान को प्रमुखता देने में लगे हैं। जबकि कुन्दकुन्दाचार्य का स्वयं का कथन है—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाणि तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

अतः दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों की प्रमुखता में व्यवहार चारित्र को दिखावा मात्र कहकर उसकी उपेक्षा करना शोचनीय और दिगम्बरत्वघातक है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'चारित्तं खलु धम्मो' की स्पष्ट घोषणा की है और चारित्र में व्यवहार निश्चय दोनों ही चारित्र गर्भित हैं।

—वीर सेवा मंदिर
21/4674 अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली-2

अभीक्ष्ण संवेग में जगत् स्वरूप का चिन्तन

—प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन

तत्त्वार्थ सूत्र में संवेग एवं जगत् स्वरूप के सन्दर्भ में मुख्यतः उल्लेख निम्न प्रकार है—

(1)

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदचार्यबहुश्रुत प्रवचनभक्तिरावश्यक ।परिहाणिमार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य।

—6/24

(2)

जगत्कायस्वभावौ वा संवेग वैराग्यार्थम्

— 7/12

प्रथम सूत्र तीर्थंकर पदवी को इंगित करता है, द्वितीय ज्ञेय के समग्र को संवेग से जोड़ता है। अहिंसा अथवा राग द्वेष की समाप्ति की पराकाष्ठा तक ले जाता प्रतीत होता है।

इस प्रकार उपरोक्त विषय में जहां एक ओर आधुनिक मनोविज्ञान में संवेग की अवधारणा में नये रहस्य का हम उद्घाटन कर रहे होते हैं, वहीं खगोल विज्ञान के क्षेत्र में जगत् के समग्र स्वरूप का ज्ञेय रूप में श्रुत केवल ज्ञान की साक्षी में आगे बढ़ते हैं। निश्चित रूप से हमें उस दिशा में इस दार्शनिक चिन्तन को ले जाना होता है, जिस ओर नोबेल पुरस्कृत बरट्रेंड रसैल ने यूनानियों में गणितीय दर्शन का विश्व में प्रथम बार अवलोकन कर उसे अपनी अद्वितीय प्रतिभा में प्रिंसिपिया मेथामेटिका में विस्तार रूप से प्रस्तुत किया था।

किसी भी मूल सिद्धान्त (Principle) या विस्तृत सिद्धान्त (Theory) में प्रामाणिकता, अटूटता, निर्विवादिता तभी प्रवेश कर पाती है जबकि उसे गणित के सूत्रों में पिरोया जाये। जगत् के स्वरूप में कर्म सिद्धान्त की मौलिकता और उसमें भी गणित का आच्छादन, जैन धर्म भावना में एक नये आयाम व विद्या के रूप में लाये गये जो प्रतीकमय साधनों, सूत्रों द्वारा और भी गहरे ज्ञान के लिए अत्यंत विलक्षण और अप्रतिम पाये गये।

साधारणतः हमें पहले मन और चेतना में भेद करना सीखना होता है। जहाँ मन, वचन, काया योग में निमित्त होते हैं, वहाँ चेतना के तीन रूप देखने में आते हैं—कर्मफल चेतना, कर्म चेतना और ज्ञान चेतना। चिंतवन या चिंतन मन के आलम्बन से होता है। एक मन उस मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता जो प्रशासकीय क्षमता की ओर बढ़ता है, दूसरा भाग विद्वत्ता की ओर बढ़ता है। जो विद्वत्ता की ओर बढ़ता है वह पुनः दो दिशाओं में से किसी एक को चुनता है—या तो वह तर्क की गहराई व विशालता की ओर बढ़ता चला जाता है अथवा वह प्रज्ञा द्वारा ली गई छलांगों द्वारा अल्प समय में आनुमानिक नतीजों पर पहुँच जाने की ओर बढ़ता चला जाता है। तर्क की गहराई व सुदृढ़ता एवं सम्पृक्तता की ओर रुचि रखने वाला मन अनेक जटिल समस्याओं को बीजगणित व जटिल अंकगणित की घबड़ा देने वाली गणनाओं में प्रवेश कर दूर तक सही सही उचित अंत तक पहुँचा देने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। प्रज्ञा की ओर रुचि रखने वाला रेखाचित्रों आदि से सम्पूर्ण ज्ञेय को एकसाथ अपने में समाविष्ट, समन्वित कर लेता है। इस प्रकार चिन्तन में, भावनाओं को प्रबलतम बनाने हेतु इन दो उपायों का आलम्बन लिया जाता रहा है। तार्किक रूप बीजादिगणित के रूप में हमें केशववर्णी कृत गोम्मटसार की कन्नड़ में रचित टीका में करणादि विषय पर तथा लब्धिसार एवं क्षपणासार की टीकाओं में दृष्टिगत होता है। वहीं प्रज्ञाशील भावना के रूप का निखार ध्यान की ओर ले जाने के लिए यंत्रों तथा मंडलों के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार मन ने अपनी सीमा को अधिकतम रूपों में जो ले जाने का प्रयास किया है वह प्रत्येक सभ्यता वाले देशों में धर्म भावना के रूप में उच्चतम प्रयासों के रूप में देखा गया है।

धर्म भावना क्या मात्र : भ्रम ही है—अथवा उसमें कोई तथ्य भी हैं, क्या उसके उद्‌भव का कोई स्रोत अनादिकाल से रहा है—यह खोज का विषय भी बना जिस पर आइंस्टीन के समान माने जाने वाले प्रतिभावान् मनोवैज्ञानिक डॉक्टर फ्रायड ने विशेष कार्य किया। धर्म भावना प्रत्येक मानव में पाई जाती है—एक अनुभूति के रूप में, जो सर्वकालिक, सार्वभौमिक होती है। उस अनुभूति (feeling) होने के मुख्यतः तीन कारण बतलाये जाते हैं, जिन्हें कोई भी प्राचीन सभ्यताएँ या आधुनिक सभ्यता द्वारा निराकरण के अभूतपूर्व प्रयासों के बावजूद सफलताएं केवल सीमित रूप में ही उपलब्ध हुई या होती रही हैं—

1. प्राकृतिक प्रकोप—अकाल, बाढ़, महामारी आदि।
2. शरीर (काया) का नाशवान् होना।
3. मानवों के बीच सम्बन्ध—युद्ध, हत्याएँ, नरसंहार आदि।

भूकम्प, बाढ़, अकाल आदि प्राकृतिक प्रकोपों से या अन्य संकटमय परिस्थितियों से सुरक्षा की भावना स्वभावतः मानव को धर्म भावना की ओर ले जाती है, कोई ऐसी शक्ति की उपासना की ओर मन जाता है जो उन्हें संकटों से बचा सके। उसी के रूप को दिनोंदिन परिष्कृत किया जाता रहा और उस शक्ति को, चाहे वह किसी भी नाम से पुकारी जाय, प्रसन्न करने हेतु अनेक प्रकार के त्याग व बलिदान आदि की प्रथाएं चलती गईं।

आज भी विज्ञान के आविष्कारों की चरम सीमाएं देखते हुए कोई नहीं बचा सका शरीर या काया के विनाश को। अतः आत्मा (सत्) के अस्तित्व को मान्यता देकर उसमें अजरता व अमरता की अवधारणा से, कर्मजन्य काया से परे, शुद्ध रूप में उपलब्ध करने, धर्म भावनाएं विकसित हुईं।

इसी प्रकार कषायों या मोह से प्रतिबन्धित मन जो अनेक प्रकार से विकृत तथा विशुद्धि रूप परिणामों से सुकृत हुआ संसार के मानवों के मध्य विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। परतंत्र हुआ मन, स्मृतियों के जाल में अहम, मम तथा रागद्वेष परिणतियों वश अनेक प्रकार के दुष्कर्म करता है, जो सामूहिक रूप में आने पर और भी अधिक भयानक युद्ध, आतंक, संहार आदि कृत्य करते देखे जाते हैं। समाज अपने सामूहिक मन से प्रतिबंधित

हुआ, दुष्ट से दुष्ट दण्डों की समायोजना करता है, जो किसी अन्य जोड़े, सुखी परिवार, दुःखी जीव समूह, समाज या देश विदेश को संकटापन्न अवस्था में लाने हेतु सक्रियता की सीमाएं बढ़ाता चला जाता है। सभ्यता की शिखर पर पहुँचकर भी इन स्थितियों से भागा नहीं जा सका। मन की इस प्रकार खंड, खंड रूप स्मृति आदि बिम्बों को वास्तविकता अथवा कार्मिकता कहा जा सकता है किंतु वह न तो समग्र है, न अखण्ड या निश्चल है, जैसा कि सत् या सत्य होता है। पर्याय या गुण दृष्टि सीमाओं से बंधी होती है अतएव द्रव्य दृष्टि के रूप की, पर्याय व गुण को लिए समग्रता रूप, जगत् का स्वरूप संवेग की ओर ले जाता है। उक्त संवेग धर्मभावना के उद्‌भव में कार्यकारी हो जाती है। संवेग निरंतर हो तो मंद, तीव्र, निश्चल रूप में अनुभूत होता रहता है। यह संवेग मनोयोग रूप न होकर चेतना रूप होता है।

जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं कि चेतना तीन रूपों में कर्म निरपेक्ष होने से, होते हुए भी अपने तीन रूपों में विकसित होती है—कर्मफल चेतना (Subconscious) रूप में, कर्म चेतना (conscious) रूप में तथा ज्ञान चेतना (superconsciuos) रूप में। जहाँ मन कर्मों द्वारा, प्रकृतियों द्वारा, कषायों द्वारा प्रतिबंधित हुआ, सीमित उपलब्धियों वाला होता है, वहाँ चेतना स्वतंत्र रूप से मन के शांत होने पर उपस्थित हो जाती है। आलम्बन देने के लिए जो असीमित उपलब्धियों के प्रांगण में स्वमेव ले जाती है।

यही जगत् स्वरूप के चिन्तन का परिणाम है, जो ऐसे संवेग को उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखता है जो दस लक्षणों वाले धर्म की ओर उन्मुख करता हुआ तीव्रतम कषायों को क्षीण एवं नष्ट करने में सहायक हो जाता है।

प्रश्न उठा है कि जगत् के स्वरूप को समग्र रूप में कैसे चिन्तवन में लाया जाये? एक तो तर्क का पथ है और दूसरा सरल प्रज्ञा का पथ जिसका अनुसरण अनेक योगी करते हैं। रेखाचित्र अनेक रंग मय, अनेक वर्णाक्षरों सहित, त्रिलोक को प्रकट करते हुए, तीनों लोकों के संभाव्य रूपों की कहानी दिग्दर्शित करते हुए निर्मित किये जाते हैं। पहले धारणाएं निर्मित की जाती हैं, फिर ध्यान की वस्तु बनायी जातीं हैं। धारणा का निर्माण चिंतन का फल

है। जगत् ज्ञेय रूप चिंतवन में आता है—अखिल सृष्टि को लिए हुए—उस ज्ञेय का ज्ञाता उक्त धारणा को अपने स्वरूप को ज्ञान रूप से समन्वित कर लेता है और ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय के तीनों रूपों को अपनी धारणा में ले आता है। वहाँ संवेग चेतना मंद होती हुई लघु ज्ञान चेतना को स्थान देती चली जाती है और जीव प्रतीक्षा करता है कि कब कर्म लिप्ति (लेप) को जलाने के लिए ध्यान रूपी अग्नि रखकर तप की धौंकनी से शीघ्र ही आत्मा या चेतन को कर्म के जाल से मुक्त कर लिया जाये। चेतना को केवलज्ञान चेतना में परिणत कर लिया जाये।

अभीक्ष्ण संवेग की निरन्तरता में समष्टि की समग्रता का जो दृश्य उपस्थित होता है वह समय, प्रति समय के रूपांतरणों को सामने लाता है किन्तु उनमें एक छिपी हुई निश्चलता होती है जिसे Invariance कहते हैं। वही सत् की पहिचान का माध्यम बन जाती है। गणितीय दर्शन की यही उपलब्धि है कि वह निश्चलता से भिज्ञ कराने का सामर्थ्य रखता है। जैसे, भौतिकी में जब माइकेलसन, मोर्ले के प्रकाश गति संबंधी प्रयोग से एक अपनी सदी की विशालतम दुविधा (dilemma) उपस्थित हुई तो आइंस्टाइन ने छिपी हुई निश्चलता को खोज निकाला, विशिष्ट और व्यापक सापेक्षता का सिद्धान्त प्रचलित हुआ, अणुशक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और अखिल विश्व में समग्र रूप से चित्रण करने वाले एक-सूत्री सिद्धान्त की रचना की ओर सभी महान् वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित हुआ।

जगत् के गणितीय दर्शन में जो स्वरूप उपलब्ध होता है वह कर्म को व उसके सम्पूर्ण सिद्धान्त को विकसित करने में उसे गणितीय वस्तु बनाकर उसमें छिपी हुई निश्चलता को तर्क या बीजगणित तथा प्रज्ञा या अंक और रेखा गणित द्वारा खोजने का प्रयास होता चला गया। वह क्या है जिसका स्वरूप निश्चल रहता है, यह खोज शताब्दियों, युग युगान्तरों की खोज की सामग्री को विशाल रूप देती गयी जो गणित के आलम्बन द्वारा परिपुष्ट होती चली गयी।

जब चिन्तन चेतना में परिणत होता चला गया, तब संवेग निर्वेग में

परिणत होता चला गया, और इन सभी रूपान्तरों में मात्र एक निश्चलता अपनी स्वयं की भूमिका अति रहस्यमय रूप में निभाती चली गई। वहीं शृंखलाबद्ध शक्तियां भी मौन हुई रुकी रह गईं।

इस प्रकार निश्चलता की पहिचान व पकड़ इतना आसान कार्य नहीं है, जो आज के विज्ञान को चुनौती देने के लिए एक विशाल केन्द्रीय कर्म विज्ञान सम्बन्धी संस्थान के निर्माण की अपेक्षा रखती है, जो विश्व में अप्रतिम, अद्वितीय एवं अलौकिक हो। जहाँ उच्चतम मस्तिष्कों को सभी उपलब्ध लोकोत्तर एवं लौकिक ज्ञान, विज्ञान की सुविधाएं उपलब्ध होती रहें जो किसी काल या युग में लौकिक शासनों द्वारा दी जाती रही थीं। विगत शताब्दी में ऐसा प्रयास विलहैम कैंसर इंस्टिट्यूट, जर्मनी में तथा बाद में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में एलैक्जेंडर फ्लैक्सनर की प्रिंसटन की इंस्टिट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज (garden of the lonely wise) में किया गया, जहाँ आइंस्टाइन को ही सर्वप्रथम जोडने आमंत्रित किया गया।

ग्रंथ निर्देश

1. आचार्य उमास्वामि, तत्त्वार्थसूत्र।, 2. फ्रायड, सिविलिजेशन एण्ड इट्स डिस्गस्ट।, 3. बरट्रेंड रसैल, इंट्रोडक्शन टू मेथामेटिकल फिलासफी।, 4. जैन, एल. सी., ताओ ऑफ जैन सांइसेज।, 5. प्वांकरे, वेल्यु ऑफ सांइस।, 6. आइंस्टाइन, मीनिंग ऑफ रिलेटिविटी।

—निदेशक
गुलाब रानी कर्मा साइंस म्यूजियम
दीक्षा ज्वैलर्स, सराफा,
जबलपुर—482002

आचार्य मल्लवादी का नय विषयक चिन्तन

—डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

आचार्य मल्लवादी जैन परम्परा में एक क्रान्तिकारी विद्वान् आचार्य हुये हैं। जैन दर्शन के चिन्तन के विकास में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। उनकी प्रतिष्ठा एक गूढ़ जैन दार्शनिक के रूप में है।

आचार्य मल्लवादी ने नयों का विश्लेषण द्वादशार नयचक्र में एक अलग ही तरीके से किया है। मल्लवादी जैसी शैली इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों में कम ही दिखती है, इसलिए मल्लवादी पूर्णतः मौलिक हैं। मल्लवादी के परवर्ती आचार्यो ने भी इस प्रकार की शैली का अनुसरण नहीं किया। मल्लवादी का समय विक्रम की 402 से लेकर विक्रम 482 तक निर्धारित किया गया है। मल्लवादी और आचार्य सिद्धसेन को समकालीन भी माना जाता है।[1]

आचार्य मल्लवादी का द्वादशार नयचक्र जैनेतर दर्शनों का समावेश की दृष्टि से विशेष महत्व का है, क्योंकि यह पूरा का पूरा ग्रन्थ सात नयों के बीच ही समस्त दार्शनिकों का समावेश प्रदर्शित करने के लिए लिखा गया है। अन्य जैनाचार्यों ने नयों में विभिन्न दर्शनों के समाविष्टं होने की चर्चा आनुसंगिक रूप में तो की है किन्तु इस विषय को ही अपना मुख्य विषय बनाकर विवेचन करने वाला अकेला द्वादशार नयचक्र ही है।

एक अपेक्षा से एक नय एक वक्तव्य देता है तो दूसरी अपेक्षा से दूसरा नय दूसरा वक्तव्य देता है जो पहले वक्तव्य का विरोधी वक्तव्य होता है अतः एक नय से दूसरा नय कट जाता है। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए आचार्य मल्लवादी ने विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों को एक बारह अरों वाले चक्र के रूप में इस तरह प्रस्तुत किया कि एक नय की दृष्टि को मान्यता देने वाला

दार्शनिक प्रस्थान उसके विपरीत नय की दृष्टि को मान्यता देने वाले दूसरे दार्शनिक प्रस्थान के द्वारा खंडित कर दिया गया। परिणाम यह निकला कि कोई भी दार्शनिक प्रस्थान अपने विरोधी दार्शनिक प्रस्थान के सामने न टिक पाने के कारण सिद्धान्त रूप में स्थापित न हो सका और सभी दार्शनिक प्रस्थान एक दूसरे की अपेक्षा पूर्वपक्ष ही बन कर रह गये। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि आखिर सिद्धान्तपक्ष है क्या? इस प्रश्न का उत्तर ध्वनित हुआ कि सिद्धान्त पक्ष वह है जो सभी नयों को, भले ही वे परस्पर विरोधी भी क्यों न हो, अपनी-अपनी अपेक्षा से मान्यता प्रदान करें और किसी एक नय के प्रति ऐसा पक्षपातपूर्ण दुराग्रह न रखें कि दूसरे नयों का अपलाप करना पड़े क्योंकि जैनदर्शन वही करता है इसलिए जैन दर्शन ही सिद्धान्त पक्ष बन जायेगा। जैन दर्शन को सिद्धान्तपक्ष के रूप में और सभी जैनेतर दर्शनों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करने का यह प्रकार आचार्य मल्लवादी का अपना मौलिक है जिसका उपयोग उनके पहले वाले या बाद वाले किसी जैन आचार्य ने अब तक नहीं किया। इस संदर्भ में दलसुख मालवणिया का कथन है कि —'नयचक्र में जैनेतर मतों को ही नय के रूप में वर्णित किया गया है और उन मतों के उत्तरपक्ष, जो कि स्वयं भी एक जैनेतर पक्ष ही होते हैं—उनके द्वारा भी पूर्वपक्ष का मात्र खण्डन ही नहीं, किन्तु पूर्वपक्ष में जो गुण है उनके स्वीकार की ओर निर्देश भी किया गया है। इस प्रकार उत्तरोत्तर जैनेतर मतों को ही नय मानकर समग्र ग्रन्थ की रचना हुई है। यहाँ जैनेतर मत जो लोक में प्रचलित है उन्हीं को नय मानकर उनका संग्रह विविध नयों के रूप में किया गया है और किस प्रकार जैन दर्शन सर्वनयमय है यह सिद्ध किया गया है।'[2]

सिद्धसेन दिवाकर ने प्रसिद्ध सात नयों को ही दो मूल नयों में समाविष्ट किया है, किन्तु मल्लवादी ने नय विचार को एक नयचक्र का रूप दिया और चक्र की कल्पना के अनुरूप नयों का ऐसा वर्गीकरण किया है जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। चक्र के बारह आरे होते हैं। मल्लवादी ने सात नयों में बारह दार्शनिक प्रस्थानों का समावेश किया, वे दार्शनिक प्रस्थान ये हैं[3] :-

1. विधिः, 2. विधि-विधिः, 3. विध्युभयम्, 4. विधिनियमः, 5. विधिनियमौ,

6. विधिनियमविधिः, 7. उभयोभयम्, 8. उभयनियमः, 9. नियमः, 10. नियमविधिः, 11. नियमोभयम्, 12. नियम-नियमः

मल्लवादी ने द्वादशार नयचक्र की रचना की तो उन बारह प्रस्थानों का सम्बन्ध उक्त दो नयों के साथ बतलाना आवश्यक था। अतएव आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि विधि आदि प्रथम के छह प्रस्थान द्रव्यार्थिक नय के अन्तर्गत है और शेष छह प्रस्थान पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत हैं। आचार्य ने प्रसिद्ध नैगमादि सात नयों के साथ भी इन बारह प्रकार के प्रस्थानों का सम्बन्ध बतलाया है वह इस प्रकार है–[4]

1. विधिः	व्यवहारनय	7. उभयोभयम्	ऋजुसूत्रनय
2. विधि-विधिः	संग्रहनय	8. उभयनियमः	शब्दनय
3. विध्युभयम्		9. नियमः	
4. विधिनियमः		10. नियमविधिः	समभिरूढनय
5. विधिनियमौ	नैगमनय	11. नियमोभयम्	एवंभूतनय
6. विधिनियमविधिः		12. नियमनियमः	

इस प्रकार आचार्य मल्लवादी ने पूर्वकथित द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक इन दो नयों तथा नैगमादि सप्त नयों में बारह प्रस्थानों को गर्भित किया।

आचार्य मल्लवादी ने विभिन्न जैनेतर भारतीय दर्शनों का समावेश इन बारह प्रस्थानों में किया है।[5] द्वादशार नयचक्र में उन्होंने चक्र या पहिये को प्रतीक स्वरूप मानकर संपूर्ण विषय वस्तु निरूपित की है। चक्र के आरे एक केन्द्र पर संलग्न होते हैं उसी प्रकार से ये सभी बारह प्रस्थान (बारह आरे) स्याद्वाद या अनेकान्त रूपी केन्द्र पर जुड़े हुये हैं। दो आरों के बीच जो अन्तर होता है उसमें मल्लवादी पूर्व नय तथा तदनुसारी किसी एक दर्शन का भी खण्डन करते हैं। फिर पुनः नये आरे में नये "नय" का तथा नये दर्शन की स्थापना करते हैं। द्वितीय नय प्रथम नय का निरास करके अपनी स्थापना करता है। फिर तृतीय नय का निरास करके चतुर्थ नय अपनी स्थापना करता है और इसी क्रम में ग्यारहवें नय का निरास करके बारहवां नय अपनी स्थापना

करता है– पुनः बारहवें नय की स्थापना को खण्डित करके प्रथम नय अपनी स्थापना करता है इस प्रकार यह विवेचन एक चक्र की भांति अनवरत घूमता हुआ प्रतीत होता है।[6]

आचार्य सिद्धसेन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के माध्यम से कई भारतीय दर्शनों को समाहित करने का प्रथम प्रयास किस प्रकार किया है इस बात की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। अब यहाँ यह देखना है कि आचार्य मल्लवादी ने किन-किन नयों में किन-किन दर्शनों को समाहित किया है।

1. व्यवहार नय : इसके अन्तर्गत नयचक्र का प्रथम आरा विधि प्रस्थान आता है। यहाँ व्यवहार नय के आधार से अज्ञानवाद का उत्थान किया गया है। इस नय का अभिप्राय यह है कि लोक व्यवहार ही प्रमाण है तथा उसी से अपना व्यवहार चलाना चाहिए। लौकिक पुरुष का अर्थ चार्वाक ग्रहण किया जा सकता है। आचार्य मल्लवादी ने पूर्वमीमांसा को भी व्यवहार नय के अन्तर्गत ही ग्रहण किया है।[7]

2. संग्रह नय : इस नय के अन्तर्गत क्रमशः द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ प्रस्थान अर्थात् विधि-विधि, विध्युभय तथा विधिनियम आते हैं। इसमें आचार्य ने द्वितीय आरे के अन्तर्गत प्रमुख रूप से पुरुषाद्वैतवाद की चर्चा की है।[8] तृतीय आरे के अन्तर्गत सांख्य तथा ईश्वरवाद का प्रमुखता से प्रतिपादन किया है।[9] चतुर्थ आरे के अन्तर्गत ब्रह्मवाद की चर्चा प्रमुख है।[10]

3. नैगम नय : नैगमय नय के अन्तर्गत पंचम और षष्ठ प्रस्थान अर्थात् विधिनियमौ तथा विधि-नियमविधि आरे आते हैं। इसमें आचार्य ने पंचम आरे के अन्तर्गत वैयाकरण दर्शन[11] तथा षष्ठ आरे के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन का प्रतिपादन किया है।[12]

यहां तक के नय तो द्रव्यार्थिक नय माने हैं तथा अब शेष को पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत गिना है।[13]

4. ऋजुसूत्र नय : ऋजुसूत्र नय के अन्तर्गत सप्तम उभयोभय प्रस्थान आता है। आचार्य ने इसके अन्तर्गत बौद्ध दर्शन के अपोहवाद की चर्चा की है।[14]

5. शब्द नय : शब्दनय के अन्तर्गत अष्टम प्रस्थान उभयनियम तथा नवम प्रस्थान नियम आते हैं। आचार्य अष्टम नय के अन्तर्गत बौद्धाचार्य दिङ्नाग के मत का प्रतिपादन करते हैं[15] तथा नवम आरे में अवक्तव्यत्व मत का प्रतिपादन किया है।[16]

6. समभिरूढ़ नय : समभिरूढ़नय के अन्तर्गत दशम प्रस्थान नियमविधि नय आता है जिसमें संभवतः आचार्य ने बौद्धधर्म के ही एक मत का प्रतिपादन किया है।[17]

7. एवंभूत नय : एवंभूत नय के अन्तर्गत एकादश-नियमोभय प्रस्थान तथा द्वादश नियम को लिया गया है। एकादश नय के अन्तर्गत क्षणिकवाद[19] का तथा द्वादशनय के अन्तर्गत शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया है।

मल्लवादी के विवेचन की मौलिकता – इस प्रकार हम देखते है कि मल्लवादी ने तत्कालीन भारतीय दर्शनों को नय में समाहित करने का प्रयास किया। प्रस्तुत निबन्ध में परवर्ती जैन दार्शनिकों के मतानुसार हमने सातों नयों में विभिन्न दर्शनों का समावेश किया है। आचार्य मल्लवादी ने भी जैनाचार्यों के मतानुसार लिया है। जैसे–नैगम नय के अन्तर्गत परवर्ती दार्शनिकों ने वैशेषिक दर्शन को लिया, मल्लवादी भी नैगम नय के अन्तर्गत पांचवें और छठवें आरे को दर्शाते हुए छठवें आरे में तो वैशेषिक दर्शन को ले लेते हैं, किन्तु पांचवें आरे में वे वैयाकरण दर्शन को लेते हैं। यह मल्लवादी की अपनी विशेषता है। नैगम नय के अन्तर्गत वैयाकरण दर्शन को लेने की बात पूर्ववर्ती और परवर्ती किन्हीं भी आचार्यों ने नही कही। दूसरे संग्रह नय के अन्तर्गत परवर्ती आचार्यो ने सांख्य, ब्रह्मवाद और समस्त अद्वैतवादों को लिया। मल्लवादी ने द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ आरे को संग्रहनय के अन्तर्गत लिया तथा अद्वैतवाद, सांख्य, ईश्वरवाद और ब्रह्मवाद का समावेश किया। यहां मल्लवादी ने सभी के अतिरिक्त ईश्वरवाद को भी रखा। व्यवहार नय के अन्तर्गत परवर्ती सभी दार्शनिकों ने मात्र चार्वाक को लिया है। मल्लवादी ने प्रथम आरे में उसकी स्थापना करके लौकिक पुरुष (जिसे हम चार्वाक कह सकते हैं) के अतिरिक्त अज्ञानवाद तथा पूर्व-मीमांसक को भी लिया है। इन दर्शनों को पूर्ववर्ती तथा

परवर्ती किन्ही भी जैन दार्शनिकों ने व्यवहार नय के अन्तर्गत नहीं लिया। यह समायोजन मल्लवादी का नितान्त मौलिक है। ऋजुसूत्र नय के अन्तर्गत पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी दार्शनिकों ने बौद्धदर्शन को लिया, यहां मल्लवादी भी सातवें आरे में बौद्धदर्शन के अपोहवाद को ले रहे हैं।

यहां एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि छठवें आरे तक तो द्रव्यार्थिक नय की चर्चा प्रमुख थी किन्तु अब शेष सातवें से बारहवें आरे में पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से चर्चा की गयी है। परवर्ती सभी दार्शनिकों ने जहां एक तरफ शब्द नय, समभिरूढ़ नय, तथा एवंभूत नय इन सभी नयों की तुलना वैयाकरणों (व्याकरण दर्शन) के साथ की है वहीं पूरे जैन दार्शनिकों में मल्लवादी ही ऐसे प्रथम व अन्तिम दार्शनिक हैं जिन्होंने इन तीनों नयों में बौद्धदर्शन के ही किसी न किसी वाद को मुख्य बनाया है। जैसे—शब्द नय के अन्तर्गत आठवें और नौवें आरे आते हैं जिसमें आठवें आरे के अन्तर्गत दिङ्नाग (बौद्ध विद्वान्) के किसी विशिष्ट मत को समाहित किया है और नौवें आरे में अवक्तव्यत्व नाम का ही कोई बौद्ध मत प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार समभिरूढ़ नय अर्थात् दसवें आरे में भी कोई बौद्धमत ही लिया है। एवम्भूत नय के अन्तर्गत ग्यारहवें आरे में बौद्धों के ही क्षणिकवाद तथा बारहवें अरे के अन्तर्गत बौद्धों के ही शून्यवाद की स्थापना की है। इस प्रकार नयों के विवेचन में जैनेतर दर्शनों का समावेश करते समय बौद्ध मत के भेद प्रभेदों का विवरण इतने विस्तार से देने वाले मल्लवादी अकेले जैन नैयायिक हैं।

पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत आने वाले सभी ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ़ नय तथा एवंभूत नय को बौद्ध दर्शन के ही किसी न किसी वाद से विशेष रूप से तुलना करने के पीछे कारण मल्लवादी पर आचार्य सिद्धसेन का प्रभाव समझ में आता है। आचार्य सिद्धसेन ने पर्यायास्तिक नय की तुलना बौद्धदर्शन से की है।[20] इसी कारण मल्लवादी ने भी पर्यायास्तिक नय के अन्तर्गत बौद्धदर्शन की गहराई में जाकर उन्हीं के मत मतान्तरों को नयों में समावेशित करने का प्रयास किया है जो कि मल्लवादी की मौलिक देन है।

शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत नय की तुलना व्याकरण दर्शन से करने की

परंपरा परवर्ती आचार्यों ने विकसित की। मल्लवादी आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित होते हुए भी नैगम नय को पांचवें और छठे आरे में गर्भित करते हैं जबकि सिद्धसेन ने नैगम नय को छोड़कर मात्र षड्नय ही स्वीकृत किये है। आगमिक परंपरा से प्राप्त नैगम नय को पुनः स्थापित करने का भी श्रेय इस दृष्टि से मल्लवादी को जाता है। यहां एक बात और भी विचारणीय है कि मल्लवादी ने व्यवहार नय को प्रथम लिया और नैगम नय को संग्रह के बाद तीसरे स्थान पर रखा।

इस लघु विमर्श के बाद हम यह कह सकते हैं कि मल्लवादी जैनदर्शन के क्षेत्र में एक ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने नयों के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान दिया और परवर्ती किन्हीं आचार्यो ने उनकी इस विधि को नहीं अपनाया।

सन्दर्भ

1. (क) द्वादशार नयचक्रम्, तृतीयोविभागः, संपादक-मुनिजम्बूविजयस्य प्राक्कथनम्, पृष्ठसंख्या-7 प्रकाशक-जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, प्रथमावृत्ति-1988

(ख) आगमयुग का जैन दर्शन, परिशिष्ट-2 आचार्य मल्लवादी का नयचक्र-दलसुख भाई मालवणिया, पृ. 297

2. तुलनीय, आगमयुग का जैनदर्शन, दलसुख मालवणिया, पृ. 307-308

3. तयोर्भगा-(1) विधिः, (2) विधिविधिः, (3) विधेर्विध-नियमः, (4) विधेर्नियमः, (5) विधि ा-नियमम्, (6) विधि-नियमस्य विधिः, (7) विधि-नियमस्य विधिनियमस्, (8) विधिनियमस्यनियमः, (9) नियमः, (10) नियमस्य विधिः, (11) नियमस्य विधिनियमम्, (12) नियमस्य नियमः। *—द्वादशार नयचक्रम् प्रथमोविभागः, प्रथमेविध्यरे, पृ. 10 संपादक-मुनि जम्बूविजयः, प्रकाशक—जैन* आत्मानंदसभा, भावनगर, प्रथमावृत्ति 1966

4. विध्यादयः षड्नया द्रव्यार्थिकस्य भेदाः, उभयोभयादयश्च षड्नयाः पर्यायार्थिकस्य भेदाः। एवं नैगमादिष्वपि नयेषु यथा विध्यादयो नया अन्तर्भवन्ति तथा तत्तद्विध्यादिनयनिरूपणान्ते विस्तरेण वर्णितं मल्लवादिसूरिभिः। दिनां व त्ववोपदशयति-प्रथमस्य विधिनयस्य व्यवहारनये, द्वितीयचतुर्थाना संग्रह-नये, पंचमषष्ठयोर्नैग्मे, सप्तमस्य ऋजुसूत्रनये, अष्टमनवमपोः शब्दनये, दशमस्य समभिरूढ़े, एकादशद्वादशेयोस्तु एवम्भूतनयेऽन्तर्भावः।

5. *—वही, प्राक्कथनम्-मुनिजम्बुविजयः, पृ. 18 विध्यादिनयनिरूपणव्याजेन* तत्तन्नयानुसारिणस्तत्कालीनाः सर्वे पि दार्शनिकविचारा मल्लवादिसूरिभिरत्रोपन्यस्ताः। —द्वादशारनयचक्र भाग-1, प्राक्कथनम्, पृ. 18

6. यथा च रथादिचक्रे राणा परस्परतो न्तरमेवमत्रापि आदौ परपंक्ष निरस्यानन्तर स्वपक्षस्थापनाय विध्यादिनयानां प्रवृत्तत्वात् परपक्षनिरसनात्मको यों शस्तट् द्वादशानामराणां परस्परतोऽन्तरमू। . ... तत्र सर्वेषामप्यराणामाधारभूतस्तुम्बापरपयांयो नाभिरूपथा तदसम्बद्वानां तेषां विशरणात् स्वकार्यकरणासामर्थ्याच्चैवमत्रापि वर्तते सर्वेषामपि विध्यादिद्वादशनयाराणामाधारभूतः स्याद्वादनाभिः, तत्पतिबदसर्वनयावस्थीनादतोऽन्यथा विशरणात्। ...चक्राकाररूपेप सर्वेषां नयामामत्र निवेशितत्वाद द्वादशस्याप्यरस्य मतं पुनः प्रथमा-दिनयेन निषिध्यते। एवं चानवरतभिदं नयचक्रं क्रमते। वही, पृ. 18-19

7. अत एतच्छैल्यनुसारेण "यथालोकग्राहमेव वस्तु" इति मन्यमानो लौकिको विधिनय इतयाज्ञानिकवादं बहु मन्यते यं लौकिको विधिनयः।... अतो विधिनय निरूपणद्वारेण मीमांसकमतमस्मिन् नय उपन्यस्तम्।

—द्वादशारनय चक्र, भाग-1 प्रक्कथनम्, पृ. 26

8. इदं तु ध्येयम्-एतत्सिद्धान्तावलम्बिनः सर्वेऽप्यद्वैतवादा अस्मिन् नयेऽन्तर्भवन्ति। .... "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादिर्वेदोपनिषत्सु प्रतिपादितः पुरूषद्वैतवाद आदौ निरूपितः। ततः पुरुषाद्वैतवादं निरस्य नियत्यद्वैतवादः प्रतिपादितः। —वही, पृ. 27

9. प्रकृतिपुरूष रूपेण द्वैतवादिनः सांख्याः "ईश्वरोऽधिष्ठाता, तदधिष्ठितं चेदं सर्व जगत प्रवत्ति "इति ईश्वरेशितद्वयात्मकत्वेन द्वैतमभ्युपगच्छन्त ईश्वरवादि-नश्चास्मिन् नये अन्तर्भवन्ति।

—वही, पृ. 27

10. चेतनाचेतनात्मकस्य सर्वस्य परिवृत्या अन्योन्यात्मकत्वानुभवनात् कर्मसम्बद-पुरुषाणां कर्मकृत्वात् कर्मणां च पुरूषकृतत्वादात्मनैवात्मनः कार्यकारणत्वाद् एकं सर्व चैकम्" इति हि विधिनियमनयदर्शनम्, विधेर्नियम्यत्वाद्। अस्मिंश्च नये द्रवयमेव शब्दार्थो नित्यः सर्वात्मकः। ॐ परमार्थः। —वही, पृ. 27

11. पंचमेऽरे उभयनयमतं वैयाकरणसिद्धान्तं मनसिकृत्य निरूपितं ग्रन्थकृता। अयं नयो नैगमदेशः।

—द्वादशारनयचक-भाग-2 प्रास्ताविकं, पृ. 11

12. षष्ठेऽरे उभयनयमतं निराकृत्य विधि-नियमयौः सामान्य—विशेषयोः विधिः वैशेषिकमतानुसारेण वर्णितः। अयं नयो नैगमैकदेशः। —वही, पृ. 11

13. इमे षड्द्रव्यास्तिकनयाः। अतः परं षण्णां पर्यवास्तिकनयानां प्रारम्भः। —वही, पृ. 11

14. बौद्धमतानुसारेण अपोहः शब्दार्थो वर्णितः। ऋजुसूत्रदेशौ यं नयः। —वही, पृ. 12

15. अष्टमेऽरे मल्लवादिसूरिभिः बौद्धाचार्यदिङ्नागस्य मतं विस्तरेण चर्चितम्।

—द्वादशारनयचक्रं, भाग-3, प्रास्ताविकं, पृ. 12

16. नवमे नियमनयारे सामान्य-विशेषादिभिर्विविधैः प्रकारैः वस्तुनो वक्तव्यत्वं शब्दनयमवलम्ब्य साधितम्। नयो यं शब्दनयैकदेशः। —द्वादशारनयचक्र, भाग-3, प्राक्कथनम्, पृ. 8

17. दशमे नियमविध्याख्येऽरे एकान्तेन अवक्तव्यपक्षेऽपि दोषानुद्भाव्य-अवयवावय-

विधर्मधर्म्यादि-भेदांश्च निरस्य भावरूपो-विशेषरूप एव पदार्थ इति साधितम्। ..... कस्माद्ग्रन्थविशेषादुद्रतमिति न ज्ञायते तथापि स बौद्धग्रन्थो भवेदिति सम्भाव्यते। –वही, पृ. 9

18. एकादशे नियमोभयाख्यतेऽरे "सर्वोऽपि पदार्थाःक्षणिकाः" इति साधितम्। एवंभूत-नयस्यभेदरूपे उपयोगैवंभूतनये चाऽयं नियमोभयनयोऽन्तर्भवति। –वही, पृ. 9

19. द्वादर्श नियमनियमाख्येऽरे क्षणिकपदार्थवादमपिनिरस्य शून्यवाद· प्रसादितः। –वही, पृ. 9

20. सुद्धोअणतणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो।। –सन्मति प्रकरण-3/48

अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत
विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली-110016

बन्धुर्नंनः स भगवान् रिपवोऽपिनान्ये,
साक्षान्न दृष्टचर एकतमोऽपि चैषाम्।
श्रुत्वा वचः सुचरितं च प्रथग् विशेषं,
वीरं गुणातिशयलोलतया श्रिताः स्मः।।

'भगवान् महावीर हमारे कोई सगे भाई नहीं और न दूसरे कपिल गोतमबुद्धादिक ऋषि हमारे कोई शत्रु ही हैं–हमने तो इनमें से किसी एक को साक्षात् देखा तक नहीं है। हाँ, इनके पृथक्-पृथक् वचनविशेष तथा चरित विशेष को जो सुना है तो उससे महावीर में गुणातिशय पाया गया है और उस गुणातिशय पर मुग्ध होकर अथवा उसकी प्राप्ति की उत्कट इच्छा से ही हमने महावीर का आश्रय लिया है।'

विविध श्रावकाचारों में वर्णित गुरु का स्वरूप, वन्दन एवं उपासनाविधि

—डॉ. जयकुमार जैन

गुरु का स्वरूप :- गुरु शब्द का वाच्यार्थ है महान्। जो स्वयं मोक्षमार्ग का पथिक है तथा अन्य लोगों को अपने सदुपदेश द्वारा मोक्षमार्ग पर आरूढ़ करता है, वह गुरु कहलाता है। आचार्य वादीभसिंह ने क्षत्रचूडामणि में गुरु का वर्णन करते हुए कहा है—

'रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्रस्नेही परार्थकृत्।
परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः।।' [1]

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से विशुद्ध, सज्जन, सुपात्र शिष्य से स्नेह करने वाला, परोपकारी, धर्म का परिपालन करने वाला गुरु संसार रूपी समुद्र से पार कराने वाला होता है। उन्होंने गुरु के स्नेह को कामनाओं को पूरा करने वाला तथा गर्भाधान मात्र से न्यून माता-पिता कहकर गुरु की महत्ता का प्रतिपादन किया है।[2]

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में **'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्गुरुतया गुरवः इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधवः** [3] कहकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से महान् आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन परमेष्ठियों को गुरु माना गया है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार में श्री समन्तभद्राचार्य ने पाँचों इन्द्रियों के विषयों की आशा से रहित, कृषि, पशुपालन आदि आरंभ से रहित, धन-धान्यादि परिग्रह से रहित, ज्ञान-ध्यान एवं तप किंवा ज्ञानतप और ध्यान तप में लवलीन तपस्वी निर्ग्रन्थ गुरु को प्रशंसनीय कहा है।[4] लाटी संहिता में देव को सच्चा गुरु बताते हुए उनसे नीचे भी जो अल्पज्ञ हैं, किन्तु उसी रूप में दिगम्बरत्व, वीतरागत्व और हितोपदेशित्व को धारण करने वाले को गुरु

कहा गया है–

तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपा तद्रूपधारिणः।
गुरवः स्युगुरोर्न्यायात् न्यायोऽवस्थाविशेषभाक्।।[5]

उमास्वामी श्रावकाचार में गुरु का कथन करते हुए कहा गया है–

महाव्रतान्वितास्तत्त्वज्ञानाधिष्ठितमानसाः।
धर्मोपदेशकाः पाणिपात्रास्ते गुरवो मताः।।
पञ्चाचारविचारज्ञाः शान्ताः जितपरीषहाः।
त एव गुरवो ग्रन्थैर्मुक्ता बाह्यैरिवान्तरैः।।[6]

अर्थात् जो महाव्रतों से संयुक्त हैं, जिनका मन तत्त्वज्ञान के विचार में संलग्न है, जो धर्म के उपदेशक हैं और पाणिपात्र में आहार करते हैं, वे ही गुरु माने गये हैं। जो दर्शनाचार आदि पञ्चविध आचारों के विचारज्ञ हैं, जिनकी कषायें शान्त हैं, जो शीत-उष्ण आदि परीषहों के विजेता हैं और जो बाह्य परिग्रह के समान अन्तरंग परिग्रहों से भी रहित हैं, वे ही सच्चे गुरु हैं। इन दोनों श्लोकों को उद्धृत करते हुए आचार्य पद्मनन्दि ने गुरु का यही स्वरूप स्वीकार किया है।[7] श्री शिवकोटि ने कहा है–

दिगम्बरो निरारम्भो नित्यानन्दपदार्थनः।
धर्मदिक् कर्मधिक् साधुर्गुरुरित्युच्यते बुधैः।।[8]

अर्थात् जो सर्व परिग्रह से रहित दिगम्बर हैं, सर्व प्रकार के आरंभों से रहित हैं, नित्यानन्द स्वरूप मोक्ष के अभिलाषी हैं, धर्म के उपदेष्टा हैं और कर्मो के विनाशक हैं, ऐसे साधु को विद्वानों ने गुरु कहा है। पण्डित गोविन्द ने गुरु का विस्तार से कथन किया है। उनके अनुसार जो क्रोधरहित है, मदरहित है, लोभरहित है, जितेन्द्रिय है, समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानने वाला है, परमार्थस्वरूप मोक्षमार्ग में अवस्थित है, जो परम दुर्धर ब्रह्मचर्य को मन-वचन-काय की शुद्धि से धारण करता है, परीषहों को सहन करता है, भयंकर उपसर्ग आने पर भी धीर-वीर रहता है, सर्वपरिग्रह से विनिर्मुक्त है, सर्व जन्तुओं की दया करने में तत्पर है, जो सर्वथा बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नही करता है, जो

अपने शरीर में भी ममता से रहित है, जो इस लोक और परलोक के फल की आकांक्षा के बिना ही जीवों को धर्म का उपदेश देता है, जो प्रासुक शुद्ध आहार को पाणिपात्र में ग्रहण करता है, इन्द्रियों को वश में रखता है, जो दिगम्बर है, आशाओं से विमुक्त है, सुख और दुःख में समान है, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ और उच्च-नीच में समभावी है, स्व-पर का तारक है, वही सच्चा गुरु है और वही सदा सम्यग्दृष्टियों द्वारा मान्य है। इसके विपरीत स्व-पर का प्रवंचक सच्चा गुरु नही है।[9]

आचार्य अमितगति ने ज्ञानी एवं आचारवान् गुरुओं के वचनों की ग्राह्यता का वर्णन करते हुए लिखा है–

ये ज्ञानिनश्चारुचारित्रभाजो ग्राह्या गुरूणां वचनेन तेषाम्।
सन्देहमत्यस्य बुधेन धर्मो विकल्पनीयं वचनं परेषाम्।।[10]

अर्थात् जो ज्ञानवान् और उत्तम चारित्र के धारी हैं, उन गुरुओं के वचन सन्देहरहित होने से ग्राह्य हैं। जो ज्ञानवान् और उत्तम चारित्रधारी नही हैं, उनके वचन सन्देहास्पद होने से स्वीकार करने योग्य नही हैं।

क्या श्रावक भी गुरु कहा जा सकता है? – आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों से नीचे किसी की भी गुरु संज्ञा नही है। कोई भी श्रावक इस संज्ञा को प्राप्त नही है। ग्यारह प्रतिमाधारी क्षुल्लक और ऐलक भी श्रावक की श्रेणी में ही है, वे गुरु नही है। किन्तु लोकव्यवहार में उपदेशक साधुभिन्न श्रावक को भी गुरु कह दिया जाता है। हरिवंशपुराण में जिनधर्मोपदेशक होने से देवों ने चारुदत्त श्रावक को गुरु कहा है तथा उसे मुनि से भी पहले नमस्कार किया है। इस सन्दर्भ में एक कथा आई है–एक समय रत्नद्वीप में चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के पास चारुदत्त श्रावक और दो विद्याधर बैठे हुए थे। उसी समय दो देव स्वर्गलोक से आये और उन्होंने मुनि को छोड़कर पहले चारुदत्त श्रावक को नमस्कार किया। वहाँ बैठे हुए दोनों विद्याधरों ने आगत देवों से नमस्कार के इस व्युत्क्रम का कारण पूछा। इसके उत्तर में देवों ने कहा कि चारुदत्त ने हम दोनों को बकरा की योनि में जिनधर्म का उपदेश दिया था, जिसके

फलस्वरूप हमारा कल्याण हुआ है। अतएव ये चारुदत्त हम दोनों के साक्षात् गुरु हैं–

अक्रमस्य तदा हेतुं खेचरौ पर्यपृच्छताम्।
देवावृषिमतिक्रम्य प्राग्नतौ श्रावकं कुतः।।
त्रिदशावूचतुर्हेतुं जिनधर्मोपदेशकः।
चारुदत्तो गुरुः साक्षादावयोरिति बुध्यताम्।।
तत्कथं कथमित्युक्ते छागपूर्वः सुरोऽभणीत।
श्रूयतां मे कथा तावत् कथ्यते खेचरो स्फुटम्।।[11]

इसी प्रकार आदिपुराण में प्रीतिंकर मुनिराज की वन्दना करते हुए कहा गया है कि ये मुनिराज महाबल के भव में भी मेरे स्वयंबुद्ध मंत्री के रूप में गुरु थे। इस भव में सम्यग्दर्शन प्रदान कर विशेष रूप से गुरु हो गये हैं–

महाबलभवेऽप्यासीत् स्वयंबुद्धो गुरुः स नः।
वितीर्य दर्शनं सम्यगधुना तु विशेषतः।।[12]

आचार्य :- निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु बनने के इच्छुक लोगों को परीक्षाणोपरान्त दीक्षा देने वाला, उनके दोषों का निवारण करने वाला संघनायक साधु आचार्य कहलाता है। उमास्वामिश्रावकाचार में आचार्य का स्वरूप वर्णित करते हुए कहा गया है कि जो शिष्यों का अनुग्रह करने वाला हो, पाप रूप इन्धन को जलाने के लिए अग्नितुल्य हो, पाँचों इन्द्रियों के भोगों से विरक्त हो, विश्ववन्दित हो, प्रमाद और मद से विमुक्त हो, जिन आज्ञा का प्रतिपालक हो, शास्त्रों के पढ़ाने में सदा निरत रहता हो और स्वयं भी शास्त्र पठन में पटु हो, धर्मोपदेश रूप अमृत से लोगों के मनोमल को धो देने वाला हो, सम्यक्त्व रूप से अलंकृत हो, सम्यग्ज्ञान रूप उत्तम भोजन करने वाला हो, जिसका शरीर सम्यक्चारित्र रूप उत्तम वस्त्र से वेष्टित हो, विशुद्ध बुद्धि हो, महान् उपशमभाव रूप गजराज पर समारूढ़ हो, उत्तम अभिप्राय वाला हो, सर्व जीवों का हितैषी और सर्व प्राणियों का कल्याणकर्ता हो, पाप, मिथ्यात्व और दुष्कर्मों को दूर करने वाला हो, संसार से पार उतारने वाला हो, बाहरी और भीतरी

परिग्रह से विमुक्त हो, जैनधर्म की प्रभावना करने वाला हो, गण का स्वामी हो, सर्वगण का आधार हो और जैन धर्म के मूल मार्ग का प्रदर्शक हो, अनेक उत्तम गुणरूपी रत्नों का सागर हो, संसार सागर में पड़े हुए भव्य जीवों को सहारा देने वाला हो, वह आचार्य परमेष्ठी कहलाता है।

अमितगतिश्रावकाचार में आचार्य परमेष्ठी की वन्दना करते हुए आचार्य के स्वरूप का भी कथन किया गया है–

ये चारयन्ते चरितं विचित्रं स्वयं चरन्तो जनमर्चनीयाः।
आचार्यवर्या विचरन्तु ते मे प्रमोदमाने हृदयारविन्दे।।[14]

अर्थात् जो नाना प्रकार के चारित्र का स्वयं आचरण करते हुए लोगों को आचरण कराते हैं, ऐसे अर्चनीय आचार्यवर्य मेरे प्रमुदित हृदयकमल में सदा विचरण करें। आगे पुनः आचार्य परमेष्ठी का वर्णन करते हुए कहा है कि जो पाँच प्रकार के आचार का स्वयं आचरण करते हैं, दूसरों को आचरण कराते हैं और आचरण करने वालों को अनुमति देते हैं, जो पिता के तुल्य सब जीवों के हितकारी हैं, जैसे चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श करके चन्द्रकान्तमणि जल को छोड़ता है, उसी प्रकार जिनके चरणों का स्पर्श करके जीव अपने पापों को छोड़ देते हैं, जिनके उपदेशों से साधुजन अपने चारित्र को अत्यन्त दृढ़ करते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी श्रेष्ठपद को पाने के इच्छुक भव्य पुरुषों के द्वारा मन-वचन-काय से पूजे जाते हैं।[15]

उपाध्याय :- उपाध्याय परमेष्ठी का मुख्य कार्य अध्ययन-अध्यापन है।[16] इनमें आचार्य के सभी गुण पाये जाते हैं, यह आचार्य के समान धर्मोपदेश तो दे सकते हैं, परन्तु इनमें आदेश देने की पात्रता नही है। उपाध्याय परमेष्ठी की वन्दना करते हुए अमितगति श्रावकाचार में कहा गया है–

येषां तपःश्रीरनघा शरीरे विवेचिका चेतसि तत्त्वबुद्धिः।
सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे पुनन्तु तेऽध्यापकपुङ्गवा वः।।[17]

अर्थात् जिनके शरीर में पापरहित निर्मल तपोलक्ष्मी सुशोभित है, जिनके चित्त में भेदविज्ञान कराने वाली विवेचक तत्त्वबुद्धि विद्यमान है और जिनके

मुखकमल में सरस्वती विराजमान है; ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी हमें और आपको पवित्र करें। आगे पुनः उपाध्याय परमेष्ठी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जैसे उन्नत पर्वतों से पावन नदियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार जिन विद्योन्नत सत्त्वशाली उपाध्यायों से पापों का दलन करने वाली पवित्र विद्यायें उत्पन्न होती हैं, जो संसार-कानन को जलाने के लिए दावानल के समान पञ्च आचारों का स्वयं पालन करते हैं, जो द्वादशांग रूप श्रुतस्कन्ध को स्वयं पढ़ते हैं और अन्य शिष्यों को पढ़ाते हैं, जिनके वचन रूप सरोवर में स्नान करने वाले मलिन पुरुष भी मलिन नही रहते, प्रत्युत निर्मल हो जाते हैं, ऐसे पापरहित उपाध्याय परमेष्ठी चतुर पुरुषों के द्वारा अवश्य ही पूजे जाते हैं।[18]

साधु :- श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतरागी, अनगार, भदन्त और दान्त ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।[19] रत्नकरण्डश्रावकाचार में विषयों की आशा से रहित, निरारंभ, अपरिग्रही तथा ज्ञान, ध्यान और तप (किंवा ज्ञानतप और ध्यानतप) में लीन को तपस्वी या साधु कहा गया है। तत्त्वार्थसार में व्यवहारालंवी साधु का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जो सात तत्त्वों का भेदपूर्वक श्रद्धान करता है, भेदरूप से जानता है तथा विकल्पात्मक भेद रूप रत्नत्रय की साधना करता है, वह व्यवहारी साधु है।[20] अमितगतिश्रावकाचार में साधु परमेष्ठी की वन्दना करते हुए कहा है-

कषायसेनां प्रतिबन्धिनीं ये निहत्य धीराः शमशीलशस्त्रैः।
सिद्धिं विबाधां लघु साधयन्ते ते साधवो मे वितरन्तु सिद्धिम्।।[21]

अर्थात् जो धीर वीर सिद्धि को रोकने वाली क्रोध आदि कषाय रूपी सेना को शम और शील रूप शस्त्रों के द्वारा विनष्ट कर बाधा रहित सिद्धि को अल्पकाल में शीघ्र ही सिद्ध कर लेते हैं, वे साधुजन मुझे सिद्धि प्रदान करें। आगे पुनः कहा गया है कि जिन्होंने तीनों लोकों को सन्तापित करने वाली तीव्र कामाग्नि को पापपंक के प्रक्षालक शमभाव रूपी जल से बुझा दिया है, जो भवकानन को जलाने की इच्छा से निर्दोष तप को करते हैं, जिन्होंने सर्व प्रकार के परिग्रह को दूर कर दिया है, जो अपने शरीर के प्रति भी निष्पृह हैं, जो खजाने की तरह रत्नत्रय की अत्यन्त आदरपूर्वक रक्षा करते हैं, ऐसे

भव्यबन्धु साधुजन सज्जनों के द्वारा निरन्तर आराधना किये जाते हैं।[22]

साधु के भेद :- श्री चामुण्डरायकृत चारित्रसार में जिनरूप को धारण करने वाले दिगम्बर साधुओं के चार भेद कहे गये हैं—अनगार, यति, मुनि और ऋषि। सामान्य साधुओं को अनगार कहते हैं। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरूढ और कर्मो की उपशमना और क्षपणा करने में उद्यत साधु को यति कहते हैं। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी साधु को मुनि कहा जाता है तथा ऋद्धिप्राप्त साधु ऋषि कहलाते हैं। ऋषि चार प्रकार के होते हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि से युक्त साधु ब्रह्मर्षि कहे जाते हैं। आकाशगगन ऋद्धि वाले साधु देवर्षि और केवलज्ञानी साधु परमर्षि कहलाते हैं।[23] श्री पण्डित मेधावीकृत धर्मसंग्रहश्रावकाचार में अनगार के स्थान पर साधु का प्रयोग किया गया है।[24] शेष वर्णन चारित्रसार के ही समान है।

मिथ्यादृष्टि सदोष साधु :- रत्नकरण्डश्रावकाचार में मिथ्यादृष्टि मोही साधु की अपेक्षा निर्मोही सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी गृहस्थ को अच्छा बताया गया है।[25]

लाटीसंहिता में सम्यग्दर्शन से गिरकर मिथ्यादृष्टि बने ग्यारह अंग के पाठी साधुओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यद्यपि उन्हें शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता है, तथापि उनसे जिनागम का उपदेश सुनकर अनेक जीव सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी बन जाते हैं।[26] ऐसे साधुओं को आचार्य वादीभसिंह ने 'उपजातरुजोऽप्येष धार्मिकाणां भिषक्तमः' अर्थात् स्वयं रोगी होने पर भी अन्य धार्मिकों के लिए श्रेष्ठ चिकित्सक कहा है।[27]

गृहस्थ की भावसाधुता का निषेध :- आचार्य शुभचन्द्र का कथन है कि आकाशपुष्प अथवा खरविषाण कदाचित् संभव हो जायें, परन्तु गृहस्थ को किसी भी देशकाल में कभी भी ध्यानसिद्धि (भावसाधुपना) नही हो सकता है। यथा'—

> **खपुष्पमथवा श्रृङ्ग खरस्यापि प्रतीयते।**
> **न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धि गृहाश्रमे।।**[28]

इससे स्पष्ट है कि मुनियों को ही आत्मध्यान हो सकता है।

चार मंगलों में आचार्य एवं उपाध्याय क्यों नहीं? :- पञ्च परमेष्ठियों में आचार्य, उपाध्याय और साधु की पृथक्-पृथक् वन्दना की गई है, किन्तु चार मंगलों में अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्रणीत धर्म का कथन किया गया है। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि मंगलों में आचार्य एवं उपाध्याय का पृथक् ग्रहण क्यों नही है। सामान्यतः यह कहा जाता है कि साधु में ही तीनों का ग्रहण हो जाने से आचार्य, उपाध्याय का पृथक् समावेश नही है। यह सत्य है कि साधु में आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों आ जाते हैं। पर इसमें एक और रहस्य प्रतीत होता है। आचार्य एवं उपाध्याय पद या उपाधि हैं। इन पदों या उपाधियों के रहते हुए दूसरों का कल्याण या मंगल भले ही हो जावे परन्तु स्वयं का मंगल संभव नही है। इसी कारण सल्लेखना काल में पदत्याग का विधान है। कदाचित् चार मंगलों में स्वमंगल रूप न होने से ही आचार्य एवं उपाध्याय का ग्रहण नही किया गया है।

गुरुवन्दन :- गुण पूजास्थान माने गये हैं। इसी कारण गुणाधिक की वन्दना का नियम है। साधुओं में परस्पर ज्येष्ठता दीक्षाकाल के आधार पर मानी गई है। वन्दना में विनय की अनिवार्यता होती है किन्तु यह विनय भी मोक्षहेतुक होना चाहिए। लोकानुवृत्तिहेतुक, कामहेतुक, अर्थहेतुक या भयहेतुक विनय आश्रयणीय नही है। वसुनन्दिश्रावकाचार में दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय को श्रावक के लिए आवश्यक माना गया है। पञ्चमगति या मोक्षप्राप्ति के लिए पञ्चविध विनय अनिवार्य है। निःशंकित, संवेग आदि के परिपालन को दर्शनविनय कहते हैं। ज्ञान, ज्ञान के उपकरण शास्त्रादि तथा ज्ञानियों के प्रति भक्तिपूर्वक तदनुकूल आचरण का नाम ज्ञानविनय है। चारित्र और चारित्रधारियों की विनय को चारित्रविनय कहते हैं। बालक, वृद्ध आदि के विचार को छोड़कर तपस्वियों की वन्दना तपविनय है। उपचारविनय मन-वचन-काय के भेद से त्रिविध है। मन को खोटे परिणामों से हटाकर शुभ में लगाना मानसिक विनय कही गई है।[29] पण्डित मेधावी ने धर्मसंग्रह श्रावकाचार में मुनियों की चरणवन्दना को नित्य पूजन का ही एक

भेद स्वीकार किया है–

देवार्चनं गृहे स्वस्य त्रिसंध्यं देववन्दनम्।
मुनिपादार्चनं दाने सापि नित्यार्चना मता।।[30]

ब्रह्म नेमिदत्त द्वारा रचित धर्मोपदेश पीयूष वर्ष श्रावकाचार में अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत के अन्तर्गत सुपात्र को दान का विधान करते हुए मुनियों को उत्तम सुपात्र कहकर उन्हें दान देने का विधान नवधा भक्ति पूर्वक किया गया है। नवधा भक्ति में प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि एवं भोज्यशुद्धि का कथन किया गया है।[31] पं. दौलतराम ने क्रियाकोष के मंगलाचरण में गुरुवन्दना की है–

'आचारिज उपाध्याय कौं विनऊं साधुमहन्त।।'
'तीन काल के मुनिवरा वंदों लोक प्रसिद्ध।।'[32]

वन्दना के बत्तीस दोष – आ. अमितगति ने वन्दना के 32 दोष कहे हैं–

1. अनादर – आदर रहित होकर वन्दना करना।
2. स्तब्ध – अष्टविध मदों में से किसी मदपूर्वक वन्दना करना।
3. पीडित – अंगों को दबाकर वन्दना करना।
4. कुंचित – केश मरोड़कर वन्दना करना।
5. दोलादित – शरीर को झूलते हुए के समान वन्दना करना।
6. कच्छपरिंगित – कछुए के समान संकोच-विस्तार पूर्वक वन्दना करना।
7. अंकुशित – अंगूठे को मस्तक पर रखकर वन्दना करना।
8. मत्स्योद्वर्तन – मछली की तरह उछलकर वन्दन करना।
9. द्राविडीविज्ञाटित – वक्ष पर दोनों हाथ करके वन्दना करना।
10. आसादना – अवज्ञापूर्वक वन्दना करना।
11. विभीत – गुरु आदि के भय से वन्दना करना।

12. भय	–	सात भयों से डरते हुए वन्दना करना।
13. ऋद्धिगौरव	–	परिवार की ऋद्धि के गर्व से वन्दना करना।
14. लज्जित	–	लज्जाकुलित हो वन्दना करना।
15. प्रतिकूल	–	गुरु के प्रतिकूल हो वन्दना करना।
16. शब्द	–	वचनालाप करते हुए वन्दना करना।
17. प्रदुष्ट	–	क्रोधित होकर क्षमा न माँगकर वन्दना करना।
18. मनोदुष्ट	–	बताकर, तर्जनी घुमाते हुए वन्दना करना।
19. हसनोद्घट्टन	–	हँसते हुए अंग रगड़ते हुए वन्दना करना।
20. भृकुटिकुटिल	–	भौहें टेढ़ी करके वन्दना करना।
21. प्रविष्ट	–	अत्यन्त निकट जाकर वन्दना करना।
22. दृष्ट	–	देखने पर ठीक ढंग से न देखने पर यद्वा तद्वा वंदना करना।
23. करमोचन	–	संघ में कर (Tax) मानकर वन्दना करना।
24. आलब्ध	–	उपकरण पाकर वन्दना करना।
25. हीन	–	अधूरी वन्दना करना।
26. पिधायक	–	सूत्र कथित अर्थ को ढककर वन्दना करना।
27. अदृष्ट	–	गुरु की दृष्टि वचाकर वन्दना करना।
28. अनालब्ध	–	उपकरण आदि पाने की इच्छा से वन्दना करना।
29. मूक	–	गूंगे के समान हुंकार करते हुए वन्दना करना।
30. दर्दुर	–	दूसरे की वन्दना को अपने शब्द से ढकते हुए वन्दना करना।
31. अग्र	–	गुरु के ठीक आगे खड़े होकर वन्दना करना।
32. उत्तरचूलिक	–	जल्दी-जल्दी या क्रमभंग से वन्दना करना।[33]

वन्दना करने वालों को उक्त बत्तीस दोष छोड़ना चाहिए। क्योंकि प्रयत्नपूर्वक दोषरहित की गई वन्दना खेती के समान शीघ्र ही अभीष्ट फल को

देने वाली होती है।[34] साधुवेष से ही मोक्षसंभव है। अतः श्रावक को गुरुवन्दना अवश्य करना चाहिए। पं. मेधावी ने स्पष्ट रूप से कहा है–

गृहाश्रमं यः परिहृत्य कोऽपि, तं वानप्रस्थं कतिचिद्दिनानि।
प्रपाल्य भिक्षुर्जिनरूपधारी, कृत्वा तपोऽनुत्तरमेति मोक्षम्।।[35]

अर्थात् जो मोक्षाभिलाषी पुरुष गृहस्थाश्रम छोड़कर कुछ दिनों तक वानप्रस्थ आश्रम का यथाविधि पालन करके जिनराज के समान दिगम्बर मुनिमुद्रा का धारक होता है, वह नाना प्रकार के दुष्कर तप करके अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

गुरु-उपासना-विधि :- पण्डित आशाधर ने सिद्धों एवं अरिहन्तों के समान दिगम्बर साधु की उपासना करने का विधान किया है। उनका कहना है कि अरिहन्त, सिद्ध, जिनधर्म और गुरु ये चारों ही लोकोत्तम एवं शरणभूत हैं। परमोत्कृष्ट होने से ये लोकोत्तम तथा दुःखनाशक एवं विघ्नविघातक होने से शरण हैं। प्रमादरहित मोक्ष के इच्छुक व्यक्तियों के द्वारा गुरुओं की सदैव उपासना की जाना चाहिए। क्योंकि जैसे गरुड़ के पंखों को ओढ़कर चलने वालों को सर्प भय नही रहता है, सर्प उनके समीप नही आ सकते हैं, उसी प्रकार गुरु की उपासना (भक्ति) करने वालों को किसी प्रकार का विघ्न नही आता है।[36] उनका कथन है कि उत्तम गृहस्थ अरिहन्तों की तरह वर्तमान काल सम्बन्धी मुनियों में चतुर्थकाल सम्बन्धी मुनियों की स्थापना करके शक्तिपूर्वक पूजन करे। क्योंकि अत्यन्त चर्चा करने वालों का कल्याण कैसे हो सकता है? इस कलिकाल में जिनशासन की भक्ति से जिनरूप को धारण करने वाले व्यक्ति भी जिनेन्द्र भगवान के समान मान्य हैं। ऐसी धर्मानुरागिणी बुद्धि से चित्त में विकार न लाकर धीर बनना चाहिए। क्योंकि भाव ही पुण्य एवं पाप का कारण है। इसलिए उसे दूषित होने से बचना चाहिए। अनशन आदि तप का कारण होने से ज्ञान पूजनीय है, उस ज्ञान की वृद्धि का कारण होने से तप पूजनीय है। ज्ञानी, तपस्वी और ज्ञानी तपस्वी पुरुष अपने-अपने गुणों के कारण पूजनीय हैं।[37]

पं. मेधावी ने धर्मसंग्रहश्रावकाचार में पं. आशाधर का ही अनुसरण करते

हुए साधुओं-आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठियों की उपास्यता का कथन किया है। उन्होंने यथायोग्य पञ्चपरमेष्ठियों की उपास्यता का वर्णन करते हुए लिखा है–

भजनीया इमे सद्भिः सम्यक्त्वगुणसिद्धये।
स्नानपूजनसद्ध्यानजपस्तोत्रसदुत्सवैः।। [38]

अर्थात् इनकी अभिषेक, पूजन, ध्यान, जप, स्तुति एवं महोत्सवों के द्वारा उपासना करना चाहिए। इनकी उपासना से सज्जनों को सम्यक्त्व गुण की सिद्धि होती है।

उमास्वामिश्रावकाचार में कहा गया है कि श्रावकों को मनोवांछित कार्य की सिद्धि के लिए, इस लोक में संशय रूप अंधकार के नाश के लिए और परलोक में सुख पाने के लिए गुरुओं की उपासना करना चाहिए। संसार में जितने भी उत्तम, मध्यम और जघन्य मनुष्य हैं, वे गुरु के बिना नही रहते हैं। अतः श्रावक को गुरु की उपासना करना ही चाहिए। मनुष्य सदा ही शुभाशुभ कर्म करते रहते हैं। वे गुरु के द्वारा उपदिष्ट आचार से शुद्ध होकर महान् बन जाते हैं।[39]

श्री पद्मनन्दि मुनि ने मुनियों के सकल सम्यक्चारित्र को पापों का विध्वंशक बताकर चारित्र और चारित्रधारियों की उपासना का संकेत किया है।[40] श्री शिवकोटि ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि कलिकाल में श्रेष्ठ मुनियों द्वारा वनवास छोड़ा जा रहा है, वे जिनालय में या ग्रामादिक में रहने लगे हैं, फिर भी उनकी चतुर्विध दानादिक से उपासना करना चाहिए। जिस पुरुष ने आज के वर्तमान काल में हर्षपूर्वक साधुओं की वैयावृत्ति की है, उसने ही सुख के कारणभूत जैन शासन का उद्धार किया है।[41]

पद्मनन्दिपञ्चविंशातिका में कहा गया है कि भव्य जीवों को प्रातःकाल उठकर जिन भगवान् और गुरुजनों का दर्शन करना चाहिए, भक्ति से उनकी वन्दना करना चाहिए तथा धर्म का उपदेश सुनना चाहिए। इसके बाद ही उपासक गृहस्थों को सांसारिक कार्य करना चाहिए। गुरु की कृपा से ही

ज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त होता है। उनके द्वारा समस्त विश्व के पदार्थ हस्तरेखा के समान स्पष्ट दिखाई देते हैं। अतः ज्ञानार्थी गृहस्थ को भक्तिपूर्वक गुरुजनों की वैयावृत्ति और वन्दना करना चाहिए। जो गुरुजनों का सम्मान नही करते हैं, न उनकी उपासना करते हैं, सूर्योदय होने पर भी उनके हृदय में अज्ञानान्धकार बना ही रहता है।[42]

रयणसार में गुरुभक्ति का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि गुरुभक्ति से विहीन शिष्य नियम से दुर्गति के मार्ग पर चल रहे हैं। ऊसर खेत में बोये गये बीज के समान गुरुभक्ति से विहीन सर्वपरिग्रहरहित भी शिष्यों का तप आदि निष्फल समझना चाहिए। जैसे प्रधान के बिना राज्य, स्वामी के बिना देश, ग्राम, राष्ट्र एवं सेना का विनाश हो जाता है, उसी प्रकार गुरुभक्तिहीन शिष्यों के सभी अनुष्ठान विनाश को प्राप्त होते हैं।[43]

सन्दर्भ

1. क्षत्रचूडामणि, 2/30, 2. वही, 2/2 एवं 2/59, 3. भगवती आराधना 300 की विजयोदया टीका

4. विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार 10 एवं उसकी प्रभाचन्द्री टीका

5. लाटी संहिता, तृतीय सर्ग, 6. उमास्वामिश्रावकाचार, 14-15, 7. श्रावकाचारसारोद्धार, 140-141, 8. रत्नमाला, 8, 9. पुरुषार्थानुशासन, 3/30-35, 10. अमितगतिश्रावकाचार, 1/43, 11. हरिवंशपुराण, 21/128-131, 12. आदिपुराण, 9/172, 13. उमास्वामिश्रावकाचार, 186-192, 14. अमितगति श्रावकाचार, 1/3, 15. वही, 12/25-27

16. *'यद्धयेति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेत् गुरुः।*

पञ्चाध्यायी, उत्तरार्द्ध 661

17. अमितगतिश्रावकाचार, 1/4, 18. वही, 12/28-30

19. 'समणो संजदो त्ति य रिसि मुणि साधु त्ति वीदरागो त्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतो त्ति।।

मूलाराधना, 888

20. तत्त्वार्थसार, 9/5, 21. अमितगतिश्रावकाचार, 1/5, 22. वही, 12/31-33, 23. चारित्रसार-

शीलसप्तकवर्णन, पद्य 22 और ऊपर का गद्य, 24. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 6/283-290

25. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार, 33

26. लाटीसंहिता, 4/18-20, 27. क्षत्रचूडामणि 2/16, 28. ज्ञानार्णव, 4/17, 29. वसुनन्दिश्रावकाचार, 320-326, 30. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 6/29, 31. धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार, 4/156, 32. क्रियाकोष, मंगलाचरण 34-35, 33. अमितगतिश्रावकाचार, 8/76-86, 34. वही, 8/87, 35. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 6/294, 36. द्रष्टव्य-सागार धर्मामृत, 2/42-45, 37. वही, 2/64-66, 38. धर्मसंग्रह श्रावकाचार, 7/120, 39. उमास्वामिश्रावकाचार, 183-185, 40. श्रावकाचारसारोद्धार, 3/5, 41. रत्नमाला, 22-25, 42. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका, 16-19, 43. रयणसार, 70-72

—उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर

"नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे,
न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्तिः,
कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।।"

मुक्ति न तो केवल दिगम्बर होने में है और न श्वेताम्बर बनने में, वह न कोरे तर्कवाद में रखी है और न तत्त्ववाद में ही पायी जाती है, पक्ष सेवा का आश्रय लेने से भी मुक्ति नहीं मिलती, मुक्ति तो वास्तव मे कषायमुक्ति है।

"पहाड़ी लघु चित्रशैलियों में शिव-परिवार विषयक चित्र"

—कु. रूपा जैन, शोधछात्रा

पहाड़ी चित्रकला के जन्म की कहानी ज्ञात नहीं है, हम नहीं जानते कब और कहाँ चित्रकला के क्षेत्र में इस कला ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया? आनन्द कुमार स्वामी प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने लगभग 8 दशक पूर्व इस कला के प्रति संसार का ध्यान आकर्षित किया और इन्हीं कालों के दौरान साहित्यिक विकास हुआ। विभिन्न विद्वानों के इस सम्बन्ध में, विशेषतौर पर पहाड़ी चित्रकला के प्रारम्भ से सम्बन्धित अनेक मत होने के कारण इसके जन्म की कहानी अनिश्चित बनी हुई है। पहाड़ी चित्रकला से सम्बन्धित प्रामाणिक तथ्य शोचनीय रूप से अत्यन्त अल्प हैं एवं जो थोड़े बहुत उपलब्ध हैं, वे भी स्पष्ट नहीं हैं।

पहाड़ी चित्रकला के प्रचार-प्रसार के लिए बहुत सी परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं। समकालीन काव्य दो विषयों के रूप में स्वीकार किया गया—इसका प्रथम रूप या तो पूर्ण रूप से ईश्वर के पूर्णत्व की ओर केन्द्रित था या शृंगारिक प्रेम से सम्बन्धित था। चित्र इन दोनों विषयों का मिश्रण थे और उनके बीच की विभाजन रेखा अत्यन्त सूक्ष्म थी। चित्र पूर्णतः कर्तव्यनिष्ठा एवं तीव्र लगन के प्रमाण थे जिनका चित्रण विषयों को अनुभव किये बिना या समझे बिना नहीं किया जा सकता। राजा सामान्य जनता के मनोरंजन के लिए सभी प्रकार के बाहरी सांस्कृतिक कार्यों में जैसे—नृत्य, संगीत, नाटक आदि अनेक कार्य, जो सामान्य जनता के आनन्द हेतु थे, अपना पूर्ण योगदान देते थे। चित्रकार सूक्ष्मता पूर्वक उन अवसरों को अपने कार्य से कैद कर लेते थे। आइजाजुद्दीन ने पहाड़ी चित्रकला के विषय में सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन किया एवं चित्रकारों की उपलब्धि और संरक्षकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का वर्णन किया। वे लिखते हैं—

"Without the Pahari Painters, the Pahari states and their rules might well have been forgotton; without the Pahari rajas, the Painters would certainly have been forgotton."

पहाड़ी चित्रकला को सहजता एवं ताजगी में समकालीन मुगल शैली के और काव्यात्मक गुण में राजस्थानी कला के रूप में पहचाना जा सकता है। वह क्या है जो पहाड़ी कला को इतना आकर्षित बनाती है? उसके काव्यात्मक विषय या उसकी आकर्षित रंग योजना या सुन्दर रेखांकन या उसके भावपूर्ण चेहरे? इनमें से मात्र एक नहीं बल्कि समस्त विशेषताएं एक साथ हमें पहाड़ी कलम की समस्त शैलियों में दिखायी देती हैं।

प्रायः यह कहा जाता है कि पहाड़ी चित्रकला अपने चरित्र में धार्मिक है। यह बात कुछ सीमा तक सही है। पहाड़ी कलम की विभिन्न शैलियों जैसे—कांगड़ा, बसौहली, गढ़वाल, गुलेर, चम्बा, मण्डी, कुल्लू, नूरपुर आदि के चित्रकारों के पास विषय सामग्री पहले से ही उपलब्ध थी। राजस्थानी चित्रकारों द्वारा अनेक संस्कृत ग्रन्थों जैसे—रामायण, महाभारत, भागवत पुराण, मारकण्डेय पुराण, रसमंजरा आदि के उदाहरणों के ही पुनर्व्याख्या पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न शैलियों में की गई।

धार्मिक विषयों के साथ-साथ प्रेम भी विभिन्न पहाड़ी शैलियों में प्रमुख विषय बन गया था। यह सर्वप्रथम आनन्द कुमार स्वामी ने स्पष्ट किया। वे स्वीकार करते हैं :-

"उनकी विशिष्टता अद्वितीय है; जो स्थान भू-दृश्य कला में चीनियों को प्राप्त है, यहाँ वही स्थान मानवीय प्रेम को प्राप्त है।"

डब्ल्यू. जी. आर्चर के अनुसार :-

"Exquisite rendering of the subtle ectasies of romance are seen only in the pictures from the Punjab Hills."

प्रेमपूर्ण विषयों को चारित्रिक रूप से चित्रित करने में चित्रकारों ने

कृष्ण-राधा के साथ-साथ शिव-पार्वती को भी चित्रित किया है। शिवपुराण के विभिन्न रूपों से सम्बन्ध रखते हुए हमें शिव के व्यक्तित्व के विषय में ज्ञान मिलता है। शिव को योगी एवं प्रेमी दोनों रूपों में चित्रित किया गया है। महान् ग्रन्थों, पुराणों, कथानकों आदि के आधार पर शिव एक भ्रमणशील, जंगलो व श्मशान भूमि के निवासी, जानवरों की चर्म व सर्पाभूषणों से सुसज्जित ध्यान मग्न पाये जाते हैं। वे अधिकाशतः नग्न एवं शरीर पर भस्म रमाये पाये जाते हैं।

भारतीय विचारधारा के अनुसार 'भगवान शिव' अन्तिम पुरुषत्व व उनकी पत्नी पार्वती अन्तिम स्त्रीत्व को प्रस्तुत करती है एवं उनका संयोग, मिलन अंतिम निर्माण कार्यो को प्रदर्शित करता है। पहाड़ी चित्रकारों ने शिव-पार्वती के इसी शृंगारिक जीवन, पारिवारिक जीवन को अपने चित्रों का विषय बनाया। शिव-पार्वती के विवाह एवं शृंगारिक जीवन का वर्णन कालिदास ने "कुमारसम्भवम्" में अत्यन्त सुन्दरता से किया है। उसी शब्दात्मक वर्णन का चित्रात्मक वर्णन हमें पहाड़ी चित्रकला में देखने को मिलता है। शिव से सम्बन्धित चित्रों को विशिष्टताओं के आधार पर दो भागों में बाँटा जा सकता है :- पहले वे चित्र जिनमें शिव सौम्य रूप में चित्रित है एवं दूसरे वे जिनमें उन्हें उग्र रूप में चित्रित किया गया है।

किन्तु पहाड़ी कलम की विभिन्न शैलियों में—कांगड़ा, गुलेर, गढ़वाल, बसौहली, चम्बा, मण्डी, नूरपुर—शिव के सम्बन्धित विभिन्न कथानकों का, नृत्यकार शिव, श्मशानचारी शिव, संगीतकार रागमाला में वर्णित शिव विभिन्न धार्मिक रीतियों को मिलाने वाले, पारिवारिक सदस्यों के साथ एवं शिव-पार्वती के अनेक श्रृंगारपूर्ण चित्रों को चित्रकारों ने चित्रित किया है।

पहाड़ी लघु चित्रशैलियों में शिव को सर्वाधिक उन रूपों में चित्रित किया है जिनमें वे अपने परिवार—पत्नी पार्वती, दो पुत्रों गणेश व कार्तिकेय के साथ हैं। कुछ चित्रों मं सभी सदस्यों को अपने अपने वाहनो क्रमशः नंदी, सिंह, चूहा एवं मोर के साथ भी चित्रित किया गया है। शिव को पारिवारिक सदस्यों के रूप में भी दो प्रकार से चित्रित किया है—एक तो सामान्य सदस्य के रूप में

व दूसरा माहेश्वर, सदाशिव के रूप में।

18वीं शताब्दी के अंत में कांगड़ा के एक चित्र में शिव परिवार को कैलाश पर्वत पर घूमते हुए दर्शाया गया है। प्रस्तुत चित्र अब भारत कला भवन वाराणसी में है। गणेश शिव के वाहन नंदी पर सवार हैं। बराबर में गणेश का वाहन चूहा चल रहा है एवं पीछे सिंह, पार्वती का वाहन आ रहा है। शिव एक हाथ में पार्वती का हाथ पकड़कर उन्हें पहाड़ी के नीचे उतार रहे हैं व दूसरे हाथ में व्याघ्रचर्म लिये हुए हैं। शिव ने कंधे पर पोटली लटकायी हुयी है। शिव को कर्ण-कुण्डल, सर्पाहार, तृतीय नेत्र व भुंजबंद से सुशोभित चित्रित किया गया है। पार्वती ने गोद में कार्तिकेय को लिया हुआ है व उसका सिर पूर्ण रूप से ओढ़नी से ढका हुआ है।

प्रस्तुत चित्र में एक नवीन परिवर्तन दिखलायी देता है वह है वानर का चित्रण। वानर को पोटली एवं मृदंग लटकाये चित्रित किया गया है। प्राकृतिक सौन्दर्य अत्यन्त सुन्दर है जो चित्रकार की कार्यकुशलता को प्रकट करता है। इसी प्रकार का अन्य चित्र गढ़वाल शैली में मिलता है।

पारिवारिक यात्रा का अन्य चित्र नूरपुर का है जो अंब जम्मू की डोगरा आर्ट गैलरी में है। पार्वती को नंदी पर दोनों ओर पैर किये एवं बायें हाथ में गणेश को पकड़े चित्रित किया गया है।

चित्र में आगे चलते शिव, बायें हाथ में कार्तिकेय को लिये पीछे मुड़कर देख रहे हैं। शिव के दायें हाथ में त्रिशूल, जिस पर वृषभ-चिन्ह से अंकित तिकोना कपड़ा बंधा है। पारिवारिक यात्रा का यह अत्यन्त सुंदर चित्र है।

पहाड़ी चित्रकारों ने शिव को उनके 'महेश्वर' रूप में भी परिवार के साथ चित्रित किया है। 18वीं शताब्दी के अंत के कागड़ा-गुलेर शैली के एक चित्र में महेश्वर को परिवार के साथ पहाड़ियों के ऊपर बैठा दर्शाया गया है। पंचमुखी महेश्वर को चार हाथों में विभिन्न उपादान लिये परिवार समेत व्याघ्रचर्म रूपी चादर पर पहाड़ियों के बीच बैठा चित्रित किया गया है। महेश्वर के बायीं ओर पार्वती व दायीं ओर कार्तिकेय बैठे हैं। कार्तिकेय के बराबर में

गणेश बैठे हैं। अग्रभूमि में नंदी, सिंह, नंदी के ऊपर मोर व पीछे चूहा चित्रित है। सभी के मध्य में अग्नि प्रज्ज्वलित है।

गुलेर—कांगड़ा के अन्य चित्र में महेश्वर को परिवार के साथ पहाड़ियों में व्याघ्र-चर्म पर बैठा दिखाया गया है।

साहित्यिक एवं पौराणिक वर्णनों में शिव के पश्चात पार्वती का नाम होता है। पार्वती का नाम 'पर्वत' से लिया गया है। उन्हें अनेक नामों से पुकारा जाता है जो उन्हें शिव की प्राप्ति हेतु कठिन तपस्या करने हेतु दिये गये थे—"उमा", "गौरी" और "अपारा"। पार्वती स्वयं में इतनी शक्तिशाली हैं कि वे सभी ओर से शिव को ढके रहती हैं। भक्तों के लिए वे समस्त संसारी और सर्वातिरिक्त शक्तियों को बढ़ाने वाली है व इसी कारण उन्हें "राजेश्वरी" के नाम से पुकारा जाता है।

पर्वताराज की पुत्री होने के कारण उन्हें "गिरिजा" और "हेमवती" के नाम से भी जाना जाता है। गणपति व स्कंद की देखभाल करने के कारण उन्हें "अम्बा" और "अम्बिका" के नाम से पुकारा जाता है। "नारायणी" और "वैष्णवी" भी उनके प्रसिद्ध नाम है। शिव की पत्नी के रूप में वे "विमर्शिनी" हैं। शिव की इच्छाओं की पूर्ति करने हेतु वे "अन्नपूर्णा" हैं। "मीनाक्षी" और "गौरी" के रूप में वे स्वयं को शिव भक्ति में समर्पित कर देती हैं।

कालिदास ने "कुमार सम्भवम्" में पार्वती के चरित्र को गंगाजल से भी अधिक पवित्र माना है—

विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभि
स्तथा न गांडैगृः सलिलैदिवश्च्युतैः।
तथा त्वदीयैश्चरितैरनाबिलै
महीधरः पावित एष सान्वयः।।

(कालिदास, कुमारसम्भवम्—5/37)

पार्वती के चरित्र में उपस्थित उदात्त एवं उत्कृष्ट गुण पार्वती को साधारण मानव की कोटि से उठाकर देवता की श्रेणी में बिठा देते है।

शिव-पार्वती के पुत्र एवं हस्त-मुखी देवता 'गणेश' का जन्म अनेक प्रकार से माना जाता है। कुछ ग्रन्थ उनका जन्म पूर्णरूप से पार्वती से मानते है तो कुछ शिव से जन्मित मानते है। लिंग पुराण के अनुसार देवताओं के ध्यान में विघ्न डालने वाले राक्षसों के नाश हेतु शिव ने विघ्नेश्वर का निर्माण किया। वराह पुराण के अनुसार देवताओं की सहायता हेतु शिव के शरीर से पसीने की बूंदो से विनायक का जन्म होता है।

शिव पुराण में रूद्रसंहिता के अनुसार गणेश का जन्म पार्वती के शरीर के मैल से हुआ था। पद्मपुराण, स्कंदपुराण, मत्स्यपुराण में भी गणेश को पार्वती के मैल से उत्पन्न हुआ बतलाया गया है।

शिव-पार्वती से गणेश का जन्म मानने वालों के मतानुसार एक बार शिव-पार्वती जंगल में घूमते हुये हस्त युग्ल को संयोगावस्था में देखते हैं एवं स्वयं को उसी रूप में सोचकर एक दूसरे के संयोग का आनन्द लेने लगते है। फलस्वरूप जो बालक जन्म लेता है वह हस्तमुखी होता है।

बौद्ध मतानुसार हस्त-मुखी गणेश का जन्म राजा विक्रमाजीत की रक्षा करने हेतु हुआ था। बौद्ध धर्म के विचार हिन्दू धर्म से भिन्न हैं। नेपाली बौद्ध न तो पार्वती से और न ही शिव से गणेश का जन्म मानते हैं। उनके मतानुसार वे स्वयं संसार में अवतरित हुये एवं सूर्य की किरणों के समान चमके। इसी कारण वे सूर्यविनायक के नाम से पुकारे जाते हैं।

पहाड़ी चित्रकारों ने अधिकांशतः गणेश को हस्त-मुखी एवं उनकी बाल्यावस्था में परिवार के साथ चित्रित किया है। कहीं-कहीं चित्रकारों ने उन्हें उनकी पत्नियों रिद्धी, सिद्धी के साथ भी चित्रित किया है किन्तु अधिकांशतः उनको परिवार के साथ अनेक कार्यों में व्यस्त दर्शाया गया है।

शिव-पार्वती के दूसरे पुत्र कार्तिकेय, स्कंद का जन्म पूर्ण रूप से शिव द्वारा माना जाता है। तारकासुर के अत्याचारों से देवताओं को बचाने हेतु शिव, कार्तिकेय को उत्पन्न करते हैं। इस अद्वितीय बालक की रोशनी से सभी देवतागण श्रद्धायुक्त एवं भय से भयभीत होते हैं एवं इसी कारण इस बालक

को स्कंद-प्रबल प्रवाह, महासेना-महाननेता, पावकी-अग्नी का पुत्र, गंगैय-गंगा का पुत्र, कुमार-बालक, सरभु-बीच में पैदा हुआ व कार्तिकेय-कृतिका का पुत्र आदि नामों से पुकारा गया।

कार्तिकेय को अकेले पहाड़ी चित्रकारों ने सम्भवतः चित्रित नहीं किया। मात्र एक चिंत्र में उनको माता-पिता के साथ दर्शाया गया है।

गणेश, कार्तिकेय के अतिरिक्त शिव पार्वती का एक अन्य पुत्र माना जाता है—अन्धका। इनके जन्म के विषय में कहा जाता है कि एक बार पार्वती खेल-खेल में शिव की आँखें ढक देती हैं। उनके हाथों में पसीना आने लगता है। शिव के नेत्रों की गर्मी और पार्वती के पसीने से एक दुर्बल एवं क्षीण बालक का जन्म होता है। शिव राक्षसों के राजा हिरण्याक्ष की भक्ति से प्रसन्न होकर अपना पुत्र उन्हें दे देते हैं। अंधका पार्वती के सौन्दर्य पर मोहित होकर उन्हें पाने हेतु कैलाश पर्वत पर पहुंचता है। तब शिव उन्हें अपन त्रिशूल से घेर लेते हैं एवं अंधका अपनी दिव्य दृष्टि खो देता है।

पहाड़ी चित्रकारों ने शिव को अंधका के ऊपर आक्रमण करते हुए एक चित्र में चित्रित किया है।

इस प्रकार पहाड़ी चित्रकारों ने शिव परिवार के पारिवारिक सदस्यों को अलग-अलग एवं साथ-साथ विभिन्न प्रकार से चित्रित किया है। शिव परिवार को पहाड़ियों के मध्य बैठे हुए विभिनन क्रिया कलापों में व्यस्त दर्शाया गया है। कहीं पार्वती, गणेश एवं कार्तिकेय शिव को उनके प्रिय मादक पेय भांग बनाने में मदद कर रहे है तो कहीं नरमुण्डों की माला बनाने में या रजाई बनाने में गणेश, कार्तिकेय अपने माता-पिता की सहायता कर रहे हैं। कहीं सभी सदस्यों को अपने-अपने वाहनों पर सवार होकर विचरण करते दर्शाया गया है तो कहीं गणेश, पार्वती, कार्तिकेय व शिव के अन्य गण शिव का नृत्य देखने में व्यस्त हैं। किसी चित्र में शिव परिवार को वृक्ष के नीचे व्याघ्र-चर्म पर आरामदायक मुद्रा में चित्रित किया गया है तो किसी में शिव-परिवार को ठण्ड से बचने हेतु हस्तचर्म में लिपटा हुआ दर्शाया गया है।

चित्रों में शिवाकृति को सामान्य पुरुष के रूप में ही अधिकाशतः दो हाथों व एक मुख में चित्रित किया गया है। चित्रकारों ने उनको व्याघ्र-चर्म की धोती, कर्ण-कुण्डल, तृतीय नेत्र, जटा जूट बालों, भुजबंद, सर्पाहार, अर्द्धचंद्रकला से सुसज्जित दर्शाया है। शिव के साथ उनके वाहन नंदी का चित्रण अधिकांशतः मिलता है। शिव को उनके त्रिशूल एवं उस पर वृषभ के चिन्ह से चिन्हित तिकोने कपड़े के साथ चित्रित किया गया है। पार्वती को लंहगा, चोली, ओढ़नी व आभूषणों से सुसज्जित दर्शाया गया है। उनका सिर अधिकांशतः ओढ़नी से ढका रहता है। पार्वती प्रत्येक क्रियाकलाप में शिव की मदद कर रही है अन्य विवाहित युगलों के समान वे लड़ते-झगड़ते है, चौपड़ खेलते है और खेलते-खेलते झगड़ा करने लगते है। उनके पुत्र गणेश व कार्तिकेय को माता-पिता के साथ कार्यो में हाथ बंटाते दर्शाया गया है। गणेश को प्रत्येक चित्र में हस्त-मुखी व कार्तिकेय को पंचमुखी चित्रित किया गया है। कहीं-2 भक्तजनों को शिव-परिवार के प्रति अपनी भक्ति-भावना को प्रकट करते हुए दर्शाया गया है।

18वीं शताब्दीं के मध्यकाल की शैली का चम्बा का एक चित्र अब भूरी सिंह म्यूजियम, चम्बा में है। प्रस्तुत चित्र में शिव-परिवार को खुले मैदान में वृक्ष के नीचे व्याघ्र-चर्म रूपी चादर पर बैठा चित्रित किया गया है। शिव के सामने चम्बा के राजा हाथ जोड़े भक्ति-भावना प्रकट करते हुए चित्रित है। पृष्ठभूमि में वृक्ष के अतिरिक्त सम्पूर्ण समतल है।

शिव-परिवार को भांग तैयार करते हुए पहाड़ी चित्रकारों ने सर्वाधिक चित्रित किया है। इसी विषय पर 1810 ई. में कागड़ा में अत्यन्त सुन्दर चित्र चित्रित किया गया। शिव-पार्वती हस्त-चर्म पर बैठे भांग छान रहे हैं। शिव का चेहरा सौम्यता से पूर्ण है। शिव को सर्पाभूषण, कर्ण-कुण्डल, तृतीय नेत्र, अर्द्धचंद्रकला से सुशोभित देखा जा सकता है। शिव को कंधे पर खुले बिखरे बालों एवं व्याघ्र-चर्म का चित्रण अत्यन्त सुंदरता के साथ किया गया है। नीचे मैदान में गणेश कुछ पीस रहे हैं एवं कार्तिकेय प्याले में कुछ डाल रहे हैं। कार्तिकेय को चारों हाथों में विभिन्न उपादान लिये हुए अंकित किया गया है।

पास ही लकड़ियाँ जलती हुई चित्रित है। अग्रभूमि में नंदी, सिंह एवं चूहे को आरामदायक मुद्रा में दर्शाया गया है। पृष्ठभूमि में वृक्ष पर मोर चित्रित है।

शिव एवं शिव-परिवार से सम्बन्धित पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न शैलियों में विभिन्न विषयों पर विभिन्न चित्रों को अलग-2 तकनीकी कुशलता एवं सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया गया है।

लगभग 1800-05 ई. का एक चित्र कांगड़ा के राजा संसारचंद की कार्यशाला का परिणाम प्रतीत होता है। शिव-पार्वती व्याघ्रचर्म पर बैठे है। पार्वती एक और शिव की भांग छानने में मदद कर रही हैं तो दूसरी ओर मुढ़कर गोद में बैठे गणेश को घूर रही हैं चूहा, मोर, नंदी एवं सिंह पूर्ण आरामदायक मुद्रा में अंकित हैं। पार्वती सिर तक ओढ़नी एवं आभूषणों से युक्त दर्शाया गया है और शिव को व्याघ्र-चर्म ओढे हुए, सर्पाहार, तीसरे नेत्र, भुजबंद, रुद्राक्षमाला एवं अर्द्धचंद्रकला से सुशोभित चित्रित किया गया है।

पहाड़ी चित्रकला की लघु शैली में धार्मिक विषय भक्ति-भावना के साथ कोमल घरेलू विचारों की तकनीक को शुद्धता से जोड़ते हैं।

गुलरे के एक चित्र में शिव को कपड़ा सिलते एवं पार्वती को नरमुण्डों का हार बनाते चित्रित किया गया है। उनका पुत्र कार्तिकेय माता की हार बनाने में मदद कर रंहा है एवं गणेश पिता के सर्पाहार के साथ खेल रहा है। वाहन नंदी, सिंह, मोर व चूहे को आरामदायक मुद्रा में चित्रित किया गया है।

उपर्युक्त चित्रों के अतिरिक्त पहाड़ी चित्रकारों ने शिव एवं शिव-परिवार विषय पर इतने अधिक चित्रों का निर्माण किया कि उनकी गिनती करना कठिन है। ये चित्र पहाड़ी चित्रकारों द्वारा इतने अधिक उपस्थित थे कि उन्हें पहाड़ी राज्यों की बड़ी-2 इमारतों में देखा जा सकता है। इन चित्रों की रचना चित्रकार भावनात्मक प्रवृत्तियों के कारण करते हैं न कि श्रद्धायुक्त भय के कारण। इन चित्रों के कारण ही हमें शिव-परिवार के विषय में, उनके विभिन्न क्रिया कलापों के विषय में, उनके रंग, रूप, आकार, वस्त्राभूषण, वाद्ययन्त्रों आदि के विषय में ज्ञान मिलता है। यद्यपि इन सभी का शब्दात्मक वर्णन हमें

विभिन्न पुराणों, साहित्यों में मिलता है किन्तु उन्हें सभी नहीं समझ सकते। हमारे देश में बहुत से अनपढ़ व्यक्ति हैं जो इन पुराणों का अध्ययन करने में असमर्थ हैं किन्तु चित्रों के माध्यम से वे शिव-परिवार के विषय में, उनके कार्यो के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि चित्रों को समझने हेतु भावों की आवश्यकता होती है भाषा की नहीं। चित्रों की भाषा को हम किसी सीमा में नहीं बांध सकते।

अतः शिव एवं शिव-परिवार के विषय में जानकारी प्राप्त करने हेतु इन चित्रों का अध्ययन आवश्यक है।

—चित्रकला विभाग
दि. जैन कॉलेज, बड़ौत

पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से ज्ञान-ध्यान को सार्थक बनावें

—डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में मोक्ष मार्ग की प्ररूपणा निम्न सूत्र में की—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः (1/1)

अर्थ – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है।

श्री भगवत्-पुष्पदन्त-भूतबलि-प्रणीत षट्खण्डागम की वीरसेनाचार्य विरचित धवला टीका-सत्परूपणा-1 की निम्न गाथा में सम्यग्दर्शन एवं पदार्थो के ज्ञान का महत्व दर्शाया है—

छपांच-णव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोव इट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण व सद्दहणं होइ सम्मत्तं।। 212।।

(धवला पुस्तक-9, पृष्ठ 397 : 1-1-114)

अर्थ—जिनेन्द्र देव के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं।

यह व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप है जो निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण या निमित्त है।

उक्त कथनों में मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता और सम्यग्दर्शन हेतु पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान-अवबोध का महत्व निर्विवाद रूप से स्पष्ट झलकता है।

भावविहीन क्रिया की निरर्थकता – आचार्य कुन्दकुन्द देव ने दर्शन पाहुड में

दंसण मूलो धम्मो—अर्थात् धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है और दर्शन हीन व्यक्ति अवंदनीय है, ऐसा कहा है (गा.2)। उनके अनुसार जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट ही हैं उन्हें निर्वाण नहीं होता। चारित्र से भ्रष्ट को पुनः चारित्र धारण करने पर सिद्धि मिल सकती है पर दर्शन हीन को नहीं (गा. 3)। दर्शन रहित व्यक्ति उग्र तपश्चर्या के बाद भी बोधि अर्थात् रत्नत्रय को प्राप्त नहीं होता भले वह एक हजार कोटि वर्ष तक तप क्यों न करे (गा. 5)।

सम्यक्त्व से चारित्र होता है। चारित्र से मुक्ति होती है। सम्यक्त्व के अभाव में चारित्र भी मिथ्याचारित्र कहलाता है। (गा. 31/15। जिसके हृदय में सम्यक्त्व रूपी निर्मल जल प्रवाहित होता है उसे कर्मरज आवृत नहीं करती तथा पूर्वबद्ध कर्मो की भी निर्जरा होती है (गा. 7)।

आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र/धर्म का स्वरूप प्रवचनसार की गाथा 7 में निम्न रूप से दर्शाया है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।

अर्थ—चारित्र वास्तव में धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है ऐसा शास्त्रों में कहा है। साम्य मोह-क्षोभ रहित ऐसा आत्मा का परिणाम (भाव) है।

मोह-क्षोभ रहित आत्मा के वीतरागी-शुद्ध परिणामों की प्राप्ति हेतु मोह क्षयार्थ आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा कि जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है। इस सम्भावना में प्रवचनसार की निम्न गाथा द्रष्टव्य है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। (प्र. सा. 80)

प्रवचनसार की गाथा-86 में आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रकारान्तर से मोह क्षय हेतु कहा कि 'जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के

नियम से मोहोपचय-मोह का समूहक्षय हो जाता है इसलिए शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिये।

आचार्य देव के अनुसार, शुद्धनय से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है जिसमें साधक 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं, मैं एक ज्ञान हूं' इस प्रकार ध्रुव आत्मा का ध्यान करता है। वह ध्याता ध्यान काल में (एकाग्रचिंता निरोध के समय) वास्तव में शुद्धात्मा होता है (गा. 191)। परम आत्मा का ध्यान करने वाले विशुद्धात्मा साधक की मोहग्रंथि का क्षय हो जाता है, भले ही वह साकार *हो या निराकार (गाथा 194)। मोहग्रंथि के क्षय के पश्चात् राग-द्वेष का क्षय* कर समत्व भाव से श्रमण अक्षय सांख्या को पाता है। (गा. 195)। इस कथन से मोक्षमार्ग को सोपानों का भी ज्ञान होता है।

भाव-विहीन अर्थात् सम्यग्दर्शन रहित धर्म-कर्म की बाह्य क्रियाएँ जप-तप निरर्थक होते हैं इस सम्बन्ध में भाव पाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि 'भाव रहित साधु यदि जन्म-जन्मातरों तक कायोत्सर्ग मुद्रा में वस्त्रादिक का त्याग कर, करोड़ों वर्षो तक तपस्या करे तब भी उसे सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती (गा. 4)।

पदार्थो के यथार्थ बोध रूप ज्ञान की महिमा दर्शाने वाले छहढालाकार पं. दौलतराम जी के निम्न पद भी दृष्टव्य हैं–

ज्ञान समान न आन, जगत में सुख को कारण।
इहि परमामृत जन्म-जरा-मृतुरोग निवारण।।
कोटि जन्म तप तपें, ज्ञान बिन कर्म झरे जे।
ज्ञानी के छिन माहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।।
मुनिव्रत धार अनंतबार, ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।।
जे पूरब-शिव गये जाहिं, अरु आगे जै हैं।
सो सब महिमा ज्ञान-तनी, मुनिनाथ कहै हैं।।

(छहढाला-चौथी ढाल)

सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। 'तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' (तत्त्वार्थ सूत्र 1/2)। 'तत्त्वेन अर्थ : तत्त्वार्थः'–तत्त्व अर्थात वस्तु के यथार्थ भाव-स्वरूप सहित अर्थ–जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। नियमसार में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश यह तत्त्वार्थ कहे हैं, जो विविध गुण पर्याय युक्त हैं (गा. 9)। आत्मा के संदर्भ में शुद्धात्मा का जैसा स्वरूप है उसको उसी रूप जानना, समझना और अनुभव् करना सम्यग्दर्शन है। आत्मानुभव युक्त ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान नाम पाता है।

'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' (तत्त्वार्थ सूत्र 1/3)। सम्यग्दर्शन निसर्ग अर्थात स्वभाव से अथवा अधिगम-पर के उपदेश से उत्पन्न होता है। इसे ही देशनालब्धि कहते हैं। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार अधिगम का अर्थ पदार्थ का ज्ञान है, जो नय-प्रमाण द्वारा होता है। अधिगमोऽर्थाववोधः (स. सि. 1/3/12) एवं प्रमाणनयैरधिगमः (तत्त्वार्थ सूत्र 1/6)।

धवलाकार के अनुसार अधिगम और ज्ञान प्रमाण ये दोनों एकार्थवाची हैं–'अधिगमो णाणपमाणमिदि एगट्ठो' (धवला-3/1-2-5/39/1)। अधिगम के दो भेद हैं– स्वार्थाधिगम जो ज्ञानात्मक है और परार्थाधिगम जो वचनात्मक है।

यह भी उल्लेखनीय है कि सभी जीवात्माएँ द्रव्य दृष्टि से सिद्ध समान शुद्ध, स्वतंत्र, स्वाधीन और परिपूर्ण हैं। द्रव्य-तत्त्व-पदार्थों के ममत्व तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि एवं तदनुसार आचरण के कारण अष्ट कर्म के बंधनों से आबद्ध हैं और कर्मोदय के अनुसार अनादिकाल से चार गति और चौरासी लाख योनियों के दुख उठा रहीं हैं। अज्ञान जन्य विभाव परिणति के कारण वे द्रव्यकर्म, भावकम और नौकर्मो से अपने को बंधी हुई मानती हैं और कर्म प्रकृति के उदय अनुसार नर-नरकादि पर्याय से अपने को एकाकार मानती हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख रूप आत्म-शक्ति के अंशों में हानि-वृद्धि रूप पर्याय भेद मानती हैं। अखंड आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणों को भेद रूप मानतीं है तथा कर्मोदय से आत्मा में उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि मनोविंकारों से अपने को

सुखी-दु:खी मानती हैं। जबकि यथार्थ में आत्मा कर्मो से अबद्ध-अस्पृष्ट, पयार्यो से द्रव्य, चलाचलता रहित, विशेष रहित और क्रोधादि भाव कर्मो से असंयुक्त पृथक हैं। इस प्रकार संसार दु:ख का मूल पदार्थो का अयथार्थ ज्ञान एवं उससे उत्पन्न आत्म विस्मृति है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संसार में दु:ख का मूल जीवादि पदार्थों के प्रति अज्ञान-अश्रद्धान है तथा मोक्ष और मोक्ष मार्ग का आधार पदार्थो-द्रव्यों-तत्त्वों का ज्ञान एवं भाव बोध है। इससे ही विद्यमान त्रिदोषमय पर-समय की प्रवृत्ति से आत्मीक, अविनाशी, अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति शक्य है और उसी सें कर्मों के संवर तथा निर्जरा के हेतु ज्ञान-ध्यान की परिणति फलीभूत होगी। इस परिप्रेक्षय में द्रव्य, अस्तिकाय, तत्त्व और पदार्थों का यर्थाथ स्वरूप समझना अपेक्षित है। सम्पूर्ण जैनागम में इनका विशद, सूक्ष्मग्राही वर्णन अनेकांत स्वरूप में अति वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तर्क-युक्ति पूर्वक किया गया है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के निष्कर्ष इनके स्वरूप की पुष्टि करते हैं। इस दृष्टि से जैन-दर्शन का पदार्थ-विज्ञान विश्व की अमूल्य धरोहर है।

द्रव्य, तत्त्व और पदार्थों का स्वरूप एवं महत्त्व :

श्री माघनन्दि योगीन्द्र ने **'शास्त्रसार समुच्चय'** शास्त्र के द्रव्यानुयोगवेद में निम्न चार सूत्रों का उल्लेख किया है–

1. षड् द्रव्याणि, 2. पञ्चास्तिकाया:, 3. सप्त तत्त्वानि, 4. नव पदार्था:

इन सूत्रों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

षड् द्रव्याणि :- यह लोक द्रव्यों का समूह है। जो मूल पदार्थ अपनी क्रम नियमिति पर्याय को प्राप्त हो वह द्रव्य है। द्रव्य-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त होता है। द्रव्य छ: हैं–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव द्रव्य चेतन है शेष पांच द्रव्य अचेतन हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है, शेष पांच द्रव्य अरूपी हैं। दृश्यमान जगत में रूपी पुद्गल ही अनुभव में आ रहा है। पुद्गल में रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श गुण पाये जाते हैं। द्रव्य कर्म और

नोकर्म जीव के साथ अनादि से लगे हैं, वे सब पुद्गल रूप हैं। जीव द्रव्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र सुख और वीर्य जैसे अनंत अनुपम गुणों से युक्त है। अरूपी होते हुए भी सुख-दुःख, ज्ञान-दर्शन आदि का अनुभव जीव ही करता है। जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का परिणमन स्वभाव और विभाव रूप होता है। शेष चार द्रव्यों का परिणमन स्वभाव रूप ही होता है। धर्म द्रव्य गति हेतुत्व, अधर्म द्रव्य स्थिति हेतुत्व, आकाश द्रव्य अवगाहन हेतुत्व और काल द्रव्य परिणमन हेतुत्व स्वभाव वाले हैं।

छहों द्रव्य अनादि-अनंत हैं, स्वतंत्र, स्वाधीन और स्वयंभू हैं, नित्य हैं। स्वयं उपदान शक्ति अनुसार निरंतर परिणमन करते हैं। इन द्रव्यों के मध्य कर्ता-कर्म सम्बन्ध न होकर मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। षटप्रकार की क्रिया के कारण कर्ता-कर्म एक ही द्रव्य में घटित होते हैं, इसका आधार है भाव्य-भावक भाव की विद्यमानता जैसे—मिट्टी और घड़ा। भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण कोई किसी का भोक्ता भी नहीं है। चेतन और जड़ जगत के मध्य ज्ञायक-ज्ञेय सम्बन्ध हैं। सभी द्रव्यों में परस्पर एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध है। स्वयं परिणमनशील द्रव्यों का समूह लोक होने के कारण इस लोक का कोई कर्ता-हर्ता, रक्षक-विनाशक नहीं है।

आचार्य उमास्वाति एवं अन्य आचार्यों ने द्रव्य का लक्षण 'सत् द्रव्यलक्षणम्' (सूत्र 5/29), 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (सूत्र 5/30) एवं 'गुण पर्ययवद् द्रव्यम्' (सूत्र 5/38) कहा है। जो सत्ता रूप है वह द्रव्य है। सत्ता स्वभावतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त होती है। यही सत् का लक्षण है। ब्रह्मा, महेश और विष्णु सत् के प्रतीक रूप हैं। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिणमन करता है। अपने मौलिक तत्व अर्थात् द्रव्यत्वं को स्थिर (ध्रौव्य) रखकर पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होना, द्रव्य की नियति है। पुद्गल द्रव्य के रूपांतरण हमारी दृष्टि में आते हैं और पुद्गल द्रव्य के माध्यम से जीव द्रव्य के परिणमन अनुभव में आते हैं। शेष द्रव्यों का परिणमन आगम प्रमाण है। इस प्रकार द्रव्य स्वभाव नित्यानित्य है। द्रव्य रूप से नित्य, पर्यायरूप से अनित्य।

जैन दर्शन की लोक व्यवस्था का मूल मंत्र है, कि किसी भाव अर्थात् सत् का अत्यन्त नाश नहीं होता और किसी अभाव या असत् की उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय रूप से उत्पाद व्यय करते रहते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न गाथा दृष्टव्य है–

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुण पज्जएसु भावा उप्पायवयं पकुव्वंति

(–पंचा. गाथा 15, जैन दर्शन-पृष्ठ 68)

सत्ता, सत्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये नौ सामान्य रूप से अर्थ के ही वाचक हैं।

द्रव्य को गुण और पर्याय वाला कहा गया है। 'अन्वयिनो गुणाः' अर्थात् गुण अन्वयी होते हैं और द्रव्य के साथ सदैव रहते हैं। 'व्यतिरेकिणः पर्यायाः' अर्थात् पर्याय व्यतिरेकी या क्षणक्षयी होतीं हैं। प्रत्येक द्रव्य में सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायें होतीं हैं। गुण द्रव्य की शक्तियाँ हैं। 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' (तत्त्वार्थ सूत्र 5/41)! जो द्रव्य के आश्रय से रहता हुआ भी दूसरे गुण से रहित होता है, उसे गुण कहते हैं। द्रव्य और गुण के मध्य आधार-आधेय सम्बन्ध होता है। गुण दो प्रकार के होते है–सामान्य और विशेष! अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व और अगुरुलघु ये सामान्य गुण हैं तथा चेतनत्व, रूपादित्व आदि विशेष गुण हैं। द्रव्य के गुणों में परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से, जहाँ एक गुण है वहाँ उस द्रव्य के अन्य गुण भी रहते हैं। इसी प्रकार द्रव्य और गुणों के मध्य नित्य तादात्म्य सम्बन्ध होता है। इस कारण द्रव्य से गुण कभी भिन्न नहीं होते। द्रव्य के सभी गुण स्वतंत्र होते हैं। एक गुण दूसरे गुण में हस्तक्षेप नहीं करता।

द्रव्य की परिणति या कार्य को पर्याय कहते हैं। द्रव्य के गुणों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। इस अवस्था परिवर्तन को ही पर्याय कहते हैं। क्षण-क्षयी पर्यायें तत्काल की योग्यता से होतीं हैं। पर्यायें भी सत् हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय कहकर सत्ता

गुण का विस्तार किया है (गा. 107)। पर्याय दो प्रकार की होती हैं–व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्याय। आकारवान प्रदेशत्व गुण की अपेक्षा द्रव्य की जो परिणति होती है उसे व्यंजन पर्याय कहते हैं। अन्य गुणों की अपेक्षा षड्गुणी हानि-वृद्धि रूप परिणति अर्थ पर्याय है। स्वभाव और विभाव पर्याय रूप से यह दोनों दो-दो प्रकार की होती हैं। स्व निमित्तिक स्वभाव और परनिमित्तिक विभाव पर्याय होती है। जीव और पुद्‌गल की जो परनिमित्त पर्याय है वह विभाव पर्याय कहलाती है। परनिमित्त दूर होने पर स्वभाव पर्याय होगी। द्रव्य पर्याय से अभिन्न है। इस कारण द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ को सामान्य विशेषात्मक कहा जाता है।

पञ्चास्तिकायाः – अस्तिकाय पांच हैं। जीवादि छः द्रव्यों को प्रदेशों के आधार पर दो भागों में वर्गीकृत किया है–अस्तिकाय और अनस्तिकाय। बहु प्रदेशी द्रव्यों को अस्तिकाय कहते है। वे पांच है–जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म और आकाश अस्तित्व में नियत, अस्तित्व से अनन्यभय और अणुमहान (प्रदेश में बड़े) होने से अस्तिकाय हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी होने के कारण अनस्तिकाय है। अस्ति का अर्थ है सत् और काय का अर्थ 'शरीर' होता है। काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों के विविध गुणों और पर्यायों के साथ अपनत्व है अतः वे अस्तिकाय हैं (पंचास्तिकाय संग्रह गा. 4-5)।

जीव द्रव्य अनंत हैं। पुद्‌गल द्रव्य अनंतानंत हैं, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य एक-एक है। काल द्रव्य असंख्यात लोक प्रमाण है। इनमें जीव द्रव्य, धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है, किन्तु लोकाकाश वाला भाग धर्मास्तिकाय के बराबर असंख्यात प्रदेशी है। पुद्‌गल अणुरूप एक प्रदेशी होकर शक्ति अपेक्षा स्कन्धरूप अनेक प्रदेशी हो जाने के कारण संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशी भी होते हैं।

जीव द्रव्य और पुद्‌गल द्रव्य में स्वभाव (शुद्ध) और विभाव (अशुद्ध) रूप परिणमन की क्रियावती शक्ति है। यह इन दो द्रव्यों के मध्य निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों का सूचक है। शेष चार द्रव्य निष्क्रिय-स्थिर हैं। उनका परिणमन निरंतर शुद्ध ही होता है। जीव एक बार शुद्ध होने के बाद फिर कभी अशुद्ध

नहीं होता।

षड् द्रव्यों की अनंत स्वतंत्रता की उद्घोषणा जिनेन्द्र देव के मत में ही सम्मत है। द्रव्य गुण और पर्यायों की कथंचित स्वतंत्रता की स्वीकृति एवं तदनुसार अरहंत भगवान समान अपने स्वरूप की श्रद्धा-अनुभव से मोक्ष मार्ग प्रगट हो जाता है। इससे हृदय में समता भाव की किरणें फूट पडतीं हैं और सभी जीव-अजीव के प्रति वात्सल्यमयी भावना उद्भूत होती हैं जो धार्मिकता, जीवदया और करुणा का स्रोत है। सत् स्वरूप की स्वीकृति-प्रतिष्ठा सत्यधर्म के सौन्दर्य का बोध कराता है। इससे ही मैत्री, प्रमोद, करूणा और माध्यस्थ भाव उद्भूत होता है। सत् शब्द के भावबोध से ही जीवन का रूपांतरण विभाव से स्वभाव की ओर शक्य है। जिनोपादिष्ट छः द्रव्यों के कथन का उद्देश्य निज द्रव्य को जानना है। (नयचक्र 284)

सप्त तत्वानि – तत्व सात हैं। **जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्** (सूत्र 1/4)। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। सात तत्वों में जीव और अजीव स्वतंत्र द्रव्यरूप धर्मी हैं। इनमें छः द्रव्य समाहित हैं। शेष पांच तत्व अर्थात आस्रव बंध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये जीव-अजीव के विभाव-स्वभाव पर्याय रूप धर्म हैं।

तत्व भाव परक संज्ञा है। प्रयोजनभूत अर्थात् शुद्धात्मा के भाव को तत्व कहते हैं। 'तद् भावस्तत्वम्'–आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्व है। भट्टाकलंक देव के अनुसार 'स्व तत्त्वं स्वतत्त्वं, स्वभावोऽसाधारणो धर्मः'–अपना तत्त्व स्व तत्व होता है, स्वभाव असाधारण धर्म को कहते हैं अर्थात वस्तु के असाधारण रूप स्व तत्त्व को तत्व कहते हैं। तत्व शब्द 'तत्' और 'त्व' के योग से बना है। तत् = 'तह' और त्व = भाव या पना। वस्तु का भाव ही तत्व है जैसे–जल का शीलत्व, अग्नि का अग्नित्व, आत्मा का ज्ञायकत्व ओर पुद्गल का रूपत्व। श्रुत ज्ञान एवं अविपरीत अर्थ के विषय को भी तत्त्व कहा है। आत्म तत्त्व अर्थात् आत्मा का स्वरूप। परमार्थ, तत्व, द्रव्य स्वभाव, परम, परमपरम, ध्येय और शुद्ध ये सब एकार्थवाची हैं।

सात तत्वों में प्रयोजनभूत तत्व शुद्धात्मा रूप जीव तत्व ही है जो उपादेय, भजनीय और भाव करने योग्य है। जीव ही उत्तमगुणों का धाम है, सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य है और सब तत्वों में परम तत्व है, ऐसा निश्चय पूर्वक जानना चाहिये (कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. 204)। निश्च से आत्मा एक, शुद्ध, ज्ञानदर्शन रूप, अरूपी है। अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी आत्मा का नहीं है (समयसार गाथा 38)। आत्मा का सौन्दर्य उसके ज्ञायक भाव में है क्योंकि वह अप्रमत्त या प्रमत्त रूप न होकर शुद्ध ही है (स. सार. गाथा 6)। जीव के साथ अज्ञान भाव के कारण अनादि काल से पुद्गल (अजीव) की पर्याय रूप द्रव्य कर्म और नोकर्मो का सम्बन्ध है। कर्मोदय से आत्मा में क्रोधादि विकारी भावों की उत्पत्ति होती है जो भाव कर्म कहलाते हैं। यह भी पुद्गल जन्य होने से जीव के स्वभाव भाव नहीं होते। इस कारण जीव की अशुद्ध परिणति दुःख-आकुलता रूप हो रही है। इस प्रकार द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नोकर्म अजीव तत्व में सम्मलित हैं। मन-वचन-काय की शुभ-अशुभ रूप योग क्रिया से आत्म प्रदेशों का स्पन्दन होता है जो कर्मास्रव का कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार मिथ्यात्व, अव्रति कषाय और योग से कर्मों का आश्रव होता है। आश्रव अशुचि अशरण और आकुलता रूप है। आत्मा और कर्माश्रव का सम्बन्ध बध्य-घातक जैसा है। आत्मा बध्य है और आश्रवभाव घातक है जैसे वृक्ष-लाख। आस्रव शुभ और अशुभ रूप होता है।

रागादि से कर्म बंध होता है। जो पर द्रव्य को ग्रहण करता है वह अपराधी होता है, इस कारण बंध में पड़ता है। जो आत्मा अपगत राध अर्थात् राध (सिद्धि-आराधना) से रहित है वह आत्मा अपराध है (स. सा. 304)। निरपराध आत्मा निःशंक होता है। सापराध आत्मा अपने को अशुद्ध सेवन करता हुआ निरंतर अनंत कर्मों से बंधता है और निरपराध आत्मा शुद्धात्मा (जो शुद्ध आत्मा है सो ही मैं हूँ ऐसा भागवान् आत्मा) का सेवन करता हुआ बन्धन को कदापि स्पर्श नहीं करता (कलश 187)। कर्म बंध का मुख्य कारण किसी को मारने-जिलाने, दुःखी-सुखी करने रूप मिथ्या अभिप्राय और मोह-राग रूप बुद्धि है। (समयसार गा. 259-261)। बंध तत्व जीव और द्रव्य कर्मों के मध्य एकक्षेत्रावगाह रूप बंध की स्थिति दर्शाता है।

शुद्धात्मा के आश्रय से कर्मागमन निरोध को संवर कहते हैं। आगम की दृष्टि से गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, चारित्र और तप से कर्मो का संवर और निर्जरा होती है। अध्यात्म दृष्टि से आत्म स्वभाव एवं क्रोधादि मनोभावों के मध्य आधार-आधेय सम्बन्ध न होने के कारण दोनों अलग-अलग हैं, यह भेद-विज्ञान होते ही शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि-अनुभूति होती है और उससे कर्मो का संवर होता है। संवर तत्व धर्माचरण की प्रथम सीढ़ी है। यहीं से जीवन का धर्मरूप रूपांतरण होता है। संवर होने का दार्शनिक सूत्र है—जो अपनी आत्मा को शुद्ध देखता है वह शुद्धात्मा को पाता है और जो अशुद्ध देखता है, वह अशुद्धात्मा को पाता है (स. सार गा. 186)

शुद्धात्मा के आश्रय से कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा तत्व है। कर्मों की निर्जरा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव की ज्ञान-वैराग्य शक्ति से होती है जिसमें ज्ञानी वैराग्य और ज्ञानपूर्वक कर्मोदय जन्य भोग करता हुआ भी कर्मो से अवद्य रूप रहता है। जिस प्रकार वैध पुरूष जहर को भोगता हुआ भी नहीं मरता और अरतिभाव से मद्यपान करता हुआ भी जीव उन्मुक्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान-वैराग्य पूर्वक ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी कर्मो से नहीं बंधता (स. सार 195-196)। वह तो अपने को 'एक ज्ञायक भाव हूँ' ऐसा मानता है और कर्मोदय एवं राग को कर्म का विपाक मानकर छोड़ता है (गा. 198-199)।

वर्तमान मेंआत्मा विभाव रूप अपद में स्थित है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि ज्ञान गुण के बिना अन्य किसी क्रियाकांड से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, अतः नियत ज्ञान को ग्रहण कर (गा. 205)। तू उस ज्ञान में नित्यरति-प्रतिवाला हो, उसमें नित्य संतुष्ट हो और उससे तृप्त हो तभी तुझे उत्तम सुख मिलेगा (गा. 206)। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि ज्ञानी का परिग्रह ज्ञान ही है। ज्ञानी अनिच्छुक होने से अपरिग्रही होता है। उसे धर्मरूप पुण्य, अधर्मरूप पाप, भोजन, पेय आदि अनेक प्रकार के सर्व भावों की इच्छा रूप परिग्रह नहीं होता (स. सार गा. 207-214)। वेध-वेदक भाव के अभाव के कारण उसे भोगाकांक्षा भी नहीं होती और कर्मोदय जन्य पर-के-अपराध के कारण उसे बंध भी नहीं

होता (समयसार कलश 150)। इस प्रकार ज्ञानी आत्म जागरूकता पूर्वक शुद्धात्मा का आश्रय करता हुआ कर्मो की एकदेश निर्जरा करता है। भोग के प्रति आंकाक्षा-राग और वियोग बुद्धि पूर्वक भोग के मध्य सूक्ष्म भेद-रेखा तत्वज्ञानी आत्मानुभवी आत्मा ही खींच सकती है। ज्ञानी-अज्ञानी की बाह्य प्रवृत्ति एक जैसी दिखाई देते हुए अभिप्राय में आकाश-पाताल जैसा अंतर होता है।

सातवां महत्वपूर्ण तत्व मोक्ष तत्व है। **बंधहेत्वाभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः** (सूत्र 10/2)। बंध के हेतुओं का अभाव संवर और निर्जरा द्वारा सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाना मोक्ष है। अध्यात्म दृष्टि से जीव स्वयं बंध के स्वभाव और आत्मा के स्वभाव को जानकर रागदिक बंधों के प्रति विरक्त होता है, तभी कर्मों से मुक्त होता है (स. सार गा. 293)। आत्मा और रागादिक भाव चेत्य-चेतक भाव के कारण एक जैसे दिखाई देते हैं। ज्ञानी प्रज्ञा छैनी से दोनों को पृथक कर शुद्धात्मा को ग्रहण करता है और शेष विभाव भावों को छोड़ता है। इस प्रकार आत्मा ही आत्मा द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा में से, आत्मा में आत्मा को ग्रहण करता है। इस कारण आत्मा स्वयंभू है।

सात तत्वों में जीव उपादेय, अजीव ज्ञेय, आश्रव-बंध हेय, संवर निर्जरा एकदेश उपादेय और मोक्ष सर्वकर्म के अभाव रूप परम उपादेय है। यह तत्व जैन धर्म/दर्शन में वर्णित आत्मा की अशुद्धता से शुद्ध होने की प्रक्रिया के मील-पत्थर रूप दिशा-बोधक एवं प्राण रूप हैं।

नव पदार्थाः – पदार्थ नौ हैं। उक्त सात तत्वों में पुण्य और पाप सम्मलित कर देने से सात तत्व नौ पदार्थ हो जाते हैं। यद्यपि पुण्य-पाप भाव आस्रव तत्व में सम्मलित हैं, फिर भी स्वर्ण और लोहे की बेडियों में स्वर्णत्व के प्रति बहुभाव न हो जावें, अतः आचार्यों ने दोनो (पुण्य-पाप) को कुशील रूप शुभ-अशुभ कर्मबंध का कारण माना है (स. सा. गा. 146)। और उनसे राग या संसर्ग न करने हेतु उपदेश दिया है। पुण्य-पाप भाव जीव के अशुद्ध परिणाम हैं जो शुद्ध परिणामों के बाधक-विरोधी हैं। शुद्ध भाव बिना मुक्ति नहीं और अशुद्ध भाव बिना कर्म बंध नहीं। अतः दृष्टि में दोनों भाव हेय हैं। यद्यपि मोक्ष-मार्ग में जिनेन्द्र देव की पूजा-भक्ति आदि के प्रशस्त राग रूप विशुद्ध परिणामों का

अपना स्थान है जो उपेक्षणीय नहीं है। जीव के विशुद्ध परिणामों से पुण्य बंध और संक्लेष परिणामों से पाप-बंध होता है। शुद्ध भाव अबंधरूप है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की टीका में 'जीवो नाम पदार्थः स समयः' अर्थात् ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है कहा है। इस प्रकार समय में सभी पदार्थ आ जाते हैं जो द्रव्य रूप हैं। 'अथोऽभिधेयः पद स्यार्थः पदार्थः' – अर्थात् अर्थ (अभिधेय) और पद से पदार्थ बना है। संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे किसी-न-किसी पद-शब्द के वाच्य अर्थ अवश्य हैं। इस दृष्टि से पदार्थ दो प्रकार का भी है–शब्द ब्रह्म और अर्थ ब्रह्म। न्याय सूत्र के अनुसार व्यक्ति, आकृति और जाति से सब मिलकर पद का अर्थ अर्थात् पदार्थ होते हैं (न्याय दर्शन सूत्र 2/2/63/142)। पदार्थ शब्दार्थ की प्रधान दृष्टि से पदार्थ कहलाते हैं।

मोक्ष मार्ग में पदार्थों के यथार्थ ज्ञान की उपयोगिता :– नव पदार्थो के बीच छिपी हुई ज्ञान ज्योति पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से ही प्रकाशमान होती है। नव तत्त्वों/पदार्थो में एकमात्र शुद्ध जीव तत्त्व ही प्रकाशमान है। जब वह शुद्ध जीवास्तिकाय ज्ञान का ज्ञेय, श्रद्धान का श्रद्धेय और ध्यान का ध्येय बनता है अर्थात् आत्मा का अनुभव होता है, आत्मानुभूति होती है तब सभी द्वैत का अभाव होकर एक आत्मा ही प्रकाशमान होता है। इस सम्बन्ध में समयसार की गाथा 13 मननीय है–

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पांव च
आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं (स. सार. 13)

भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रय संवर निर्जरा बंध और मोक्ष– ये नव तत्व ही सम्यग्दर्शन हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की ग्यारहवीं गाथा में शुद्ध नय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है। नय व प्रमाण के विकल्प पूर्वक जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है (स. वा. 1/1/2/4/3)।

ज्ञान-ध्यान की साधना का स्वरूप और महत्व :– जैन धर्म ज्ञानात्मक और भावात्मक हैं। इसके बाद क्रिया रूप चारित्र का स्थान है। आत्मानुभव के साथ जुड़ा ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान नाम पा जाता है। मुनि शिवभूति मंदबुद्धि के थे फिर भी त्रिकर्म रहित शुद्धात्मा का अनुभव होते ही वे सम्यग्ज्ञान और ध्यान की आराधना करते हुए उसी भव से मुक्त हो सिद्धपरमेष्ठी हो गये।

सर्वज्ञ देव ने आत्मा को ज्ञानस्वरूप बताया है, वह स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे? आत्मा पर भाव का कर्ता है ऐसा मानना व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान है)। आचार्य अमृत चन्द्रदेव के शब्दों में–

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्कोति किम।
पर भावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम।। (स. सार. कलश 62)

महाकवि श्रीमद् भोज ने द्रव्यानुयोग तर्कणा में ज्ञान की महत्ता निम्न रूप दर्शायी है–

ज्ञानं निधानं परमं प्रधानं ज्ञानं समानं न बहुक्रियाभिः
ज्ञानं महानन्दरसं रहस्यं ज्ञानं परं ब्रह्म जयत्यनन्तम् (द्रव्या. 15/9)

'ज्ञान सर्वोत्तम निधि है, ज्ञान सब में प्रधान है, ज्ञान समान कोई क्रिया नही है, ज्ञान महासुख देने वाला रस है, ज्ञान ही परम ब्रह्म का रहस्य है और अंत रहित है। ऐसा ज्ञान सर्वोत्कर्षता करके वर्तता है।' ज्ञानरहित बाह्य क्रिया जिनमत में निंदित है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार पदार्थ सम्बन्धी अतीन्द्रिय ज्ञान सुख रूप होता है इसलिये वह उपादेय है। पुनश्च, केवलज्ञान सुख स्वरूप है (प्रवचनसार गाथा 53 एवं 61)।

जो जानता है सो ज्ञान है अर्थात् जो ज्ञायक है वही ज्ञान है। आत्मा स्वयं ही ज्ञान रूप परिणमित होता है और सर्व पदार्थ ज्ञानस्थित हैं। इसलिये जीवज्ञान है और त्रिकालवर्ती द्रव्य ज्ञेय हैं। ज्ञान स्वपर ज्ञायक है, यह ज्ञेय की द्विविधता है। (स. सार गाथा 35-36)। आत्मज्ञान युक्त ज्ञान तो सम्यग्ज्ञान है ही, 'श्रुतं हि तावत्सूत्रम्' के अनुसार श्रुत ही सूत्र है। उस शब्द ब्रह्म रूप सूत्र की ज्ञप्ति सो ज्ञान है। श्रुत उसका कारण होने से ज्ञान के रूप में उपचार से

ही कहा जाता है। इसी दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द देव समयसार की अंतिम गाथा (415) में घोषित करते हैं कि 'जो आत्मा इस समयसार को पढ़कर अर्थ और तत्त्व को जानकर उसके अर्थ में स्थित होगा, वह उत्तम सौख्य रूप होगा।

स्वाध्याय एवं ध्यान तप – ज्ञान का आधार स्वाध्याय है। स्व + अधि + आय = स्वाध्याय अर्थात निज का ज्ञान होना। 'स्वाध्यायः परमं तपः' – स्वाध्याय को परम तप कहा है। सत् साहित्य का पढ़ना-अध्ययन-करना, पूछना (तत्वचर्चा), चिंतन-मनन-अनुप्रेक्षा आम्नाम-बारम्बार स्मरण करना और धर्मोपदेश देना आदि स्वाध्याय के ही अंग हैं। एकाग्रचित्त से णमोकार मंत्र का जाप एवं शास्त्र स्वाध्याय यह परम तप है (तत्वानु. 40)।

'कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः' कर्म क्षय हेतु जो तपा जाता है, वह तप है। आगमिक दृष्टि से छः बाह्य तप और छः अभ्यंतर तप होते हैं, अध्यात्म दृष्टि से शुद्धोपयोग ही परम तप है। अभ्यंतर तप में स्वाध्याय और ध्यान तप महत्वपूर्ण हैं। स्वाध्याय और ध्यान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र। आचार्य अमितगति के अनुसार-ध्यानं विनिर्मल ज्ञान पुसां संपद्यते स्थिरम–अर्थात जब निर्मलज्ञान स्थिर हो जाता हो तब वह ध्यान हो जाता है (योगसार प्रा. 9/15)। 'एकाग्रचिंतानिरोधोध्यानम्'–एक पदार्थ को जानते हुए चिंतवन रूक जाना (ज्ञान में ठहर जाना) ही ध्यान है। आचार्य रामसिंह के अनुसार स्थिर मन और स्थिर तात्विक श्रुत ज्ञान का नाम भी ध्यान है (तत्त्वानु. 68)। दोहा पाहुड का यह कथन भी महत्वपूर्ण है–जिस प्रकार नमक जल में विलीन हो जाता है उसी प्रकार चित्त शुद्धात्मा में विलीन हो जाये तब जीव समरस रूप समाधिमय हो जाता है (गा. 207)।

चार प्रकार के ध्यानों में आर्त्त और रौद्र ध्यान अशुभोपयोगी हैं जबकि धर्म ध्यान मुख्यतः शुभोपयोगी है और गौण रूप से शुद्धोपयोगी है। शुक्ल ध्यान के प्रथम दो ध्यान अर्थात पृथक्त्ववितर्क वीचार और एकत्व वितर्क अवीचार श्रुत ज्ञान के विषय के सम्बन्ध में श्रुत के आश्रय से होते हैं जिससे चार घातिया कर्म नष्ट होते हैं। अंत के दो ध्यान अर्थात् सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती और व्युपरतक्रिया निवर्ति, जिनेन्द्र देव के सब प्रकार के अवलम्बन से रहित हैं।

इन चार शुक्लध्यानों में प्रथम ध्यान मन, वचन और काय इन तीन योग वालों के, दूसरा ध्यान तीन योगों में किसी एक योग वाले के, तीसरा ध्यान काय योग वाले के और चौथा ध्यान योग से रहित अयोग केवली के होता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि रागादि परिग्रह से रहित मुनि शुक्ल ध्यान द्वारा अनेक भवों के संचित कर्मों को शीघ्र जला देता है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार 'जो कर्म अज्ञानी लक्ष कोटि भवों में खपाता है, वह कर्म ज्ञानी तीन प्रकार से गुप्त (त्रिगुप्ति) होने से उच्छवास मात्र में खपा देता है (प्र. सार 238)।' इससे शुद्धात्मानुभाव और शुद्धोपयोग की महिमा स्वयं सिद्ध होती है।

स्वाध्याय और समाधिमरण – जीवन की सफलता समाधिमरण पूर्वक देह त्याग में है। इसे सल्लेखना भी कहते हैं। सल्लेखना - सत् लेखन अर्थात् काया (शरीर) एवं मनोविकारों रूप कषायों को सम्यक् रूप से कृश (क्षीण) करने को कहते हैं। यह दो मुखी कार्य करती है। बाह्य रूप से शरीर को कृश करती है और अभ्यंतर रूप से कषायों को कृश कर अकर्त्ता-अभोक्ता रूप आत्मा को उसके ज्ञायक/समता भाव में स्थापित करती है। सल्लेखना जीवन भर की आत्म साधना का सुफल है इसके लिये निरंतर शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये। भगवती आराधना की निम्न गाथा मननीय है–

आदहिदपइण्या भाव संवरो णवणवो न संवेगो।
णिक्कंपदातवो भावणा य परदेसिगत्तं च ।। 100।।

अर्थ– (1) जिनागम का अभ्यास करने वाले के आत्महित का ज्ञान होता है, (2) पाप कर्मों का संवर होता है, (3) नवीन-नवीन संवेग भाव उत्पन्न होता है, (4) मोक्षमार्ग में स्थिरता आती है, (5) तपस्या में वृद्धि होती है, (6) गुप्ति पालन में तत्परता आती है, (7) इतर भव्य जीवों को उपदेश करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। यह सात गुण जिनागम के स्वाध्याय करने वाले आत्मा में प्रकट होते हैं। इसका फल समाधिमरण/सल्लेखना पूर्वक देह त्यागकर उत्तम गति प्राप्त करना है।

निष्पत्ति – स्वाध्याय-श्रुताभ्यास द्वारा शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति सहज होती है। इस रहस्य का उद्घाटन पं. प्रवर आशाधर जी ने अध्यात्म रहस्य श्लोक 55 में

इस प्रकार किया है—मैं श्रुताभ्यास के द्वारा शुभ उपयोग का आश्रय करता हुआ, शुद्ध उपयोग में ही अधिकाधिक स्थिर रहूँ यही मेरी श्रेष्ठ-निष्ठा श्रद्धा है। इस प्रकार अशुभोपयोग से निवृत्ति (त्याग) शास्त्राभ्यास द्वारा शुभोपयोग का आश्रय लेते हुए शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति का क्रम निर्देश स्पष्ट है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पदार्थो के यथार्थ ज्ञानपूर्वक शुद्धात्मा के श्रद्धान-ज्ञान एवं आचरण से अनादि कर्म बंध से मुक्त होकर आत्मा स्वतंत्र होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. तत्वार्थ वार्तिकम् (राजवर्तिकम) : भट्ट अकलंकदेव, दुलीचंद वाकलीवाल, यूनिवर्सल एजेन्सीज देरगांव (आश्राम) वर्ष-1987
2. षट्खंडागम, जीवस्थान-सत प्ररूपणा? खण्ड-1, भाग-1, पुस्तक-1 आचार्य वीरसेन जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर-2, वर्ष-1973।
3. अष्टपाहुड-दर्शन-पाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द, श्रीकुन्दकुन्द कहान दि. जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर वर्ष-1994
4. प्रवचन सार : आचार्य कुन्दकुन्द, प्रकाशक उक्तानुसार, वर्ष 1985।
5. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द, प्रकाशक उक्तानुसार, वर्ष 1995।
6. पंचास्किाय : आचार्या कुन्दकुन्द, प्रकाशक उक्तानुसार, वर्ष-1990।
7. छहढला : पं. दौलतराम जी, कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली वर्ष-1994।
8. कार्तिकेयानुप्रेक्षाः स्वामी कार्तिकेय, श्री दि. जैन धर्म शिक्षण संयोजन समिति, मल्हार गंज इन्दौर, वर्ष-1994।
9. सवार्थसिद्धिः – आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वर्ष-1989।
10. तिलोयपण्णत्ति भाग-3, सिद्धलोक, यतिवृषभाचार्यः श्री 1008 चन्द्रप्रभ दि. जैन अतिशय क्षेत्र देहरा-तिजारा, वर्ष-1997।
11. जैनतत्व विद्याः मुनिप्रमाण सागर जी, (आचार्य गाद्यवदि योगीन्द्र विरचित शास्त्रसार समुच्चय) भारतीय ज्ञानपीठ वर्ष-2000
12. तत्वानुशासन – श्रीनागसेन मुनिः भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद वर्ष-1993
13. योगसार प्राभृतः आचार्य योगीदुदेवः श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सिवनी,

वर्ष-1989।

14. द्रव्यानुयोगतर्कणाः श्री मद् भोज कवि विरचित श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास : वर्ष -1977।
15. अध्यात्म-रहस्यः पं. आशाधर जी, वीर सेवा मंदिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली वर्ष-1957।
16. दोहा पाहुडः मुनि रामसिंह, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, वर्ष-1998।
17. नय चक्र बृहतः आचार्य देवसेन : माणिक ग्रंथमाला बम्बई सन-1920 (वि. सं. 1977)।
18. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा-1-4, क्षुल्लक जेनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी सन्-1971 (वि. सं. 2028)
19. न्यायदर्शन सूत्र : मुजफ्फरनगर सन-1934 (जै. सि. कोष भाग-3, पृष्ठ 8 से उद्धृत)।
20. समयसार कलश टीका : आचार्य अमृतचन्द : श्रीवीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर वीर सं. 2503।
21. मोक्ष शास्त्र (तत्त्वार्थ सूत्र) ' श्री उमा स्वामी : भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्।
22. अष्टपाहुडः अध्यन – डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल, बाहुबली प्रकाशन, लालकोठी, जयपुर, सन्-1993।
23. *भगवती आराधना गाथा 100, (संयम प्रकाश पूर्वार्द्ध-द्वितीय भाग पृष्ठ 766 से उद्धृत)*।

– बी-369 ओ. पी. एम. कॉलोनी,
अमलाई (म. प्र.)-484117

प्राचीन भारत में राजकीय विभाग

—डॉ. मुकेश बंसल

जिस प्रकार शरीर में स्थित ज्ञान-केन्द्र को मस्तिष्क के आदेशों को पूरा करने के लिए शरीर के विभिन्न अंगों और इन्द्रियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार राजा को राजकीय कार्यो के सम्पादन-हेतु शासन-कार्यालय एवं विभिन्न शासकीय विभागों की आवश्यकता होती है। प्राचीन भारतीय राज्यानुशासन के सिद्धानतों से ज्ञात होता है कि कल्याणकारी आदेशों का सामान्य लोक में पालन करना और प्रजा-हित-साधन करना ही राजा का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य था, जिसके अभाव में लोक की स्थिति और सुख असम्भव था। प्रजानुरंजन और लोकल्याण में तत्पर राजा को राज्य की सुदृढ़ शासन-व्यवस्था बनाए रखने के लिए विभिन्न राजकीय विभागों और उनमें नियुक्त पदाधिकारियों की आवश्यकता पड़ती थी। इन राजकीय विभागों एवं उनमें नियुक्त पदाधिकारियों को राजा के द्वारा ही प्रायः समस्त अधिकार प्रदान किये जाते थे। समस्त विभागों का अपना-अपना कार्य-क्षेत्र निश्चित था। उस विभाग का अध्यक्ष स्वतंत्र रूप से अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता था, किन्तु वह किसी भी दशा में निरकुंश न हो पाए इसलिए प्रत्येक स्थिति में अंतिम निर्णय राजा का ही होता था। प्राचीन भारतीय साहित्य में शासन को सुव्यवस्थित एवं दृढ़तापूर्वक चलाने हेतु राजा द्वारा जिन विभिन्न राजकीय विभागों की स्थापना के उल्लेख प्राप्त होते हैं, उन्हें 'तीर्थ' कहा गया है।

विभिन्न कालों में विभिन्न विभाग, उनके पदाधिकारी एवं कार्यपालक रहे हैं। वैदिक काल में राजसूय यज्ञ के सम्पादन में कुछ ऐसी आहुतियों का उल्लेख प्राप्त होता है जो 'रत्निनां हविषि'[1] कही जाती थी। यद्यपि उनके नामों एवं क्रमों में कालान्तर में कुछ हेर-फेर हो गया था, किन्तु फिर भी बहुधा वे सभी ग्रन्थों में उसी रूप में पायी जाती हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य में राजा के

अतिरिक्त ग्यारह रत्नियों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिन्हें राज्यों का दाता कहा गया है—एते वै राष्ट्रस्य प्रदातारः।[1क] कालान्तर में इन वैदिक कालीन रत्नियों को 'तीर्थ' नाम से पुकारा जाने लगा और जिनकी संख्या अठारह हो गयी थी। रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों में इन तीर्थों की संख्या अठारह बतायी गयी है।[2] रघुवंश, शिशुपालवध आदि महाकाव्यों, पंचतन्त्र आदि नीतिकथाओं एवं अर्थशास्त्र आदि से भी अठारह तीर्थों के अस्तित्व की जानकारी प्राप्त होती है।[3] वस्तुतः आरम्भिक कालावधियों एवं अपेक्षाकृत छोटे राज्यों में इन प्राशासनिक विभागों की संख्या बहुत कम थी। विष्णुस्मृति एवं राजतरंगिणी में क्रमशः चार और सात विभागों का उल्लेख आया है।[4] यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है कि 'तीर्थ' शब्द शासकीय विभागों के लिए प्रयुक्त किया गया है अथवा विभागाध्यक्षों के लिए? सामान्यतः डा. जायसवाल, राधाकुमुद मुखर्जी आदि कुछ इतिहासकारों का मानना है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में 'तीर्थ' शब्द विभागों के अध्यक्षों अथवा विशिष्ट कार्याधिकारियों के लिए प्रयुक्त हुआ है न कि विभागों के लिए।[5] किन्तु राजतरंगिणी में स्पष्ट कहा गया है कि प्राचीन काल में केवल सात कर्मस्थान (विभाग) थे जो कालान्तर में अठारह हो गये तथा आगे चलकर उनमें पाँच कर्मस्थान और जोड़ दिये गये यथा-महाप्रतिहार, महासन्धिविग्रह, महाश्वशाल, महाभाण्डागार और महासाधनमात्र। इन विभागों के अधिकारियों को 'अभिगतपंचमहा' शब्द से अभिहित किया गया।[6]

स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राज्यानुशासन के अन्तर्गत 'तीर्थ' शब्द शासकीय विभागों के लिए प्रयुक्त किया गया तथा विभागों के नाम के साथ 'महा' शब्द जोड़कर विभागाध्यक्ष को सम्बोधित किया गया। उदाहरणार्थ सम्राट् अशोक के अभिलेखों में विभाग के उच्चाधिकारियों को महामात्र, धर्ममहामात्र तथा अन्य पदाधिकारियों को युक्त, राजुक प्रादेशिक आदि कहा गया है।[7] निःसन्देह तीर्थ शब्द प्रशासकीय विभागों के लिए प्रयुक्त किया गया न कि विभागाध्यक्षों के लिए।

राज्य के कार्यों का अठारह तीर्थों के अन्तर्गत परम्परागत विभाजन का

कारण सम्भवतया यह था कि राज्य के प्रायः सभी कार्य इन विभागों के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते थे और जो राज्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।[8] कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में अठारह तीर्थों के अतिरिक्त 28 अध्यक्षों के नाम दिये हैं और उनके कार्यो का पृथक् से विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। अर्थशास्त्र के प्रथम खण्ड के दूसरे अधिकरण का शीर्षक ही 'अध्यक्ष-प्रचार' के नाम से अभिहित है, जिसमें विभिन्न विभाग और उसके मुख्याधिकारियों तथा अधीक्षकों को पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं। रघुवंश में कालिदास द्वारा तीर्थो का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है।[9] कौटिल्य के 'अध्यक्ष-प्रचार' नामक अधिकरण के आधार पर ही प्राचीन भारतीय अभिलेखों में भी विभिन्न अधिकारियों की नियुक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ भोजवर्मदेव के बेलवा-दानपत्र एवं विजयसेन के बैरकपुर-दानपत्र में उल्लेख आया है—'अन्यांश्च सकलराजपदोपजीविनोऽध्यक्ष-प्रचारोक्तान् इहाकीर्तितान् चट्टभटजातीयान् जनपदान् क्षेत्रकरांश्च।'[10]

सुव्यवस्थित-शासन-संचालन हेतु सपरिषद राजा को 'केन्द्रीय सचिवालय' और उनमें कार्यरत कार्यालयाध्यक्षों की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती थी। वैदिक काल में लेखन-कला के आविष्कार के अभाव में शासन-कार्यालय के विकास की आशा करना उचित नहीं है, सम्भवतः इस काल में राजा के आदेश मौखिक रूप से अथवा संदेशवाहकों के द्वारा ही घोषित किये जाते थे। कालान्तर में लेखन-कला के विकास तथा शासन-कार्यो के अभिलेखों के रखरखाव के लिए निश्चित रूप से एक कार्यालय की आवश्यकता हुई। मौर्यकाल तक आते-आते शासन-व्यवस्था पूर्णतः संघटित और व्यापक हो चुकी थी। विविध बड़े-बड़े विभाग अर्थात् तीर्थ स्थापित किये जा चुके थे। शासन की श्रेष्ठता बहुत कुछ केन्द्रीय शासन-कार्यालय पर निर्भर मानी जाने लगी थी। कौटिल्य ने कहा है 'शासने शासनमित्याचक्षते'[11] अर्थात् शासन (सरकारी आदेश) ही सरकार है। शुक्र के अनुसार राजसत्ता राजा के शरीर में नहीं, उसके हस्ताक्षरित और मुद्रांकित शासन में रहती है।[12] मौर्यकाल में केन्द्रीत सचिवालय का प्रधान अधिकारी अक्षपटल नाम से जाना जाता था। गहडवाल और चालक्य राज्य में सरकारी लेखों के प्रधान निरीक्षक जो कभी-कभी

ताम्रपत्र लिखने का कार्य भी करता था, को अक्षपटलिक अथवा महाक्षपटलिक कहा गया है। सचिवालय में कार्य करने वाले छोटे कर्मचारियों को युक्त कहा गया है और उच्च पदाधिकारियों को उपयुक्त नाम दिया है। अशोककालीन कार्यालयों में काम करने वाले छोटे अधिकारियों अथवा क्लर्कों को युक्त कहा गया है, जो महामात्रों और रज्जुकों के नीचे कार्य करते थे। इनके अतिरिक्त एक मुद्राध्यक्ष नाम का अधिकारी होता था जो सरकारी कागजों के रखरखाव और राजकीय मोहर का संरक्षक होता था।[13] राजतरंगिणी में केन्द्रीय शासनालय के कर्मचारियों द्वारा राजाओं के आदेश लेखबद्ध किये जाने की जानकारी के साथ चाहमान और चालुक्य शासन में सचिवालय का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे 'श्रीकरण' कहा जाता था।[14]

प्राचीन भारत में अधिकांशतः नृपतन्त्र शासन-व्यवस्था ही प्रचलित थी, जिस कारण राजमहल अथवा राज-प्रासाद का अत्यधिक महत्त्व था अतः उसकी व्यवस्था के लिए एक पृथक् विभाग अनिवार्य था। प्राचीन भारतीय साहित्य में राजप्रसाद सम्बन्धी विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। दृश्यकाव्यों में राजप्रसाद के लिए नृपभवन, नृपगृह, राजकुल आदि अभिधानों का प्रयोग किया गया है।[15] सामान्य गृहों और सार्वजनिक भवनों की तुलना में राजप्रासादों की एक निराली ही शान होती थी जिसकी व्यवस्था और रखरखाव के लिए राजसेवकों का बड़ा वर्ग एक अलग ही विभाग के आधीन कार्यरत रहता था। राजमहल और उसके सम्पूर्ण अहाते की देखरेख के लिए अत्यन्त विश्वासपात्र अधिकारी की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है, जिसे 'सौधगेहाधिप' नाम से जाना जाता था।[16] बंगाल में इस अधिकारी को 'आवसथिक' कहा जाता था।[17] राजप्रसाद के दो प्रमुख विभाग होते थे एक अन्तर्भाग और दूसरा बहिर्भाग। अन्तर्भाग में अन्तःपुर या राजकीय कार्य होता था और बहिर्भाग में राजकीय गृह और सभा-भवन आदि होते थे। राजप्रसाद और उसके शिविर में आवागमन का नियन्त्रण 'द्वारपाल' नामक अधिकारी द्वारा किया जाता था। किसी भी प्रकार से प्रासाद में प्रवेश के लिए सर्वप्रथम द्वारपाल से ही अनुमति प्राप्त करनी होती थी और इसके लिए प्रवेशपत्र प्राप्त करना होता था, जिस पर मुद्राधिप नामक अधिकारी की मोहर आवश्यक थी।

आगन्तुक प्रतिहार या महाप्रतिहार नामक अधिकारी की उपस्थिति में ही राजा से मिल सकते थे। राजप्रसाद में राजा की रक्षा के लिए अंगरक्षक दल नियुक्त रहता था, जिसे शिरोरक्षक नाम से अभिहित किया गया है। पाणिनि ने इन अंगरक्षकों को 'राजप्रत्येनाः' कहा है, जिससे पुलिस अधिकारी का बोध होता है।[18] कौटिल्य ने अंगरक्षकों को आत्मरक्षित नाम दिया है।[19] राजप्रसाद तथा राजा की रक्षा करने वाले इन अधिकारियों के अतिरिक्त राजा का अभिवादन करनेवाले राज्याधिकारी भी होते थे,[20] जिन्हें अधोनिर्दिष्ट पाँच कोटियों में विभक्त किया जा सकता है–

1. स्वागतिक (राजा को देखते ही स्वागत का उद्घोष करनेवाले)।
2. सौवस्तिक (राजा के प्रति स्वस्तिवाचन करनेवाले)।
3. सौखशयनिक (राजा से सुखपूर्वक निद्रा के विषय में पूछनेवाले)।
4. सौखरात्रिक (राजा से सुखद और शान्त रात्रि के विषय में पूछनेवाले)।
5. सौस्नातिक (स्नानोपरांत अभिवादन करनेवाले)।

चालुक्य काल में अंगरक्षकों के नायक को अंगनिगूहक कहा गया है। राजप्रासाद की व्यवस्था में अधिकारियों और सेवकों का एक विशाल वृन्द एक पृथक् विभाग के अधीन दिन-रात कार्यरत रहता था। राजप्रसाद की पाकशाला पाकाधिप नामक अधिकारी की देखरेख में रहती थी। अन्तःपुर का प्रबन्ध कंचुकी नामक अधिकारी के नियंत्रण में होता था जो एक वृद्ध तथा राजा का सबसे अधिक विश्वासपात्र अधिकारी होता था।[21] कंचुकी के अतिरिक्त किरात, कुब्ज, परिचारिका आदि विभिन्न सेवक-सेविकाएँ-राजप्रासाद विभाग के अधीन कार्यरत रहती थी।[22] राजा एवं राजपरिवार की चिकित्सा आदि के लिए राजवैद्य की नियुक्ति का भी विवरण प्राप्त होता है, जिसे 'आरामाधिप' कहा गया है।[23]

प्राचीन भारतीय राज्यानुशासन में सैन्य-विभाग निःसन्देह सबसे महत्त्वपूर्ण था। शत्रुओं से राज्य की रक्षा हेतु राजाओं के पास अक्षौहिणी सेनाएँ होती थीं। जिनकी व्यवस्था के लिए एक पृथक् सैन्य-विभाग का गठन किया जाता था। प्राचीन भारत में चतुरंगिणी सेनाओं में परम्परागत चार विभाग–गज,

अश्व, रथ और पैदल होते थे और उनके रखरखाव के निमित्त लेखा तथा रसद आपूर्ति के कार्य में संलग्न नागरिक कर्मचारियों का एक बड़ा वर्ग कार्यरत रहता था। सेना-विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी सेनापति होता था, जिसे 'बलाध्यक्ष' कहा गया है।[24] अर्थशास्त्र में सेनापति का स्थान राज्य के अठारह तीर्थाधिकारियों में तीसरा माना गया है और सम्भवतः यह पद सेनामंत्री का था। रामायण महाभारत काल में सेनापति, युद्ध-क्षेत्रों में सेनानायक और शान्ति-समय में मंत्रिपरिषद् का सदस्य होता था। किन्तु बाद के काल में आते-आते सेनापति का कार्य केवल सेना का नायकत्व रह गया, जबकि अन्य कार्य सेना-विभाग के अधीन होते थे। सेना-विभाग के अध्यक्ष के लिए विभिन्न कालों में सेनापति, महासेनापति, महाबलाधिकृत, महाप्रंचडदंडनायक आदि विविध नामों को प्रयुक्त किया गया। सेना के विभिन्न अंगों के पृथक्-पृथक् अध्यक्ष होते थे। पत्त्यध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, अश्वपति, रथाधिपति आदि। नौसेना-विभाग के अध्यक्ष को नावध्यक्ष कहा जाता था।[25] सैन्य-विभाग द्वारा सैनिकों की गणना आदि के लिए विभाग में एक पुस्तक अथवा सूची बनाए जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। युद्ध में वीरता प्रदर्शित करनेवाले योद्धाओं को सैनिक सम्मान प्रदान करने, पुस्तक में उनके रणकौशल, वीरकृत्य अंकित करने, वीरों की वेदना के विचारणार्थ उनको समुचित सम्मान आदि प्रदान करने का विवरण भी सैन्य-विभाग द्वारा रखा जाता था।[26] सेना के सम्पूर्ण अंगों के रसद, आयुध, वेष तथा अन्य युद्धोपकरण-संबंधी आपूर्ति का उत्तरदायित्व रणभाण्डाराधिकरण द्वारा किया जाता था।[27] सैन्य-विभाग में अनेक असैनिक अधिकारी भी विभाग की; आय-व्यय, सैनिकों के वेतन, आवास, भोजन आदि की व्यवस्था में कार्यरत रहते थे। शस्त्रों के निर्माण और संग्रह के लिए आयुधागार अथवा शस्त्रागार होता था जिसके अध्यक्ष के रूप में आयुधागाराध्यक्ष की नियुक्ति का उल्लेख प्राचीन साहित्य में प्राप्त होता है।[28] सेना-विभाग के अधीन ही चिकित्सकों का एक दल भी संगठित किया जाता था, जो युद्ध एवं शान्ति के समय सैनिकों की देखभाल का कार्य करता था। इनके अतिरिक्त गुप्तचर-व्यवस्था, दुर्ग-व्यवस्था आदि भी सैन्य-विभाग के अधीन ही आती थी।

देश-विदेश एवं पड़ौसी राज्यों की जानकारी रखने की दृष्टि से परराष्ट्र-विभाग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। इस विभाग के अधीन युद्ध, शान्ति और वैदेशिक संबंध आदि मामले आते थे। साधारणतः इस विभाग को शान्तिकाल में विभिन्न अधीनस्थ सामंत शासकों तथा स्वतंत्र राज्यों से संबंध बनाये रखना पड़ता था और उनकी समस्त गतिविधियों की जानकारी एकत्र करनी पड़ती थी। देश-विदेश की जानकारी प्राप्त करने के लिए परराष्ट्र-विभाग के पास उच्च कोटि के गुप्तचरों की टुकड़ियॉ भी होती थी जो छद्म वेष में विभिन्न राज्यों में प्रवेश करके उनके भेदों की जानकारी प्राप्त करके विभागाध्यक्ष के पास गुप्त-रूप से सूचनाएँ भेजा करते थे। परराष्ट्र-विभाग महासन्धिविग्राहिक नामक अधिकारी के अधीन होता था। महाकाव्यों, दृश्यकाव्यों तथा स्मृतियों में इस अधिकारी को 'दूत' कहा गया है।[29] राजतरंगिणी में इसे 'कम्पन' और अभिलेखों में महाप्रचण्डनायक कहा गया है।[30] विदेशी नागरिकों के प्रवेश संबंधी नियम एवं अनुमति पत्र आदि देना भी परराष्ट्र-विभाग के ही कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत निहित थे। यह कार्य 'महामुद्राध्यक्ष' नामक पदाधिकारी द्वारा किया जाता था, जिसका एक पृथक् उपविभाग होता था, जो विदेशियों को राज्य में प्रवेश की अनुमति देने के साथ-साथ उनकी गतिविधियों पर कड़ी नजर रखता था।[31] विभिन्न सामन्तों के कार्यकलापों की देखरेख तथा उनसे निश्चित अवधि में उपहार, भेंट आदि प्राप्त करने की व्यवस्था भी इसी विभाग के अधीन होती थी।

राजकीय भूमि का प्रबन्ध, वनों की देखभाल, पशुओं का प्रबन्ध, राज्य की समस्त भूमि का लेखा-जोखा एवं भूमिकर वसूलना आदि महत्त्वपूर्ण कार्य राजस्व विभाग के अधीन थे। इस विभाग का कार्यक्षेत्र अन्य विभागों की अपेक्षा अधिक व्यापक था। बहुआयामी होने के कारण इस विभाग में नियुक्त अधिकारियों की संख्या अन्य विभागों के मुकाबले कहीं अधिक होती थी। राजकीय भूमि के प्रबन्धन का कार्य सीताध्यक्ष, वनों की देखभाल का कार्य अरण्याध्यक्ष, भूमिकर के रूप में एकत्र किये गये धान्यों का संग्रह करने के कार्य कोष्ठागाराध्यक्ष, धान्याध्यक्ष अथवा भाण्डागारिक के अधीन होता था।[32]

प्राचीन भारतीय साहित्य में राज्य के संदर्भ में 'अर्थ' की महत्ता पर

अत्यधिक बल दिया गया है। रामायण में राज्य की प्रत्येक प्रकार की सम्पन्नता और नैतिकता का मूल 'अर्थ' को ही बतलाया गया है।[53] इसी प्रकार अर्थशास्त्र में भी राजा तथा पुरुषार्थो के विवेचन में 'अर्थ' को ही प्रधान माना गया है।[54] इन संकेतों से स्पष्ट हो जाता है कि वित्त-विभाग राज्य तथा शासन-तन्त्र का आधार-स्तम्भ था इसी कारण इस विभाग को कभी-कभी सर्वोच्च स्थान भी प्रदान किया गया है। राज्य की समस्त आय-व्यय का निर्धारण वित्त विभाग के अधीन ही होता था।[55] इस विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी स्वयं राजा होता था। राजा ही व्यय के लिए अन्तिम स्वीकृति प्रदान करता था। इस कार्य-हेतु राजा जिन विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति करता था, उन्हें 'व्ययाधिकारी' अथवा 'व्ययकरणमहामात्य' कहा गया है। अर्थशास्त्र में अर्थ-विभाग के अधिकारी को समाहर्त्ता कहा गया है किन्तु मन्त्रियों की सूची में इसका स्थान बहुत नीचा दर्शाया गया है।[56] शुक्रनीति में वित्त-विभाग के सर्वोच्च पदाधिकारी को 'वित्तधिप' कहा गया है, जिसके अधीन अनेक अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इन अधिकारियों में सबसे महत्त्वपूर्ण कोष्ठागाराध्यक्ष को माना गया है, जिसके अधीन राज्य का सुरक्षित अन्न-भण्डार रहता था। अभिलेखों में इसके लिए भाण्डागाराधिकृत तथा शुक्रनीति में इसे धान्याध्यक्ष कहा गया है।

प्राचीन भारत में अनेक उद्योगों एवं व्यवसायों की विकसित अवस्था की जानकारी प्राप्त होती है जिनकी व्यवस्था एक पृथक् विभाग द्वारा की जाती थी। उद्योगों की व्यवस्था-हेतु प्राचीन भारतीय राज्य बड़े सक्रिय रहते थे। उद्योग राजकीय एवं व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार के होते थे। विभाग में इन उद्योगों की व्यवस्था एवं देखरेख हेतु विभिन्न कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। प्राचीन भारत में सबसे प्रमुख और व्यापक उद्योग वस्त्र उद्योग था। वस्त्र उद्योग के लिए सूत्राध्यक्ष नियुक्त किये जाते थे। वस्त्र उद्योग, राजकीय आय वृद्धि एवं राज्य में निर्धन और दुर्बल आय वर्ग के व्यक्तियों के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने हेतु, एक प्रमुख व्यवसाय के रूप में अपनाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[58] उद्योग-विभाग के अन्तर्गत विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। इस विभाग के एक अधिकारी को

शुक्र द्वारा वस्त्राध्यक्ष नाम से अभिहित किया गया है। राज्य की समस्त खानों पर सरकारी नियन्त्रण होता था, जिनमें कुछ खानों से राज्य की ओर से स्वयं खनन कार्य कराया जाता था तथा कुछ खानों को विभिन्न व्यवसायियों को उत्खनन-हेतु दिया जाता था और उनसे निश्चित धनराशि राज्य-कोष में जमा करा ली जाती थी। खनिज पदार्थो को खोदने, रत्न निकालने, मछली पकड़ने आदि के लिए राजकीय अधिकारियों की नियुक्तियाँ की जाती थीं। ये अधिकारी विभिन्न उद्योगों पर नियन्त्रण रखने के विचार से व्यवस्था संबंधी निर्देश जारी करते थे। सरकारी मुद्राओं का निर्माण भी व्यवसायियों द्वारा ठेके पर लिए जाने के उल्लेख मिलते हैं।[40]

प्राचीन भारत में राज्य की जनता द्वारा निर्मित सामग्री का उन्हें उचित दाम दिलाने हेतु व्यापार-विभाग अथवा वाणिज्य-विभाग का गठन किया जाता था। राज्य के समस्त बाजारों पर पण्याध्यक्ष नामक अधिकारी का नियन्त्रण रहता था, जिसे हट्टपति एवं द्रांगिक नाम से भी जाना जाता था। इस विभाग का प्रमुख कार्य बाजारों अथवा हाटों की देखभाल करना, राज्य की सामग्री को लाभ पर बेचने की व्यवस्था करना तथा आयात और निर्यात एवं मूल्यों पर नियन्त्रण रखना था। ये विभाग दैनिक प्रयोग में आने वाली वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करते थे और अनुचित संचय और मुनाफाखोरी पर नियन्त्रण रखते थे।[41] व्यापार-विभाग द्वारा ही विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं पर चुंगी वसूलने का कार्य भी किया जाता था, चुंगी वसूलने के लिए शुल्काध्यक्ष नामक अधिकारी के अधीन विभिन्न कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। अभिलेखों में शुल्काध्यक्ष को 'शौल्लिक' भी कहा गया है।[42] शौल्ल्कि पर कर अदायगी न करने वाले व्यापारियों का दण्ड के रूप में जुर्माना करने का अधिकार था। व्यापार-विभाग बाजारों पर पूर्ण नियन्त्रण हेतु माप-तौल अधिकारियों की नियुक्ति भी करता था, जो समय-समय पर बाट आदि का निरीक्षण करके उन पर सरकारी मुहर लगाते थे।

राज्यों के विस्तार और विशाल साम्राज्यों की स्थापना के साथ न्याय का क्षेत्र भी व्यापक हो गया था। समस्त विवादों का समाधान अकेले राजा के

लिए सम्भव नहीं था। अतः इसके लिए पृथक् न्याय विभाग की स्थापना आवश्यक थी। इस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था किन्तु कार्य की अधिकता के कारण न्याय वितरण करने के लिए राजा की ओर से प्राड्विवाक अथवा प्रधान न्यायाधीश की नियुक्ति की जाती थी। न्यायाधीशों को प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्माध्यक्ष अथवा न्यायकरणिक कहा गया है। न्याय-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए विभिन्न न्यायालयों, अधिकरणों, न्यायाधीशों, प्रदेष्टा, लेखक आदि की नियुक्तियों का प्रमाण प्रचुरता से मिलता है। न्याय-व्यवस्था के संबंध में विस्तृत विवेचना इसी अध्याय में अलग से की गयी है।

राज्य में आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए आन्तरिक सुरक्षा-विभाग की स्थापना की जाती थी। अभिलेखों में इस विभाग के अधिकारियों को चोरोद्धरणिक और दण्डपाशिक नाम से अभिहित किया गया है। इस विभाग के कर्मचारी नगरों में चोरों और अपराधियों को पकड़कर तथा उन्हें दण्ड देने के उद्देश्य से कालपाशिक, दण्डपाशिक अथवा चोरोद्धरणिक नामक पदाधिकारियों के सुपुर्द करते थे।[43]

प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार किया गया है कि चारों वर्णाश्रमों को अपने-अपने कर्मो और कर्त्तव्य-भावना में संलग्न किये रखना राजा का परम कर्त्तव्य है।[44] इसी उद्देश्य की पूर्ति-हेतु राजा द्वारा पृथक् धर्म-विभाग की स्थापना की जाती थी। राजा अपने इस परम दायित्त्व का निर्वाह धार्मिक विषयों के मंत्रालय द्वारा करता था, जो परम्परागत रूढ़ियों के पालन के साथ अपवादी और आकस्मिक परिस्थितियों की भी व्यवस्था करता था। राजा अपने धार्मिक उत्तरदायित्व की पूर्ति 'पुरोहित' अथवा 'पण्डित' नामक पदाधिकारी को माध्यम से करता था, जिसे विभिन्न समय में भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है, यथा—धर्माध्यक्ष, धर्ममहामात्य, विनयस्थिति, श्रमणमहामात्र, स्थापक, धर्मांकुश आदि।[45] रामायण में इस विभाग के प्रधान अधिकारी को 'धर्मपाल' नाम से अभिहित किया गया है।[46] इस विभाग के अधीन विभिन्न धार्मिक कार्यो के लिए दान आदि देने के लिए एक पृथक्

अधिकारी का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसे 'दानपति' कहा जाता था। मन्दिर आदि धार्मिक स्थलों की देखभाल के लिए 'अग्रहारिक' नामक अधिकारी की नियुक्ति किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। अग्रहारिक राज्य में इस बात का ध्यान रखता था कि राज्य द्वारा दिये गये दान का उचित व्यक्तियों अथवा व्यक्ति द्वारा उचित प्रयोग किया जा रहा है अथवा नहीं। दान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति कहीं अपने अधिकारों से किसी कारणवश वंचित तो नहीं कर दिया गया है, यह देखना भी 'अग्रहारिक' का कार्य था।[47]

राज्य की सर्वांगीण उन्नति तथा विकास-योजनाओं को क्रियान्वित करना राष्ट्र-विकास-विभाग का दायित्व था। राज्य की भौतिक श्रीवृद्धि तथा कृषि का विकास भी इसी विभाग के अन्तर्गत आता था। इस विभाग के मंत्री को 'राष्ट्रवर्धन' कहा गया है।[48]

सन्दर्भ-संकेत

1 काणे, पी वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ 628

1क. अथर्ववेद, 3/5/6-6; पचविश ब्राह्मण, 19/1/4

2 वा रामायण, 2/100/30, महाभारत, विराटपर्व, 5/38

3. परमात्माशरण, प्राचीन भारत मे राजनीतिक विचार एव सस्थाएँ, पृ 392

4 विष्णुस्मृति, 3/16, राजतरंगिणी, 1/118/20ए 4/141 और आगे

5. जायसवाल, काशीप्रसाद, हिन्दू राजतत्र, पृ. 260

6 अल्टेकर, ए. एस., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 143

7 भट्ट, जनार्दन, अशोक के धर्मलेख, पृ 68-82

8 ला, एन. एन , इन्टरस्टेट रिलेशन इन ऐन्शियण्ट इण्डिया, पृ 343

9. रघुवंश, 17/68

10 काणे, पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ 644-45

11. अर्थशास्त्र, 2/10

12. अल्टेकर, ए. एस , प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 139

13 बैनीप्रसाद, दी स्टेट इन एन्शियण्ट इण्डिया, पृ. 212

14. एपि. इण्डि., जिल्द 3, पृ. 206, एपि इण्डि. जिल्द 9, पृ 64

15. अविमारक, अंक 3

16. शुक्रनीति, 2/119

17. मजूमदार, आर. सी., हिस्ट्री आव् बगाल, पृ. 284

18 मिश्र, सुदामा, प्राचीन भारत मे जनपद राज्य, पृ. 121

19. अर्थशास्त्र, 1/20
20. अग्रवाल, वासुदेवशरण, इण्डिया एज् नोन टू पाणिनि, पृ. 406
21 अभिज्ञानशाकुन्तल, 5/3, मृच्छकटिक, अक 9
22 मालविका., अंक 5
23 शुक्रनीति, 2/119
24. अभिषेक, अक 4
25 रघुवंश, 4/36
26 पंचरात्रम्, अंक 2
27. सिंह, सभापति, प्राचीन भारतीय सैन्य व्यवस्था, पृ 313
28. प्रतिज्ञा., अंक 4
29. अल्टेकर, ए. एस., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. 146
30. राजतरंगिणी, 7/365, एपी. इण्डि., भाग-2, पृ. 225
31 मिश्र, सुदामा, प्राचीन भारत में जनपद राज्य, पृ. 115
32 अल्टेकर, ए. एस , प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 147
33 वा रामायण, 3/43/33, 6/83/35-39
34 अर्थशास्त्र, 1/17
35. मनुस्मृति, 7/65
36 अर्थशास्त्र, 1/12/8
37 शुक्रनीति, 2/118
38 अल्टेकर, ए. एस., प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 148
39. शुक्रनीति, 2/119
40 एपि. इण्डि , भाग-13, पृ. 239
41. मजूमदार, आर. सी., हिस्ट्री ऑफ बगाल, पृ 224
42 एपि. इण्डि , भाग-13, पृ. 71
43 एपि. इण्डि , भाग-16, पृ 73
44 महाभारत, शान्तिपर्व, 25/35
45 अल्टेकर, ए एस , प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ 152
46. वा. रामायण, 1/5723
47. मजूमदार, आर. सी., हिस्ट्री ऑफ बगाल, पृ. 224-226
48 वा रामायण, 1/57/2-4

—उपाचार्य-इतिहास विभाग
सं. ध. स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)

श्रमणचर्या का अभिन्न अंग अनियतविहार

–डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

श्रमण का जीवन सर्वश्रेष्ठ है, इसीलिए गृहस्थ व्रतों का पालन करता हुआ प्रतिपल/प्रतिक्षण यही चिन्तन करता है कि वह दिन कब आयेगा जिस दिन मैं श्रमणधर्म को ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक करूँगा। चिन्तन मनन के फलस्वरूप गृहस्थ गृहवास का त्याग कर रत्नत्रयधारी निर्ग्रन्थ वीतरागी गुरु की शरण में पहुँचकर स्वेच्छाचार विरोधिनी जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार करके श्रमण (साधु) के स्वरूप को प्राप्त करता है। जीवन को मंगलमय बनाता है, उसका मूल उद्देश्य विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना, प्रदर्शन न कर आत्मदर्शन करना, केवल आत्मविकास के पथ पर आगे बढते रहना होता है।

मूल उद्देश्य को ध्यान में रखकर नव दीक्षित साधु अपने गुरु के साथ संघीय परम्पराओं का पालन करते हुए देश देशान्तर में विहार करता है। आत्मा की साधना में लीन रहते हुए धर्म प्रभावना करता है। दीक्षा लेने के बाद साधु का विहार निरन्तर होता है। साधु के विहार के प्रसंग में आचार्य वट्टकेर स्वामी लिखते हैं–

गहिदत्थेय विहारो विदिओऽगिहिदत्थ संसिदो चेव।
एत्तो तदिय विहारो णाणुण्णादो जिणवरेंहिं।। 140।। मूलाचार

विहार के गृहीतार्थ विहार और अगृहीतार्थ विहार ऐसे दो भेद हैं, इनके सिवाय जिनेश्वरों ने विहार की आज्ञा नहीं दी है।

जीवादि तत्त्वों के स्वरूप के ज्ञाता मुनियों का जो चरित्र का पालन करते हुए देशान्तर में विहार है, वह गृहीतार्थविहार है और जीवादि तत्त्वों को न जानकर चरित्र का पालन करते हुए जो मुनियों का विहार है, वह अगृहीतार्थसंश्रितविहार है। इन दोनों प्रकार के विहारों के अर्थ को समझकर

यह ज्ञात होता है कि साधु को एक स्थान पर ही रहने का विधान नहीं है, वह तो एक गांव से दूसरे गॉव या एक नगर से दूसरे नगर में जाता रहता है, मूलाचार में कहा है—गांव में एक दिन तथा नगर में पांच दिन अधिक से अधिक रहकर विहार कर जाता है जैसा कि आचार्य सकलकीर्ति ने लिखा है—प्रासुक स्थान में रहने वाले विविक्त एकान्त स्थान में निवास करने वाले मुनि किसी गांव में एक दिन रहते हैं और नगर मं पांच दिन रहते हैं।[1] चर्यापरीषह के वर्णन प्रसंग में यही बात भट्टाकलंकदेव ने कही है।[2] श्वेताम्बर साहित्य में भी यही बात आयी है। निर्ग्रन्थमुनि को एक स्थान पर रहने की अनुमति नहीं दी गई है। वह तो भारुण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त होकर ग्रामानुग्राम विहार करता है। विहार की दृष्टि से काल दो भागों में विभक्त है एक वर्षाकाल और दूसरा ऋतुबद्ध काल। वर्षाकाल में श्रमण को साढ़े तीन माह या चार माह तक एक स्थान पर रुकना चाहिए। हॉ कार्तिक कृष्णा अमावस्या को चातुर्मास पूर्ण हो जाय तो कार्तिक शुक्ला पञ्चमी तक तो अवश्य उसी स्थान पर रुकना चाहिए इसके बाद कार्तिक पूर्णिमा तक भी धर्मप्रभावना या अन्य अपरिहार्य कार्यवश उसी स्थान पर साधु रुक सकते हैं।[3] दूसरा ऋतु काल है जिसमें स्वाध्याय आदि के निमित्त गुरु आज्ञापूर्वक एक माह रुकने का भी विधान है। कहा भी है—वसन्तादि छहों ऋतुओं में से प्रत्येक ऋतु में एक मास पर्यन्त ही एक स्थान पर साधु रहे। अनगार धर्म 9/68-69 वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः।। भ. अ. वि. टी. 421 अर्थात् वर्षाकाल के चार माहों में भ्रमण का त्यागकर एक ही स्थान पर आवास करना चाहिए।

वर्षा ऋतु में चार माह एक स्थान पर रुकने का कारण है, वर्षा ऋतु में चारों ओर हरियाली होने से मार्गो के अवरुद्ध होने तथा पृथिवी त्रस-स्थावर जीवों की संख्या बढ़ जाने से संयम आदि का पालन कठिन हो जाता है। अनगारधर्मामृत में वर्षावास के सम्बन्ध में कहा है कि—आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम प्रहर में चैत्यभक्ति आदि करके वर्षायोग ग्रहण करना चाहिए तथा कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के पिछले प्रहर में चैत्यभक्ति आदि करके वर्षायोग छोड़ना चाहिए। अनगारधर्मामृत 9/68-69

गामेयरादिवासी णयरे पंचातवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विविक्त एगांतवासी।। मू. आ.-487

बोधपाहुड टीका में इस प्रकार कहा है कि—वसितै वा ग्राम नगरादौ वा स्थातव्यं नगरे पंचरात्रे स्थातव्यं ग्रामे विशेषेण न स्थातव्यम् (42/107) अर्थात् नगर में पांचरात्रि और गांव में विशेष नहीं रहना चाहिए। वर्षावास समाप्त होने पर श्रमण को विहार तो करना ही होता है किन्तु यदि वर्षा का आधिक्य हो नदी नालों के तीव्र प्रवाह के कारण मार्ग दुर्गम हो गये हों कीचड़ आदि की अधिकता हो या बीमारी आदि का भी कारण हो तो साधु वर्षायोग के बाद भी नगर ग्राम के जिनमन्दिर में ठहरे रह सकते हैं।

आचार्यवर्य सिद्धान्तसार संग्रह में वर्षाकाल में मुनि को समिति क्षेत्र से बाहर जाने की परिस्थियों को भी दर्शाते हैं—

द्वादश योजनान्येव वर्षाकालेऽभिगच्छति।
यदि संघस्य कार्येण तदा शुद्धो न दुष्यति।। 10/59
यदि वाद-विवादः स्यान्महामतविघातकृत।
देशान्तरगतिस्तस्मान्न च दुष्टो वर्षास्वपि।। 10/60

वर्षाकाल में संघ के कार्य के लिए यदि मुनि बारह योजन तक कहीं जायेगा तो उसका प्रायश्चित्त ही नहीं है और यदि वाद-विवाद से महासंघ के नाश होने का प्रसंग हो तो वर्षाकाल में भी देशान्तर जाना दोषयुक्त नहीं है।

भगवती आराधना में तो अनियतविहार नामक साधु की चर्या का पृथक् अधिकार ही है। इसमें अनियतविहार द्वारा साधु में दर्शन की शुद्धता, स्थितिकरण, भावना, अतिशयार्थकुशलता, क्षेत्रपरिमार्गणा गुणों की उत्पत्ति बतायी है।[4]

अनेक क्षेत्रों में विहार करने से साधु तीर्थकरों की जन्म, तप, ज्ञान और समवशरण की भूमियों के दर्शन और ध्यान करने से अपने सम्यक्त्व को निर्मल रखता है। जगह-जगह विहार के काल में अन्य वीतरागी साधकों से मिलने पर संयम की अभिवृद्धि होती हे उनके उत्तम चारित्र को जानकार स्वयं उत्तम

चारित्र पालन के प्रति उत्साह बढ़ता है। सदाकाल विहार करते रहने पर धर्म में प्रीति बढ़ती हैं। पाप से भयभीत रहता है। सूत्रार्थ में प्रवीणता आती है।[5] दूसरे के संयम को देखने से धर्माराधकों की धर्माराधना को देखने से स्वयं को धर्म में स्थितिकरण की भावना जगती है।[6] निरन्तर विहार करने वाले साधु को चर्या परीषह होती है, कंकण मिट्टी पैरों में चुभती है। पादत्राण रहित चरणों से मार्ग में चलने पर जो वेदना उत्पन्न होती है उसे संक्लेश भाव रहित सहन करने पर चर्यापरीषह सहन होती है जिससे संयम की वृद्धि होती है। क्षुधा, तृषा, शीत उष्ण परीषह सहन की शक्ति बढ़ती है।[7] अनेक क्षेत्रों में विहार करने वाले साधु को अतिशय रूप अर्थ में प्रवीणता भी आ जाती है। जैसा कि कहा है–

णाणादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाणं।
अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण।। भग. आ. 153

नवीन-नवीन स्थानों पर विहार करने से अनेक देशों के रीति-रिवाज का ज्ञान होता है लोगों के चारित्र पालन की योग्यता-अयोग्यता की जानकारी होती है। अनेक मन्दिरों आदि स्थानों पर विराजमान शास्त्रों में प्रवीणता होती है। अर्थ बोध होता है। अनेक आचार्यों के दर्शन लाभ से अतिशय रूप अर्थ में कुशलता भी होती है।[8]

देशान्तरों में विहार करने वाले साधु को उस क्षेत्र का परिज्ञान होता है जो क्षेत्र कर्दम, अंकुर त्रस जीवों की बहुलता से रहित हैं। जीव बाधा रहित गमन योग्य क्षेत्र को भी जान लेता है। जिस क्षेत्र में आहार पान मिलना सुलभ होता है और सल्लेखना आदि के योग्य होता है उसका भी ज्ञान होता है। इसलिए अनियतविहार आवश्यक है।[9]

इसी सम्बन्ध में और भी कहा है–

प्रेक्ष्यन्ते बहुदेश संश्रयवशात्संवेगिताद्यांप्तय-
स्तीर्थाधीश्वर केवली द्वयमही निर्वाणभूम्यादयः।
स्थैर्यं धैर्यं विरागतादिषु गुणेष्वाचार्यवर्यैं,
क्षणद्विधा वित्तसमागमाधिगमो नूनार्थ सार्थस्य च।।

अनियतविहार करने में अनेक देशों का आश्रय लेना पड़ता है जिसमें संवेग वैराग्य आदि अनेक गुणों को धारण करने वाले अनेक आप्तजनों के पूज्य पुरुषों के दर्शन होते हैं। तीर्थङ्करों को जहाँ जहाँ केवलज्ञान प्रगट हुआ है अथवा जहाँ जहाँ निर्वाण प्राप्त हुआ है उन समस्त तीर्थक्षेत्रों के दर्शन प्राप्त होते हैं। अनेक उत्तमोत्तम आचार्यों के दर्शन से धीरता वैराग्य आदि तथा उत्तम गुणों से स्थिरता प्राप्त होती है और विद्यारूपी धन की प्राप्ति होने से निश्चित अर्थो के समूह का ज्ञान होता है।

अनियतविहारी साधक की सल्लेखना भी ठीक तरह से होती है क्योंकि वह जगह-जगह विहार करते रहने के कारण उन स्थानों में भी परिचित होता है, जहाँ धार्मिकता होती है। एकान्त, शान्त, निराकुलता रह सकती है। नियतवासी प्रायः स्थान विषयक अथवा अपने निकटस्थ लोगों के प्रति रागभाव रखने लगते हैं अतः दूसरे अपरिचित स्थान और मनुष्यों के बीच पहुँचकर साधक भली प्रकार से सल्लेखना ग्रहण कर आत्मकल्याण कर सकता है कहा भी है—

सद्रूपं बहुसूरि भक्तिकयुतं क्षमादि दोषोज्झितं,
क्षेत्रपात्रमीक्ष्यते तनुपरित्यागस्य निःसंगता।
सर्वस्मिन्नपि चेतनेतर बहिः संगे स्वशिष्यादिके,
गर्वस्यापचयः परीषहजयः सल्लेखना चोत्तमा।।

मुनिराज को सल्लेखना धारण करने के लिए ऐसे क्षेत्र देखने चाहिए, जहाँ पर राजा उत्तम धार्मिक हो, जहाँ के लोग सब आचार्यादिकों की बहुत भक्ति करने वाले हों तथा जहाँ के लोग आचार्यादिकों की बहुत भक्ति करवाने वाले हों। जहाँ पर निर्धन और दरिद्र प्रजा न हो। इसी प्रकार पात्र ऐसे देखने चाहिए जिनके शरीर त्याग करने में भी निर्मोहपना हो तथा अपने शिष्यादिकों में भी अभिमान न हो और जो परिषहों को अच्छी तरह जीतने वाले हों ऐसा क्षेत्र और पात्रों को अच्छी तरह देखकर सल्लेखना धारण करनी चाहिए।

उक्त व्यवस्था अनियतविहारी साधु की ही बन सकती है, जो एक स्थान

पर रहते हैं, उनकी सल्लेखना समाधि भी आगमोक्त रीति से कैसे संभव है? अतः वर्तमान में मुनि/आर्यिका/त्यागी/व्रती सभी को विचार करना चाहिए कि जीवन भर की सार्थकता निहित स्वार्थ के कारण न खो जाय।

मूलाचार प्रदीप में कहा है—प्रासुक स्थान में रहने वाले और विविक्त एकान्त स्थान में निवास करने वाले मुनि किसी गाँव में एक दिन रहते हैं और नगर में पाँच दिन रहते हैं। सर्वथा एकान्त स्थान को ढूँढ़ने वाले और शुक्लध्यान में अपना मन लगाने वाले मुनिराज इस लोक में गंध-गज (मदोन्मत्त) हाथी के समान ध्यान के आनन्द का महासुख प्राप्त करते हैं। 31-32

आचार्य शिवार्य वसतिका आदि में ममत्व के अभाव को भी अनियतविहार मानते हैं—

वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे।
सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो।। भग. आ. 153

वसतिका में, उपकरण में, ग्राम में, नगर में, संघ में, श्रावकों में ममता के बन्धन को न प्राप्त होने वाला अनियतविहार करने वाला साधु है। अर्थात् जो ऐसा नहीं मानता कि यह वसतिका मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ सभी परद्रव्यों, परक्षेत्रों, परकालों से नहीं बंधा हूँ वह अनियमितविहार करने वाला है।

उक्त सभी लाभ अनियतविहार करने वाले को ही प्राप्त हो सकते हैं, जो एक स्थान पर रहकर धर्म का पालन करना चाहें, वह संभव नहीं है।

साधु को निरन्तर विहारी होने के कारण श्रेष्ठ कहा है कवि ऋषभदास ने कहा है—

स्त्री पीहर, नरसासरे संयमियां थिरवास।
ऐ त्रणवे जलखामणा जो मण्डेचिरवास।।

अर्थात् स्त्री का मायके रहना, पुरुष का ससुराल में रहना और साधुओं का एक स्थान पर रहना तीनों ही अनिष्टकारी हैं।

हिन्दी के किसी कवि ने भी कहा है–

वहता पानी निर्मला, बन्धा सो गन्दा होय।
साधु तो रमता भला दाग न लागे कोय।।

साधु व्रती श्रेष्ठ कहा गया है जो एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थानों को जाता है। साधु के निवास के विषय में शास्त्रों में विशद विवेचन किया गया है। वे मुनिराज पहाड़ों पर ही पर्यकासन अर्धपर्यकासन व उत्कृष्ट वीरासन धारण कर व हाथी की सूंड के समान आसन लगाकर अथवा मगर के मुख का सा आसन लगाकर अथवा एक करवट से लेटकर अथवा कठिन आसनों को धारण कर पूर्ण रात्रि बिता देते हैं।

भट्टाकलंकदेव साधु के योग्य निवास के सम्बन्ध में लिखते हैं "शय्या और आसन की शुद्धि में तत्पर साधु को स्त्री, क्षुद्र, चोर, महापापी, जुआरी, शराबी और पक्षियों को पकड़ने वाले पापी जनों के स्थान में वास नहीं करना चाहिए तथा श्रृंगार विकार, आभूषण, उज्जवल वेश, वेश्या की क्रीड़ा से अभिराम (सुन्दर) गीत नृत्य वादित्र आदि से व्याप्त शाला आदि में निवास का त्याग करना चाहिए। शयनासन शुद्धि वाले हैं संयतों को तो अकृत्रिम (प्राकृतिक) पर्वत की गुफा वृक्ष, से नहीं बनाये गये हो और जिनके बनने बनाने में अपनी ओर से किसी तरह का आरम्भ नहीं हुआ है ऐसे स्वाभाविक रीति से (अकृत्रिम) बने हुए पर्वत की गुफाएं या वृक्षों के कोटर आदि तथा बनवाये हुए सूने मकान वसतिका आदि अथवा जिनमें रहना छोड़ दिया गया है अथवा छुड़ा दिया गया है ऐसे मोचितावास आदि स्थानों से रहना चाहिए।

वर्तमान में वसतिकाएं निर्माण की होड़ लगी हुई है चाहे वह किसी भी नाम से निर्मित करायी जाय। हाँ गृहस्थ का आवास आठ दस कमरों का हो सकता है किन्तु मुनि की वसतिकाएं बहुमंजली इमारतों से युक्त विशाल परिसर में नाना विभागों से अलंकृत होने से ही गौरव है। तभी तो मुनि या आर्यिका पचास लाख या करोड़ों की परियोजना में जुटे हुए हैं। ऐसा करने में ही तो पूर्वाचार्यों के कथन का उल्लंघन कर अपना श्रेष्ठत्व

स्थापित करने की सफलता है क्योंकि पूर्वाचार्यों ने तो गिरी कंदरा या वन में निवास करने को कहा हैं—शून्यघर, पर्वतगुफा, वृक्षमूल, अकृत्रिमघर, श्मशानभूमि, भयानक वन, उद्यानघर, नदी का किनारा आदि उपयुक्त वसतिकाएं हैं।[10] बोधपाहुड़ में भी कहा है इनके अतिरिक्त अनुदिष्ट देव मन्दिर, धर्मशालाएं, शिक्षाघर आदि भी उपयुक्त वसतिकाएं हैं।

जिनेन्द्रमन्दिरे सारे स्थितिं कुर्वन्ति येऽङ्गिनः।
तेभ्यः संवर्द्धते धर्मो धर्मात्संपत् परानृणाम्।।

श्रेष्ठ जिनमन्दिर में जो मुनिराज आदि ठहरते हैं, उनसे धर्म बढ़ता है और धर्म से मनुष्यों को श्रेष्ठ सम्पत्ति की प्राप्ति होती है और भी कहा है—

मुनिः कश्चित् स्थानं रचयति यतो जैनभवने,
विधत्ते व्याख्यानं यदवगमतो धर्मनिरताः।
भवन्तो भव्यौघा भवजलधिमुत्तीर्यसुखिनर—
ततस्तत्कारी किं जनयति जनो यन्न सुकृतम्।।

यतश्च जिनमन्दिर में कोई मुनिराज आकर ठहरते हैं, तथा व्याख्यान करते हैं, जिनके ज्ञान से भव्य जीवों के समूह धर्म में लीन होते हुए संसार समुद्र को पारकर सुखी होते हैं। अतः जिनमन्दिर के निर्माण कराने वाला पुरुष ऐसा कौन पुण्य है, जिसे न करवाता हो।

साधु के योग्य निवास के सम्बन्ध में आचार्य अकलंक यह लिखते हैं— संयतेन शयनासन शुद्धिपरेण। स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौण्ड शाकुनिकादिपापजनवासावर्ज्याः शृंगारविकारभूषणोज्जवलवेषवेश्याक्रीड़ाभिरामगीतनृत्यवा—दित्ताकुलशालादयश्च परिहर्तव्या। अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादयःकृत्रिमाश्च शून्यागारादयो, मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वतिता निराम्भा सेव्या। (तत्त्वार्थवार्तिक 9/5 पृ. 552)

शय्या और आसन की शुद्धि में तत्पर साधु को स्त्री, क्षुद्र, चौर, मद्यपायी, जुआरी, शराबी और पक्षियों को पकड़ने वाले आदिं पापी जनों के स्थान में वास नहीं करना चाहिए तथा शृंगार, आभूषण, उज्जवल, वेश की क्रीड़ा से अभिराम

(सुन्दर) गीत, नृत्य, कादित्र आदि से व्याप्त शाल आदि में रहने का त्याग करना चाहिए। शासनासन शुद्धि वाले संयतो को तो अकृत्रिम (प्राकृतिक) पर्वत की गुफा, वृक्ष के कोटर आदि तथा कृत्रिम शून्यागार छोड़े हुए घर आदि ऐसे स्थानों में रहना चाहिए, जो उनके उद्देश्य से नहीं बनाये गये हो और जिनमें उनके लिए कोई आरम्भ न किया गया हो।

मुनियों का निवास तीन प्रकार का होता है। स्थान—खड़े होना, आसन—बैठना और और शयन-सोना।

इस प्रकार की वसतिकाओं में निवास करने पर ही परीषहजय नामक तप की पूर्णता होगी आचार्यो ने प्रत्येक परीषह का स्वरूप बताकर उन पर जय प्राप्त करने वाले साधकों की प्रशंसा की है।

जैनाचार्य मठ, आश्रम आदि में स्थायी निवास करने की मुनि/आर्यिका को अनुमति प्रदान नहीं करते हैं। न जाने वर्तमान में यह प्रवृत्ति क्यों बढ़ रही है कि साधु/साध्वी/त्यागी व्रती अपनी देख-रेख में कोई न कोई आश्रम/मठ/संस्थान/संस्था का निर्माण कराकर उसी को अपना निवास बना रहे हैं। आस्था से जकड़ी समाज साधु/साध्वी/त्यागी/व्रती के कहने पर शक्ति के अनुसार अर्थ सहयोग करती है और उनकी बलवती इच्छाओं को पूर्ण करना अपना कर्त्तव्य समझती है। यदि कोई प्रबुद्ध समाज के मध्य कहता है कि अपरिग्रही साधक को परिग्रही बनाकर धर्म की हानि क्यों की जा रही है। साधुओं को एक स्थान पर नहीं रहना चाहिए गृहस्थों के साथ रहने पर परीषह भी आ जाते हैं जिससे साधक की साधना में दोष लगने की संभावना रहती है। इसका उत्तर समाज के पास होता है कि ये मुनि/आर्यिका अपने साथ तो नहीं ले जायेगें। रहेगी तो अपने पास अपने लोगों के ही कार्य आयेगी। इनके निमत्ति से बाहर का रुपया हमारे गृह स्थान या तीर्थ स्थान पर लग रहा है। इसी लोभ, कषायवश स्थानीय समाज साधु/साध्वी/त्यागी/व्रती का पूर्ण बढ़ चढ़कर सहयोग करते हैं। यह सहयोग नहीं है अपितु श्रमण संस्कृति को दोषपूर्ण बनाने का कारण ही है क्योंकि यह व्यवस्था साधुओं को भी प्रलोभन में फंसा देती है और याचना भी करनी पड़ती है।

साधु सोचने को तैयार नहीं कि याचनाशील होने पर मैं मोक्षमार्ग से च्युत हो जाऊँगा। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने याचना करने वाले को मोक्षमार्ग से पृथक् माना है।

जे पंच चेल सत्ता गथग्गाहीय जायणासीला।
अधा कम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।। 79 मो. पाहुड़

जो पांच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं परिग्रह को ग्रहण करने वाले हैं याचना करते हैं तथा अधःकर्म निंद्यकर्म में रत हैं, वे मुनि मोक्षमार्ग से पतित हैं। परिग्रही साधक विशुद्धि को भी प्राप्त नहीं होता है जैसा कि कहा है–

वैषम्ययत्यप्यं दिव्यं स्वीयमनिन्धं यद् द्रव्यम्।
निश्चयनयस्य विषयगृहीव परिगृही नाव्यम्।।

यह परिग्रहवान् मुनि भी निश्चयनय के विषयभूत अनिन्दनीय दिव्य और अविनाशी स्वकीय द्रव्य को गृहस्थ के समान प्राप्त नहीं होता अर्थात् जिस प्रकार परिग्रही गृहस्थ शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार परिग्रही साधु भी नहीं प्राप्त होता है। अतः विशुद्धि को बढ़ाने के लिए साधुओं का एक स्थान विशेष पर जीवन भर या लम्बी अविध रुकने का मोह नहीं होना चाहिए जिससे उनका 'अनियमित विहार' चलता रहेगा और वे आगम की मर्यादा की सुरक्षा करते हुए मोक्षमार्ग की महती प्रभावना कर सकेंगे।

सन्दर्भ

1. मूलाचार प्रदीप 31
2. तत्वार्थवार्तिक भा. पृ. 595
3. बृहत्कल्पभाष्य 1/36
4. दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्तं।
   खेतपरिमग्गणावि य अणियदवा ते गुणा होंति।। भग. आराधना गा. 147

5 वही पृष्ठ 148, 149, 150

6 सविग्गदरे पासिय पियधम्मदरे अवज्जभीरुदरे।
संयमवि पियथिरधम्मो साधू विहंरतओ होदि।। भग. आराधना गा. 151

7. वही गा. 152

8. सुत्तत्थथिरीकरणं अदिसयिदत्थाण होदि उवलद्धी।
आयरियदंसणेण दु तह्मा सेवेज्ज आयरियं।। भग. आराधना गा. 155

9. संजदजणस्स य जहिं फासुविहारो य सुलभवुत्ती य।
तं खेत्तं विरहन्तो णाहिदि सल्लेहणाजोग्गं।। भग. आराधना गा. 157

10. मूलाचार समाचार अधिकार।

11. मूलाचार प्रदीप 31

12 तत्त्वार्थवार्तिक भाग-2, पृष्ठ 595 *(आर्यिका सुपार्श्वमती माता जी कृत हिन्दी टीका)*

—उपाचार्य-संस्कृत,
दि. जैन कॉलिज, बड़ौत

ढूंढारी भाषा की एक प्राचीन कृति - होली की कथा

—अनूपचन्द न्यायतीर्थ

अभी कुछ दिन पूर्व दिगम्बर जैन मन्दिर चौधरी पान छाजूलाल जी साह की गली जयपुर में हस्तलिखित ग्रंथ भण्डार को देखते समय छीतरठोलिया द्वारा रचित ढूंढारी भाषा की एक प्राचीन पद्य रचना 'होली की कथा' पर दृष्टि पड़ी। रचना के दोनों ओर के मिलाकर 14 पृष्ठ हैं आकार 14 x 5 इंच है, हासिया में दोनो तरफ 1½ x 1½, इंच की जगह छोड़ लाल स्याही की बोर्डर है। लिपि देवनागरी है। प्रत्येक पृष्ठ में 8 पंक्तियां तथा प्रत्येक पंक्ति में काली स्याही से सांगानेरी कागज पर उच्च्य अक्षर हैं—लिखावट सुन्दर है। रचना ऐतिहासिक है। प्रारंभ में मंगलाचरण के साथ जयपुर नगर के वैभव तथा निवासियों की श्रावकों की जानकारी प्रस्तुत की है—

प्रारंभ

ऊँ नमोः श्री वीतरागाय नमः अथ होलिका चरित लिख्यते।।

चौपाई

बंदों आदिनाथ जगसार, जा प्रसाद पाऊँ भवपार।
वर्द्धमान की सेवा करौ, ज्यों संसार बहुरिनहि फिरौ।। 1।।

सारदमाता तणै पसाई, होली कथा कहौं निरताई।
पंडितजन हासौ मति करौ, भूलोअक्षर सोधि विद्वट्वरौ।। 2।।

जंबूदीप जाणै सबकोइ तिहमै मेरु सुदर्शन होई।
मेर भाग की दक्षिण दिसै, भरथ क्षेत्र महिपुर बसै।। 3।।

जयपुर नगर बसै तिहि मांहि, धन करन सोभा कही न जाहि।
स्त्री जन सोभै तहां भली, जाणिक चित्रतणी फूतली।। 4।।

जिण चैत्याल सोभै अती, श्रावक पूज करै दिन प्रती।
करै महोछव मंगलाचार, कामिणि गावै गीत अपार।। 5।।

श्रावक लोक बसै धनवंत, पूजा करै जपै अरिहंत।
जो वर्णे राजा तिहि भलों, राजनीति सोभै गुण निलौ।। 6।।

पटराणी जै प्रिया सुजाणि, गुण लावण्य रूप कीं खानि।
सेठ मनोरथ सोभै भलो, दान पुण्य जाणै गुण निलौ।। 7।।

लक्ष्मीमति सेठाणी जाणि, तिहकी सोभा अधिक बरणाणि।

बीच में होलिका दहन काम कथा का वर्णन करते हुए होली खेलना मिथ्यात्व कहकर जलती हुई होली देखना भी नरक गति का कारण कहा है।

अंतिम 96 से 100 पद्यों में रचनाकार रचना स्थान रचना काल आदि का ऐतिहासिक वर्णन उपलब्ध है–

सोलासैसाठ शुभ वर्ष, फागुण शुक्ल पूर्ण महा हर्ष।। 17।।

सो है मोजमावाद निवास, पूजै मन की सगली आस।
सोभै राइमान कौ राज, जिहिविधी पूरब लग याज।। 18।।

सुखी वसै नगर में लोग, दान पुण्य जाणै सहुलोग।
इहविधि काल गमै दिनरात, जाणै नही दुःख की जाति ।। 19।।

छीतरठोलया विनती करै, हीया में जिणवाणी धरै।
पंडित आगै जोडै हाथ, भूलौ हो तो ज्यो नाथ।। 20।।

भाव भेद हूं जाणै नही, होली तणी कथा मैं कही।
जो सीखै पालै मन लाइ, सो नर स्वर्गतणी गति जाइ।।

मोजमाबाद जयपुर राज्य का प्राचीन नगर है जहां बादशाह अकबर के

प्रमुख सेनापति राजा मानसिंह का राज्य था। कवि ने संवत 1690 में वहीं बैठकर रचना की है तथा वहां के तत्कालीन वैभव का वर्णन किया है। मोजमाबाद में संवत 1694 में विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराने वाले नानूगोधा भी महाराजा मानसिंह के आमात्य थे तथा सदैव मानसिंह के साथ रहते थे। बंगाल विजय, अफगानिस्तान युद्ध में उनके साथ रहकर वहां जैन प्रतिमाएँ भी विराजमान कीं जो आज भी उपलब्ध होती हैं।

ग्रन्थ के अंत में लेखक प्रशस्ति अत्यंत महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक तथ्यों का दिग्दर्शन कराने वाली है। इसमें जयपुरनगर, राजा का नाम तथा छाजूलाल साह की वंशावली तथा चौधरियों के चैत्यालय (मन्दिर) में प्रति लिखवाकर विराजमान करने का उल्लेख है—

लेखक प्रशस्ति

जंबूदीप दीप सिणगार, षटखंड तामाही विस्तार।
जामै आरिजखंडमहान, तामद्धिदेस ढुंढाहरजान।। 103।।

जै नगर सोभा अतिसार, राज करै जैसिंध अवतार।
ईतिभीति जैठै कहु नाहि, जिन मन्दिर सोभाती छाहि।। 104।।

जैनधर्म को भलो उजास, जैनीजन को तहां है वास।
चोपडि बिचि तहां सोभासार, तामद्धि है आवैरि बजार।। 105।।

ताहा मन्दिर चोधरिपातणौ, रिखवदेव नेमीसुर भणे।
राजै और मूरति जिनतणी, दरसन करिपातै अघहरणि।। 106।।

नित्य पूजा जहां होय सुकाल, रातदिवस श्रुतबचै बिसाल।
सुणि नरनारी हर लहाय, आनंद उस में अति ही पाय।। 107।।

होली का चरित्र है सही जान, जामद्धि धर्म तणो व्याख्यान।
ताहिलिखाय चढायो सही, पुण्य तणी महिमा अति कही।। 108।।

दोहा

नावज मोतीराम को, जैतराम सुकहाय।
ताकै पुत्र जतीन है, नाव सुणो मन लाय।। 109।।

पहलो तो स्योलाल है, दूजो कालूराम।
तीजो मोहनराम है, जाति साह अभिराम।। 110।।

चौपई

जाकै पोता दोय सु सार, पहलो छाजूलाल विचार।
दूजो राजूलाल कहाय, गुण जाके वरणे नहिंजाय।। 111।।

सोरठा

बिचलो कालूराम सुरस लिखवायो भावसु।
चढवायो जिनधाम, पढो सुणो सब चावसु।। 112।।

चौपई

पोसवदि असटमिसुभबार, बार भलो जाणो सुक्रवार।
संवत अठारसै सुभ जाणि, ऊपर तीयासीज वखाणण।। 113।।

सोरठा

लिखियो कालूराम, पुस्तक बडा जु भावसु।
चढवायो जिनधाम, पढो सुणो भवि चावसु।। 113।।

दोहा

मंगल पंच परम गुरसही, मंगल राज-पिरजा लही।
पढै सुणै तिण मंगलकही, सबके मंगल जेतै मही।। 114।।

।। इति होली की कथा संपूरण ।।

छाजूलाल जी साह जयपुर में राज्य के सम्मानीय पद पर आसीन थे। उनके नाम से किशनपाल बाजार में गोदीकों के रास्ते में छाजूलाल साह की गली प्रसिद्ध है जिसमें आज भी उनकी विशाल हवेली मौजूद है तथा उनके वंशज श्री हरिशचन्द्रजी एवं कैलाशजी साह रह रहे हैं। छाजूलाल जी की बनवायी एक विशाल नसियां व कुआ दौसा जिला के सैंथल गांव में आज भी मौजूद नसियां में मन्दिर भी बना हुआ है।

कथा की नायिका 'होलिका' है जो नगर सेठ मनोहर एवं लक्ष्मी मति सेठानी की अंतिम चौथी पुत्री है। विवाह के 4-5 दिन पश्चात् ही वैधव्य का पहाड़ टूट पड़ा। पिता अपने घर ले आता है—बहुत दुखी होता है—नीति शास्त्र भी कहते हैं—

पुत्रोपि मूर्खो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रं।
विनास काले च दरिद्रतां च, विनासिना पंच दंहति देहं।।

पति विहीन विधवा का जीवन अभिशाप है। यौवन में भरपूर होलिका ने एक दिन एक सेठ-पुत्र कामपाल (कंवर) को देख कामातुर हो उठी। उधर कामपाल भी इसे देख मिलने का निच्छल हो उठा। कामाग्नि से ज्वलित होलिका ने खाना पीना छोड़ दिया और बीमार हो गई। कोई चिकित्सक के बीमारी हाथ नहीं लगी। बीमारी की खबर सुन तपस्विनी के भेष में दूती ने किसी भी प्रकार की बीमारी को ठीक करने की नगर में घोषणा कराई। दुःखी पिता की प्रार्थना स्वीकार कर दूती घर गई। होलिका से नजर मिलाकर बीमारी का कारण जान लिया और प्रकट में कह दिया कि मेरे सामने कोई बीमारी मुश्किल नहीं है। इसे अवश्य ठीक कर दूंगी। दूती के पूछने पर होलिका ने बताया कि मुझे कामपाल से मिला दो—

सुणो वीनती मेरी, कामपाल की वांछाजेम।
करों उपाव कंवर पै जाइ, ज्योमनवांछित भोगकराइ।।
सुणि दूती विनवै तुम जोग, मेलौकुमरजाइ तुमरोग।।

दूती तत्काल कामपाल (कंवर) के यहां गई, वह भी होलिका के लिये बेचैन

था। दूती ने कंवर के मन की बात जानकर कहा कि सूर्य मन्दिर की जात (यात्रा) के बहाने होलिका का मिलन करा दूंगी।

दूती ने मनोरथ सेठ को पुत्री की बीमारी बताई तथा कहा कि सूर्य मन्दिर की जात (यात्रा) करने पर बीमारी मिटेगी। सेठ ने सूर्य मन्दिर ले जाने की स्वीकृति दे दी। दूती के साथ होलिका जात देने गयी तो कामपाल ने उसका हाथ पकड़ लिया। होलिका ने दूती से कहा– मैं विधवा हूँ-छूने योग्य नहीं हूं–मैं अग्नि में भस्म हो जाऊंगी–

'म्हारो हाथ छिवण नहि जोग, हूँ रंडापड किणविधि जोग'

दूती उसे पिता के घर ले गई–दूती के साथ सो रही होलिका ने सोचा कि दूती मेरी बदनामी कर देगी–अतः इसकी हत्या करूंगी–होलिका ने दूती को आग लगाकर मार दिया तथा आप स्वयं कंवर के साथ चली गई। मनोरथ सेठ ने समझा कि उसकी पुत्री जल गई।

दूती जलकर मरने से व्यंतरी हो गई और नगर वासियों को दुःखी किया। एक दिन दूती किसी के स्वप्न में आयी और कहने लगी–राज्य में सुख चाहते हो तो एक लंबी (ऊंची) लकड़ी के चारों ओर घास फूस लगाकर जलाओ और उस राख (भस्म) को मस्तक पर लगाओ इससे व्यंतरी शांत होगी यह कार्य फागुण शुक्लापूर्णिमा को ही होना है–

ऊँचे काष्ठ को ही होली नाम दिया गया है–यथा
काठ एक ऊँचो अणिज्यो होली नाम ताहिका जाणज्यो
घर आकार करउ सुदनाई फूसला कडी अधिकअणाई
काठ फूस भसम तजु करौ राख ले सिरमादि धरौ
थानै शांति हो इसी शप निश्चैकालिप्रजा की जाप।।
सुणी बात मन माहि घरैड़ सर्व सर्व पति निश्चै करउ
फागुण सुद 505 दिन होइ, होली बालणहो दिन जोइ।

नगर में व्याधि समाप्त होने पर कंवर होलिका के साथ कहीं अन्य प्रदेश में चला गया जहां काम क्रीडा में मग्न रहे। पर-स्त्री एवं पर-पुरुष के सेवन

के महापाप से दरिद्री हो गये। उसी नगर में वापस आये तथा मनोरथ सेठ की दूकान पर अपनी पसंद की साड़ी खरीदने गये। पुरानी पसंद के अनुसार साड़ी लेने पर पिता ने होलिका को पहिचान लिया और अपने घर ले गया—दोनों वही रहने लगे

कथा में कवि ने तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए युवावस्था में विधवा की मनोदशा, बदनामी के डर से दूती की हत्या, पर-स्त्री गमन आदि बुराइयों पर प्रकाश डाला है तथा दुर्गति कारण महापाप बताया है।

जाडयं धियो हरति, सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति, पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति, दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्?।।

सज्जनों का सङ्ग मनुष्यों के बुद्धि की जड़ता को नष्ट करता है। वाणी में सत्य को सींचता है। सम्मान को वृद्धि देता है। पाप को दूर करता है। चित्त को प्रसन्न कर देता है। दिशाओं में यश को फैला देता है। कहिये, क्या नहीं करता?

मुगल साम्राज्य की अहिंसा इतिहास के पन्नों में

—सुरेशचन्द्र जैन, बारोलिया

भारतवर्ष में जैन समाज अपनी समर्पित निष्ठा एवं धर्माचरण के लिए इतिहास में प्रसिद्ध रहा है। जैन धर्मानुयायियों ने अपने आचरण एवं व्यवहार में एकरूपता का प्रदर्शन करके भारतीय समाज के सभी वर्गो का स्नेह अर्जित किया है। इतिहास में कुछ अपवाद भी होते हैं। कभी-कभी कठोर शासक सत्ता में आ जाते हैं और वे राजसत्ता का प्रयोग अपने धर्म प्रचार के लिए अन्य धर्मावलम्बियों की धार्मिक मान्यताओं पर प्रहार भी करते रहे हैं। जैन आचार्यो एवं मुनियों ने सदा से प्राणी मात्र के कल्याण के लिए अपना पावन सन्देश दिया है। हृदय की गहराई से निकली हुई भावना समादर की दृष्टि से देखी जाती है। मुसलमान जब भारत आये तब वे इस देश की परम्पराओं एवं मान्यताओं से परिचित नहीं थे। वे अपने विभिन्न जलवायु एवं भोगोलिक स्थिति के देश से आये थे। मांसाहारी होने के कारण मुस्लिम शासक पशु रक्षा के लिए इतने सचेष्ट नहीं थे जितने मुगल शासक थे। इस युग में मुगल शासक पूरी तरह से भारतीयता के रंग में रंग गये थे।

भारत में मुगल शासन की नीव डालने वाला बाबर बहुत ही उच्च चरित्र एवं उदार विचारो का शासक था। इतिहासकारो ने हिन्दु-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता के इतिहास का विस्तृत वर्णन किया है। बाबर ने हुमायूं के लिए एक वसियतनामा लिखा था। **"भारत के अनेको भागों में सभी धर्मा के लोग निवास करते हैं। उनकी भावना का ध्यान रखना। गाय को हिन्दु पवित्र मानते है अतः गोवध नहीं करना तथा किसी के पूजा के स्थान को नष्ट नहीं करना।"** बाबर की इस वसियत का पालन अकबर-जहांगीर तथा शाहजहाँ ने भी किया था। इस निष्पक्ष नीति का पता पुर्तगाली यात्री सेवाश्चियन मानदिक के एक विवरण से पता चलता है। हुमायूं के पास 50

गायें थी। वह केवल गाय का दूध पीता था। उसने कभी गोमांस का भक्षण नहीं किया।

अकबर का शासनकाल :– मुगल सम्राट अकबर एक राष्ट्रीय शासक था। अकबर ने हिन्दी भाषा के अनेको कवियों को राज्याश्रय प्रदान किया दरबारी कवि यशोगान के साथ सतपथ पर चलने के लिए भी प्रेरित करते थे। उस समय जैन सन्त भी अपने आचार-विचार एवं चारित्रक शुद्धता के कारण विश्व में माने जाते थे। यही कारण है समय-समय पर अनेको राजाओं एवं बादशाहों ने विभिन्न जैनाचार्यो से प्रतिबोध पाकर अपने जीवन को धन्य ही नहीं किया बल्कि जनहित में ऐसे कार्य भी किये जो इतिहास के पन्नो में स्वर्ण अक्षरों में अंकित हो गये हैं। इतिहास के पन्नो को पलट कर देखें तो हमारे पूर्वचार्यो में आचार्य सुहस्तिसूरि ने सम्प्रति राजा को आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने विक्रमादित्य और कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र ने कुमारपाल राजा को प्रभावित किया इस प्रकार अनेको मुनियों ने विभिन्न मुगल राजाओं पर अपना प्रभाव डालकर उनका जीवन परिवर्तन कर जैनधर्म की प्रभावना की है। यदि सभी पर प्रकाश डाला जाये तो ग्रन्थ के ग्रन्थ तैयार हो जायेंगे लेकिन हम यहाँ आगरा से जिसका विशेष सम्बन्ध रहा है ऐसे सम्राट अकबर का उल्लेख करते हैं।

आगरा में अकबर पर किस प्रकार जैन धर्म का प्रभाव पड़ा उसका एक रोचक किस्सा है। अकबर राजमहल में बैठा राजमार्ग का निरीक्षण कर रहा था। मार्ग में जैनधर्म की जयकारो के साथ एक जुलूस निकल रहा था। राजा ने टोडरमल से जानकारी की। टोडरमल ने बताया कि एक जैन महिला चम्पा नाम की है उसने छह महिने का व्रत-उपवास किया है। केवल रात्री से पूर्व गर्म जल के सिवा कुछ भी खाया-पिया नहीं है। उसके उपवास के 5 माह हो चुके हैं। आज जैनधर्म का कोई विशेष पर्व होने के कारण उत्सव के साथ जिन मन्दिर में दर्शन हेतु जा रही है। राजा को इतनी कठोर साधना का विश्वास नहीं हुआ। उसने परीक्षण हेतु चम्पा बहिन की पालकी को राजमहल में लाने की आज्ञा दी थी। उसने उस महिला की आकृति की परीक्षा की थी। उसका तेजस्वी मुख देखकर तपस्या के विषय में काफी कुछ सत्यता प्रतीत होने पर भी उसकी पूरी परीक्षा करने के लिए एक मास तक अपने एकान्त महल में

पूर्ण सुरक्षा के साथ रहने की आज्ञा दी तथा अपने सेवको को चम्पा बहिन की दिनचर्या के बारे में पूर्ण जानकारी देने का आदेश दिया। एक माह बाद राजा को उसके आचरण का पता चला। बादशाह आश्चर्यचकित हो गया तथा चम्पा बहिन से पूछा तुम ऐसा क्यों करती हो। उसने कहा मैं अपने आत्मकल्याण हेतु गुरु के आदेशो से करती हूँ तब से अकबर ने जैन गुरुओं से सम्पर्क किया। बस यहीं से अकबर के मन में जैन आचार्यो के दर्शन की जिज्ञासा हुई। उनको आगरा आने का निमन्त्रण दिया। उस समय अहमदाबाद में हरिविजय सूरी विराजमान थे। राजा के अनुरोध पर ज्येष्ठ सुदी 13 संवत् 1634 (सन् 1582) को आचार्य हरिविजयसूरि फतेहपुरसीकरी पहुँच गये। वह 13 विद्वानों के साथ अकबर के दरबार में पधारे। बादशाह ने रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठने के लिए अनुरोध किया। आचार्य ने कहा जैन शास्त्रों में केवली (सर्वज्ञ) द्वारा अहिंसा वादियो के लिए वस्त्र आदि पर पाँव रखने की भी मनाही है। हमारा आचरण देखकर चलना व बैठना है। जिससे किसी जीव को दुःख ना हो। जीवो के प्रति ऐसी दया देखकर राजा आश्चर्य में पड़ गया। उसने मन में सोचा कि रोज सफाई होती है जीव नहीं हैं उसने गलीचे को थोड़ा उठाया तो चींटिया दिखाई दीं। त्यागियों के लिए वस्त्र तथा धातु को स्पर्श करना आचरण के विरूद्ध है। गुरु वह होते है जो पाँच महाव्रतो का सत्य, अहिंसा, आचार्य, ब्रहमचर्य और अपरिग्रह का पालन करते हैं तथा स्वभाव रूप सामयिक में हमेशा लीन रहते है। जनता को धर्म का उपदेश तथा जनकल्याण की बातों से अवगत कराते हैं। वह किसी वाहन गाड़ी-घोडा, रथ, ऊँट का भी उपयोग नहीं करते। मन-वचन-काया से किसी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाते तथा 5 इन्द्रियों को वश में करते हैं। सम्राट से अहिंसा, दया के बारे में चर्चा हुई। हिंसा व मांसाहार करने वाला पाप का भोगी होता है। मारने वाला, मांस खाने वाला, पकाने वाला, बेचने वाला, खरीदने वाला, अनुमति देने वाला ये सभी पाप के भागीदार होते हैं। अहिंसा के बारे में विस्तार से चर्चा हुई। शंका समाधान हुआ। इससे अकबर के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा अकबर ने विशुद्धता एवं चारित्र से प्रभावित होकर आचार्यों से आगरा में ही चार्तुमास करने का अनुरोध किया।

पर्युषण के दिन निकट आने पर प्रमुख श्रावक बादशाह के पास गये, उन्होंने पर्युषण के दिनों में जीव हिंसा निषेध का निवेदन किया। बादशाह ने हिंसा बन्द करने का फरमान लिख दिया। **सम्वत् 1634 (सन् 1582) में पर्यूषण के दिनों जीव हत्या पर रोक लगा दी। अकबर ने पिंजडो में बन्द पक्षियों को मुक्त कर दिया। फतेहपुरसीकरी के डावर तालाब में मछलिया ना पकडने का आदेश दिया।** अकबर को जैन सन्तो के चारित्र, विशुद्धता ने इतना प्रभावित किया कि जो शासक सवासेर चिड़ियों की जीभ प्रतिदिन खाया करता था; उसने मांसाहार का त्याग कर दिया।

बादशाह अकबर और कविवर पं. बनारसीदास :– कविवर बनारसीदास बादशाह अकबर के स्नेहपात्र थे। कविवर बनारसीदास ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि अकबर की मृत्यु का समाचार सुना तो वह बेहोश हो गये। जनता में हाहाकार मच गया। यह तथ्य उस सम्राट की लोकप्रियता का सूचक था। एक ऐतिहासिक तमिल ग्रन्थ में लिखा है बनारसीदास द्वारा सदुपदेश देने से भी अकबर काफी प्रभावित हुआ था। ग्रन्थ में लिखा है– अकबर के राज्यकाल में आगरा में बनारसीदास नाम के एक गृहस्थ रहते थे। राजा ने उनको दरबार में बुलाया और कहा कि मैं तुम्हारे साधु जीवन से बहुत प्रभावित हूँ। तुम अपनी इच्छा से कुछ मांग लो। उनका उत्तर था कि परम ब्रह्मा ने (भाग्य ने) मुझको आवश्यकता अनुसार से ज्यादा दिया है मुझे कोई जरूरत नहीं है। अकबर ने बार-बार कुछ मांगने का आग्रह किया। बनारसीदास ने कहा कि यदि देना है तो मेरी प्रार्थना है कि मुझे फिर कभी इस राजमहल में ना बुलायें। मेरा समय भगवान की भक्ति आत्म चिन्तन में लगा रहे। राजा ने कहा ऐसा ही होगा। लेकिन एक प्रार्थना है कि आप मुझे कुछ सदुपदेश दीजिये जिन्हें मैं स्मरण कर अनुसरण कर सकूं। बनारसीदास कुछ क्षण विचार कर कहने लगे देखिये "आपका भोजन स्वास्थ्यकर एवं स्वच्छ शुद्ध हो और विशेषकर रात का ध्यान रखें। खाद्य एवं पीने के ऊपर विशेष ध्यान दें। अकबर ने उसे सदैव याद रखने का वचन दिया। जिस दिन उपदेश दिया वह दिन रोजे उपवास का था। राजमहल में संध्या के समय नाना प्रकार के व्यंजन सोने-चाँदी के थालो में सजा कर रखे गये थे। अकबर के सामने रात्री शेष

रहने पर भोजन परोसा गया। अकबर को भोजन करते समय बनारसीदास का उपदेश याद आ गया। उसने भोजन की थाली सतर्कतापूर्वक देखी। उसमें लाल चींटी का झुण्ड पाया। यह लाल चीटियां उसके भोजन में प्रवेश कर गई। उसने भोजन की थाली वापिस कर दी। इस घटना के द्वारा उसको जो मूल्यवान उपदेश मिला, उसके मन में जीवदया की भावना बढ़ गई। बनारसीदास अकबर को केवल लाल चीटिंयों के बारे में उपदेश देते सो नहीं वह विशेष रूप से आहार के भी जो शरीर और मन को विकृत करे विरूद्ध थे।

अकबर पर जैनधर्म का प्रभाव-विश्वास :– एक बार की घटना है कि अकबर के सिर में भयानक दर्द हुआ। उसने वैद्य-हकीमों को नहीं बुलाया। उसने जैन यतिजी को बुलवाया। उन्होंने सिर पर हाथ रखा, मंत्रोचार किया और सिर का दर्द दूर हो गया। इस खुशी में दरबारियों ने पशुओं की कुर्बानी करके खुशी मनाने का कार्यक्रम रखा। पशुओ को एकत्रित किया गया। राजा को जानकारी हुई कि मेरे सिर के दर्द के ठीक होने पर कुर्बानी द्वारा खुशी मनाई जावेगी। उसने रोक लगा दी पशु छोड़ दिये। आदेश दिया मेरे सिर के दर्द के ठीक होने की खुशी है मैं सुखी हूं, पर इस खुशी से दूसरे प्राणियों को दुःख पहुँचे यह अनुचित है। यह कार्य गलत है। इसी प्रकार की एक घटना और है। अकबर के दरबार में मुनि शान्तिचन्द जी विराजमान थे और अगले दिन ईद व बकरा ईद जो मुसलमानो का प्रमुख त्यौहार आने वाला था। मुनि शान्तिचन्द ने राजा से कहा कि मैं कल किसी अन्य स्थान पर जाऊँगा। क्योंकि ईद पर हजारो पशुओं का वध होगा उनकी बलि चढ़ाई जावेगी। मुनि ने कुरान की आयतों से सिद्ध कर दिया कि कुर्बानी का मांस व खून खुदा को नहीं जाता है वह हिंसा से कभी प्रसन्न नहीं होता है। राजा ने घोषणा कर दी ईद पर पशु हत्या नहीं होगी। सन् 1592 में उसने जिनचन्द सुरि को खम्भात कच्छ की खाड़ी से बुलाया वह लाहौर पधारे, स्वागत किया और उनके कहने से उसने आदेश निकाला कि खम्भात की खाड़ी में मछली पकड़ने पर प्रतिबन्ध रहेगा तथा आष्टनिका पर्व पर पशुवध का निषेध किया।

अकबर के शासनकाल में जैनेतर कवि नरहरि थे उन्होंने अपने समय में गोरक्षा का अभियान चला दिया था। सम्राट अकबर का ध्यान आकर्षित करने

के लिए एक दिन उन्होंने एक गाय को लाकर खड़ा कर दिया था और सम्राट की फरियाद स्थल पर प्रस्तुत की। नरहरि कवि की वाणी में गाय की पीड़ा के भाव थे। जिसे सुनकर अकबर का हृदय पसीज गया उसने तुरन्त ही देशव्यापी गोवध निषेध की आज्ञा प्रसारित कर दी और गौ-हत्या करने वालों को मृत्युदण्ड देने की घोषणा कर दी। अबुलफजल ने आइने अकबरी नामक पुस्तक के भाग 1 पृष्ठ 193 पर इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।

अकबर के बाद जहाँगीर व शाहजहाँ ने भी पशु हत्या निषेध की नीति को जारी रखा। खानदान मुगलिया के शहनशाह जहाँगीर का ईद के मौके पर शाही फरमान जारी किया। आज से 398 साल पूर्व 26 फरवीर सन् 1605 को जैनधर्म के माह भादो के बारे में फरमाने जहाँगीर जारी किया गया जिसकी असली नकल अन्त में दर्शायी गई है जहाँगीर ने अपने पिता की पशु-हत्या की नीति का अनुसरण किया। अपने आत्म चरित्र तुंजुके जहाँगीर के अनुसार उसने राज्यधिकार प्राप्त होते ही घोषणा कर दी थी। सप्ताह में एक दिन ऐसे होंगे जिनमें पशुवध का निषेध होगा। मेरे राज्यभिषेक के दिन गुरुवार को तथा रविवार को जन्मदिन के दिन कोई मांसाहार नहीं करेगा। मेरे पिता ने 11 वर्षों तक इस नियम का पालन किया अतः मैं भी जीव हिंसा निषेध की घोषणा करता हूँ। गुजरात में जैनो की प्रार्थना पर जीव हिंसा निषेध के कई फरमान जारी किये। जहांगीर के उत्तराधिकारी शाहजाहाँ के समय में भी पशुहिंसा निषेध की नीति का पालन होता था उसका एक उदाहरण इस बात को प्रमाणित करता है। शाहजाहाँ की इस निष्पक्ष नीति का पता पुर्तगाली यात्री वश्चियन मानदिक के एक विवरण से पता चलता है। शाहजहाँ के एक मुस्लिम अफसर ने एक मुसलमान का दाहिना हाथ इसलिए काट दिया था क्योंकि उसने दो मोर पक्षियों का शिकार किया था। बादशाह की आज्ञा थी कि जिन जीवों का वध करने से हिन्दुओं को ठेस पहुँचती है उनका वध नहीं किया जाये। ऐसे धर्म निरपेक्ष शाहजहाँ ने सन् 1732 में भी ऐसा ही फरमान जारी किया था।

शाहजहॉ के बाद औरंगजेब गद्दी पर बैठा यद्यपि वह कट्टर कठोर मुसलमान था अनेको मन्दिरों को तोड़ा, नष्ट किया फिर भी पशु हिंसा

निषेध की नीति में जो शाहदयाल मंत्री का आदेश निकला था उसमें लिखा था कि :–

(1) प्राचीनकाल से जैनियों के मन्दिर और पूजा के स्थानो को अधिकार मिला हुआ कोई मनुष्य उनकी सीमा (हद) में जीववध न करे यह उनका पुराना हक है।

अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के समय गौहत्या करने वालो को प्राण दण्ड देने की व्यवस्था थी। अंग्रेजो द्वारा प्रकाशित प्रेस लिस्ट तथा तारीखे अरूजे सल्तनते इंग्लिशिया नामक ग्रन्थ के पेज 688 पर स्पष्ट अंकित है कि सुप्रसिद्ध विद्वान् मौलाना फजले हक खैरावादी ने बहादुर शाह के प्रशासन के लिए जो संविधान तैयार किया था उसकी प्रथम धारा यह थी कि बादशाह के राज्य में कहीं भी गाय जिवाह न की जाये। उस समय प्रसिद्ध खवरनवीस जीवनलाल ने अपनी बहुचर्चित डायरी में दिनांक 28 जुलाई 1857 को उल्लेख किया कि बादशाह ने सेना के अधिकारियों के पास भी इस आशय के पत्र भेजे थे कि ईद के अवसर पर कोई गाय जिवाह न हो यदि किसी ने ऐसा किया तो तोप से उड़ा दिया जायेगा तथा गोवध के लिए प्रोत्साहित करने वाले को प्राण दण्ड दिया जावेगा। सेनापति के आदेश से शहर कोतवाल द्वारा शहर में ढिंढोरा पिटवा दिया था कि कोई भी गाय की हत्या नहीं करेगा। शहर की नाकेबन्दी की गई। बकरा ईद के तीन दिन तक शहर में गाय-बैल बेचने के लिए न लाये जायें। जो गाय को छिपाकर वध करेगा उसे मौत की सजा दी जावेगी। जिनके घर गाय है उनसे मुचलके ले लिए जाए कि वे गायो का वध नहीं करेंगे। इसकी जाँच भी की जावे। गाय न मिलने पर व्यक्ति को मृत्यु दण्ड दिया जावे। प्रेस लिस्ट ऑफ म्युनिटी पेयर्स 61 संख्या 245 पर अंकित था–

वर्तमान में 1938 में निजाम हैदराबाद ने अपने राज्य में गाय व ऊँट की कुर्बानी करना कानूनन बन्द कर दिया था। सन् 1890 में माननीय मिस्टर हचिनसन ने भारतीय कौसिंल में पशु निर्दयता निवारण बिल पेश किया था। सितम्बर 1938 में भारत की लेजिंसलेटिव असेम्बली ने पशु निर्दयता कानून में

भी संशोधन किये थे जिससे पशुओ को अधिक कष्ट ना हो। आज भी जैन मन्दिरो में प्रायः कबूतरो को चारा डाला जाता है हमारा उनके प्रति एक विशेष कर्तव्य है। विदेशो में मांसाहारी हैं किन्तु प्रयोगशाला को छोड़कर अन्यत्र पशुओं को यंत्रणा पहुँचाकर नहीं मारा जाता है। पशुओं के ऊपर निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने के विरूद्ध कानून बने हुये है। जुर्माना भी किया जाता है तथा जेल जाने तक का दण्ड भी दिया जाता है। अमेरिका में दयाभाव प्रदर्शित करने का प्रयास रेडियो, टी.वी, समाचार पत्र लेखन कार्य आदि से होते हैं अनेको संस्थायें कार्यरत हैं। अमेरिकन रैवरेड डाक्टर हानपेनहालटीस ने तो जीवदया पर एक हजार से अधिक कवितायें लिखी हैं।

भारत यह दावा करता है कि वह संसार के सबसे बड़े धर्मो का जनक है। जिसका आधार प्रेम और अहिंसा है। किन्तु जीवदया के प्रेमी जैन और बौद्धधर्म की जन्मभूमि होते हुये भी जीव रक्षा के लिए जो कुछ विदेशो में किया जा रहा है भारत में अभी उसकी छायाँ भी देखने को नहीं मिलती है। बल्कि दिनोदिन वृद्धि हो रही है। हमारा नैतिक दायित्व है कि हम पशुरक्षा हेतु सक्रिय रूप से कार्यरत रहें।

संदर्भ सूची

1. जैन इतिहास के ऐतिहासिक महिला एवं पुरूष, 2. अर्धकथानक—कविवर बनारसीदास
3. आगरानामा, 4. अभिनन्दन ग्रन्थ—श्री सुनहरीलाल जैन

बी-677, कमला नगर, आगरा
दूरभाष : 0562-2181645

पं. नाथूराम प्रेमी के साहित्य में दलितोत्थान के स्वर

–डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन

दलित शब्द से सामान्यतया उस व्यक्ति, वर्ग या जाति का बोध होता है, जो सदियों पद-दलित, शोषित, अत्याचार का शिकार, पीड़ित, दबी कुचली, असहाय, दरिद्र और निर्धन तथा विपन्न रही हो। पं. नाथूराम प्रेमी ने इसके विषय में भी सोचा, समझा और अन्वेषण किया है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'जैन साहित्य और इतिहास' में परिग्रह परिमाण व्रत में दासी-दास नामक एक लेख है। यह लेख महत्त्वपूर्ण है। इसमें वे कहते हैं कि प्राचीनकाल में सारे ही देशों में दास-प्रथा या गुलाम रखने का चलन था और वह भारतवर्ष मे भी था। इस देश के अन्य प्राचीन ग्रन्थों के समान जैन ग्रन्थों में भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। जैनधर्म के अनुसार बाह्य परिग्रह के दस भेद हैं–

बहिरसंगा खेत्तं वत्थं धनधण्णकुप्पभंडानि।
दुपय चउप्पय जाणाणि चेव सयणासहे य तहा।। –भगवती आराधना 112

विजयोदया टीका में इसका अर्थ किया है–

''बहिरसंगा बाह्यपरिग्रहाः। खेत्तं कर्षणाधिकरणं। वत्थं वास्तुगृहं। धणं सुवार्णादिः। धान्यं बीहयादिः। कुप्य। कुप्यं वस्त्रं। भंड-भाणशब्देन हिंगुभरिचादिकमुच्यते। द्विपदशब्देन दासदासीमृत्यवर्गादिः। चउप्पय गजनुरगादयः चतुष्पदाः। जाणदि शिविकावियानादिकं यानं। सयणासणे शयन्ननि आसनानिच।''

खेत, वास्तु (मकान), धन (सोना, चॉदी), धान्य (चावक, गेहूँ आदि) कुप्य (कपड़े), भाण्ड (हिंग मिर्चादि मसाले), द्विपद (दो-पाये दास-दासी, चतुष्पद चौपाये हाथी, घोड़े आदि), यान (पालकी, विमान आदि) शयन (बिछौने) और आसन ये बाह्य परिग्रह हैं।

लगभग यही अर्थ आशाधर और अमितगति ने भी अपनी टीकाओं में

किया है इन दस में से द्विपद और चतुष्पद अर्थात् दोपाये और चौपाये शब्दों पर ध्यान दीजिए। ये दोनों परिग्रह हैं। जिस तरह सोना, चाँदी, मकान, वस्त्र आदि चीजें मनुष्य की मालिकी कीं समझी जाती है, उसी तरह दोपाये और चौपाए जानवर भी। चौपाए तो खैर अब भी मनुष्य की जायदाद में गिने जाते हैं, परन्तु पूर्वकाल में दास-दासी भी जायदाद के अन्तर्गत थे। पशुओं से इनमें यही भिन्नता थी कि उनके चार पाँव होते हैं और इनके दो। पाँचवें परिग्रह-त्याग व्रत के पालन में जिस तरह और सब चीजों के छोड़ने की जरूरत है, उसी तरह इनकी भी। परन्तु शायद इन द्विपदों को स्वयं छूटने का अधिकार नहीं था। दास-दासियों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व कितना था, इसके लिए देखिए–

सच्चित्ता पुण गंथा बंधदि जीवे सयं च दुक्खंति।
पावं च तण्णिमित्तं परिग्गहं तस्स से होई।। 1162।।

विजयोदया टीका– सच्चित्ता पुण गंथा बंधति जीवे गंथा परिग्रहः दासीदास गोमहिष्यादयो हनन्ति जीवान् स्वयं च दुःखिता भवन्ति। कर्मणि नियुज्यमानाः कृष्यादिके पापं च स्वपरिगृहीतजीवकृतसंयमनिमित्तं तस्य भवति।

अर्थात्– जो दासी, दास, गाय, भैंस आदि सचित्त परिग्रह हैं, वे जीवों का घात करते हैं और खेती आदि कामों में लगाए जाने पर स्वयं दुःखी होते हैं। इनका पाप इनके स्वीकार करने वाले मालिकों को होता है; क्योंकि मालिकों के निमित्त से ही वे जीववधादि करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व एक तरह से था ही नहीं, अपने किए हुए पुण्य-पाप के मालिक भी वे स्वयं नहीं थे। अर्थात् इस तरह के बाह्य परिग्रहों में जो दास-दासी परिग्रह हैं, उसका अर्थ नौकर नौकरानी नहीं, जैसा कि आजकल किया जाता है, किन्तु गुलाम है। इस समय नौकर का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वह पैसा लेकर काम करता है गुलाम नहीं होता।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में गुलाम के लिए दास और नौकर के लिए कर्मकर शब्दों का व्यवहार किया गया है। अनगार धर्मामृत अध्याय 4 श्लोक 121 की टीका में स्वयं आशाधर ने दास शब्द का अर्थ किया है–'दासः क्रयक्रीतः

कर्मकरः' अर्थात् खरीदा हुआ काम करने वाला। पं. राजमल ने लाटी संहिता में छठे सर्ग में लिखा है–

दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृता सती।
तत्संख्या व्रतशुद्धयर्थं कर्तव्या सानतिक्रमात्।। 105।।

अर्थात्– दास कर्म करने वाली दासियाँ, चाहे वे खरीदी हुई हों और चाहे स्वीकार की हुई, उनकी संख्या भी व्रत की शुद्धि के लिए बिना अतिक्रम के नियत कर लेनी चाहिए। इसी तरह दासों की भी............

आगे और भी लिखा है–

देवशास्त्रगुरुन्नत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम्।
पत्नी परिग्रहीता स्यादन्या चेटिका मता।।

अर्थात् जिसके साथ विधिपूर्वक देव, शास्त्र, गुरु को नमन करके बन्धुजनों के समक्ष ब्याह किया गया हो, वह पत्नी और उससे भिन्न चेटिका मानी गई है या दासी। आगे स्पष्ट किया है–

पाणिग्रहण शून्या चेच्चेटिका सुखप्रिया।। 184
चेटिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगांगमात्रकः।। 185

अर्थात् चेटिका सुखप्रिया होती है और वह केवल भोग की चीज है। इससे मालूम होता है कि काम करने वाली दासियाँ खरीदी जाती थीं और उनमें से कुछ स्वीकार भी कर ली जाती थीं। स्वीकृता का अर्थ शायद रखैल है। यशस्तिलक में सोमदेव ने लिखा है–

वधू वित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वमन्यत्र तज्जने।
माता श्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे।।

अर्थात् पत्नी और वित्त-स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियों को माता, बहिन और बेटी समझना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। वित्त का अर्थ धन होता है, इसलिए वित्त स्त्री से तात्पर्य धन से खरीदी हुई दासी होनी चाहिए। इसका अर्थ वेश्या भी किया जाता है, परन्तु वास्तव में दासी अर्थ ही अधिक उपयुक्त है।

शब्द-कोशों में वेश्या के वारयोषित, गणिका, पण्यस्त्री आदि नाम मिलते हैं, जिनके अर्थ समूह की, बहुतों की या बाजारू औरत होता है, पर धनस्त्री या वित्त-स्त्री जैसा नाम कहीं नहीं मिला। गृहस्थ अपनी पत्नी और दासी को भोगता हुआ भी चतुर्थ अणुव्रत का पालक तभी माना जा सकता है, जब दासी गृहस्थ की जायदाद मानी जाती है।

जो लोग इस व्रत की उक्त व्याख्या पर नाक भौंह सिकोड़ते हैं वे उस समय की सामाजिक व्यवस्था से अनभिज्ञ हैं, जिसमें कि दासी एक परिग्रह या जायदाद थी। अवश्य ही वर्तमान दृष्टि से जबकि दास प्रथा का अस्तित्व नहीं रहा और दासी किसी की जायदाद नहीं रही, ब्रह्मचर्याणु में उसका ग्रहण निषिद्ध माना जाना चाहिए।

पं. नाथूराम प्रेमी ने कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'दास कल्प' नामक अध्याय का उद्धरण दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि दास-दासी खरीदे जाते थे, गिरवी रखे जाते थे और धन पाने पर मुक्त कर दिए जाते थे। दासियों पर मालिक का इतना अधिकार होता था कि वह उनमें सन्तान भी उत्पन्न कर सकता था और सन्तान होने पर वे गुलामी से छुट्टी पा लेती थीं। देखिए—

स्वामिनोऽस्या दास्यां जातं समातृकमदासं विद्यात्।। 32।।
गृह्या चेत्कुटुम्बार्थचिन्तनी माता भ्राता भगिनी चास्याः दास्याः-स्युः।। 33

—धर्मस्थीय, तीसरा अधिकरण

अर्थात् स्वामी या मालिक से उसकी दासी में सन्तान उत्पन्न हो जाय तो वह सन्तान और उसकी माता दोनों ही दासता से मुक्त कर दिए जाँए। यदि वह स्त्री कुटुम्बार्थचिन्तनी होने से ग्रहण कर ली जाए, भार्या बन जाए तो उसकी माता, बहिन और भाईयों को भी दासता से मुक्त कर दिया जाए।

मनु स्मृति में सात प्रकार के दास बतलाए गए हैं—

ध्वजाहत (संग्राम में जीता हुआ) भुक्तदास (भोजन के बदले रखा हुआ) गृहज (दासीपुत्र), क्रीत (खरीदा हुआ,) दत्रिम (दूसरे का दिया हुआ), पैतृक (पुरखों से चला आया) और दण्डदास (दण्ड के धन को चुकाने के लिए जिसने

दासता स्वीकार की हो) याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर (12वीं सदी) ने पन्द्रह प्रकार के दास बतलाए हैं। पूर्वकाल में भारत में दासी-दासों का क्रय विक्रय होता था। भले ही अमेरिका, यूरोप के समान गुलामों पर उतने भीषण अत्याचार न होते हों, जिनका वर्णन पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारतवर्ष में गुलाम रखने की प्रथा थी और उनकी हालत पशुओं जैसी थी। सन् 1855 में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने एक नियम बनाकर इसे बन्द कर दिया गया। सन् 1860 में 'इण्डियन पैनल कोड' में गुलाम खरीदना, बेचना अपराध ठहराया गया।

प्रेमी जी ने एक पुराना दासी विक्रय पत्र का उद्धरण दिया है। यह 1288 की एक दस्तावेज है। इससे ज्ञात होता है कि राजा लोग युद्धकर स्त्रियों को दासी रूप में लूटकर लाते थे और उन्हें चौराहे पर खड़ी करके बेचते थे। मारपीट से तंग आकर यदि वे आत्महत्या कर लेती थी तो उसका मालिक केवल गंगास्नान कर शुद्ध हो जाता था। ऐसी दासी को दूसरे जन्म में कुत्ती या चाण्डाली के रूप में जन्म लेना पड़ता था।

इस प्रकार अनेक उद्धरण देकर प्रेमी जी ने प्राचीन भारत और विश्व में दास प्रथा का भयावह चित्र खींचा है। इससे उस समय के लोगों की मानसिक स्थिति और कुत्सित रिवाज का पता चलता है। आधुनिक युग में यह दास प्रथा अपने बदले हुए अनेक रूपों में प्राप्त होती है। इसे दूर करने का प्रयास किया जा सकता है। मानवीय अधिकार आयोग का गठन होना, विभिन्न सहकारी सोसायटी का गठन होना, अनेक जनकल्याण की राजकीय योजनायें इस दिशा में अच्छा कदम है। दास प्रथा का मार्मिक चित्रण किए जाने का उद्देश्य दलितोत्थान को स्वर प्रदान करता है।

शूद्रों के लिए जिनमूर्तियाँ– प्रायः जैन मन्दिरों के शिखरों पर और दरवाजो की चौखटों पर जिनमूर्तियाँ दिखलाई देती हैं। उनके विषय में कुछ सज्जनों ने कुछ ही समय से यह कहना शुरू किया है कि उक्त मूर्तियाँ शूद्रों और अस्पृश्यों के लिए स्थापित की जाती रही हैं, जिससे वे मन्दिरों में प्रवेश किए बिना बाहर से ही भगवान् के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त कर सकें। यह बात कहने सुनने

में तो बहुत अच्छी मालूम पड़ती है, परन्तु अभी तक इस विषय में किसी शिल्पशास्त्र, प्रतिष्ठा पाठ या पूजा प्रकरण का कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया है और यह बात कुछ समझ में नहीं आती कि जो लोग दर्शन-पूजन पाठादि के अधिकारी ही नहीं माने जाते हैं, उनके लिए शिखरों पर या द्वारों पर मूर्तियाँ जड़ने का परिश्रम क्यों आवश्यक समझा गया होगा? यदि शूद्रों या अस्पृश्यों को दूर से दर्शन करने देना ही अभीष्ट होता और उनके आने जाने से मन्दिरों का भीतरी भाग ही अपवित्र होने की आशंका होती, तब तो मन्दिरों के बाहर या दीवारों में या आगे खुले चबूतरों पर ही मूर्तियाँ स्थापित कर दी जातीं। ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता, जिससे वे समीप आए बिना दूर से ही वन्दन कर लेते। इसके सिवाय जो लोग इन अभागे प्राणियों को दूर से दर्शन करने देने में कोई हानि नहीं समझते हैं, उन्होंने क्या कभी यह भी सोचा है कि दूर से दर्शन करने वाले उक्त प्रतिमाओं के उद्देश्य से पुष्पादि भी तो चढ़ा सकते हैं। तब क्या दूर से किया हुआ पूजन पूजन नहीं कहलायगा? और क्या मन्दिर मूर्ति से भी अधिक पवित्र होता है?

मेरी समझ में तो शिखर या द्वार पर जो मूर्तियाँ रहती हैं, उनका उद्देश्य केवल यह प्रकट करना होता है कि उस मन्दिर में कौन सा देव प्रतिष्ठित है अर्थात् वह किस देवता का मन्दिर है। वास्तव में वह मुख्य देव का संक्षिप्त चिन्ह होता है, जिससे लोग दूर से ही पहचान जाए कि यह अमुक मन्दिर है।

इस लेख में प्रेमी जी ने एक समाधान करने के साथ साथ शूद्र कहे जाने वाले व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति भी व्यक्त की है। यद्यपि स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा है कि शूद्र प्रतिमा दर्शन कर सकते हैं, किन्तु उनका अभिप्राय यही द्योतित होता है। अभागे प्राणी शब्द से शूद्रों के प्रति उनकी करुणा प्रकट होती है।

—एल-65 न्यू इन्दिरा नगर,
ए अहिंसा मार्ग, बुरहानपुर

पचास वर्ष पूर्व

सत्य अनेकान्तात्मक है

—बाबू जयभगवान जैन, वकील

सत्य[1] अनेकान्तात्मक है या अनन्तधर्मात्मक है, इस वाद के समर्थन में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सत्य का अनुभव बहुरूपात्मक है। जीवन में व्यवहारवश वा जिज्ञासावश सब ही सत्य का निरन्तर अनुभव किया करते है; परन्तु क्या वह अनुभव सबका एक-समान है? नहीं, वह बहुरूप है। अनुभव की इस विभिन्नता को जानने के लिये जरूरी है कि तत्त्ववेताओं के सत्यसम्बन्धी उन गूढ मन्तव्यों का अध्ययन किया जाय, जो उन्होंने सत्य के सूक्ष्म निरीक्षण, गवेषण और मनन के बाद निश्चित किये हैं। इस अध्ययन से पता चलेगा कि यद्यपि उन सबके अन्वेषण का विषय एक सत्यमात्र था, तो भी उसके फलस्वरूप जो अनुभव उनको प्राप्त हुए हैं, वे बहुत ही विभिन्न हैं—विभिन्न ही नहीं किन्तु एक दूसरे के विरोधी भी प्रतीत होते हैं।

आधिदैविकदृष्टि (Animistic Outlook) रखनेवाले भोगभौमिक लोग समस्त अनुभव्य बाह्य जगत और प्राकृतिक अभिव्यक्तियों को अनुभावक अर्थात् अपने ही समान स्वतन्त्र, सजीव, सचेष्ट सत्ता मानते हैं। वे उन्हें अपने ही समान हावभाव, आयोजन प्रयोजन, विषय-वासना, इच्छा-कामना से ओतप्रोत पाते हैं। वे जलबाढ, उल्कापात, वज्रपात, अग्निज्वाला, अतिवृष्टि, भूकम्प, रोग, मरी, मृत्यु आदि नियम विहीन उपद्रवो को देखकर निश्चित करते हैं कि यह जगत नियम विहीन, उच्छृङ्खल देवताओं का क्रीडास्थल है।[2] मनुष्य की यह आरम्भिक अधिदैविकदृष्टि ही संसार के प्रचलित देवतावाद (Theism) और पितृवाद (Ancestorworshiop) की कारण हुई है। यही वैदिक ऋषियों की दृष्टि थी।

अनुभव्यदृष्टि (Objective outlook) वाले जड़वादी वैज्ञानिक अनुभव्यजगत

(object) को ही सत्य मानते हैं और अनुभावक आत्मा (Subject) को स्थूल जड़ की ही एक अभिव्यक्ति समझते हैं। यह दृष्टि ही जड़वाद की आधार है। वे लोग, जगत में नियमानुशसित व्यवस्था का अनुभव करते हैं, प्रत्येक प्राकृतिक अभिव्यक्ति को विशेष कारणों का कार्य बतलाते हैं, उन कारणों में एक क्रम और नियम देखते हैं और उन कारणों पर विजय पाने से अभिव्यक्तियों पर विजय पाने का दावा करते हैं। उनके लिये अभिव्यक्ति और कारणों का कार्यकारण सम्बन्ध इतना निश्चित और नियमित है कि ज्योतिषज्ञ, शकुनविज्ञ, सामुद्रिकज्ञ आदि नियत विद्याओं के जानने वाले वैज्ञानिक, विशेष हेतुओं को देखकर, भविष्य में होने वाली घटनाओं तक को बतला देने में अपने को समर्थ मानते हैं। सच पूछिये तो यह कार्यकारण सम्बन्ध (Law of causation) ही इन तमाम विज्ञानों का आधार है।

अनुभावकदृष्टि (Subjective outlook) को ही महत्ता देने वाले तत्त्वज्ञ आत्मा को ही सर्वस्व सत्य मानते हैं। ज्ञान-द्वारा अनुभव में आने वाले जगत को स्वप्नतुल्य मोहग्रस्त ज्ञान की ही सृष्टि मानते हैं। उनके विचार में ज्ञान से बाहर अनुभव्य-जगत (Objective reality) की अपनी कोई स्वतः सिद्ध सत्त नहीं है। यह दृष्अि ही अनुभव-मात्रवाद (Idealism) की जननी है और शंकर के अद्वैतवाद का आधार है[3]।

व्यवहारदृष्टि (Practical View) से देखने वाले चार्वाक लोग उन ही तत्त्वों को सत्य मानते हैं जो वर्तमान लौकिक जीवन के लिये व्यवहार्य और उपयोगी हैं। इस दृष्टि से देखने वालों के लिये परलोक कोई चीज नहीं। उन अपराधों और परोपकारी कार्यो के अतिरिक्त, जो समाज और राष्ट्र-द्वारा दण्डनीय और स्तुत्य हैं, पुण्य-पाप और कोई वस्तु नहीं। कञ्चन और कामिनी ही आनन्द की वस्तुएं हैं। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ही परमतत्त्व हैं। वे ही प्रत्येक वस्तु के जनक और आधार हैं। मृत्युजीवन का अन्त है। इन्द्रिय बोध ही ज्ञान है—इसके अतिरिक्त और प्रकार का ज्ञान केवल भ्रममात्र है। इन्द्रिय बोध से अनुभव में आने वाली प्रकृति ही सत्य है[4]।

यह दृष्टि ही सामाजिक और राजनैतिक अनुशासन की दृष्टि है।

नैगमदृष्टि या संकल्पदृष्टि (Imaginary View) से देखने वाले वस्तु की भूत और भावी अवस्था अनुपस्थित होते हुए भी, संकल्प शक्ति द्वारा उपादान और अयोजन की सदृश्यता और विभन्न कालिक अवस्थाओं की विशेषताओं को संयोजन करते हुए वस्तु को वर्तमान में त्रिकालवर्ती सामान्य-विशेषरूप देखते हैं[5]। यह दृष्टि ही कवि लोगों की दृष्टि है।

नैय्यायिकदृष्टि (Logical View) से देखने वाले वस्तु को सम्बन्ध द्वारा संकलित विभिन्न सत्ताओं की एक संगृहीता व्यवस्था मानते हैं। उनका मूलसिद्धान्त यह है कि प्रत्येक अनुभूति के अनुरूप कोई सत्ता जरूर है, जिसके कारण अनुभूति होती है। चूंकि ये अनुभूतियाँ सप्त मूल वर्गो में विभक्त हो सकती हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, सम्बन्ध (समवाय?) और अभाव। अतः सत्य का इन सात पदार्थो से निर्माण हुआ है। यह दृष्टि ही वैशेषिक और न्यायदर्शन को अभिप्रेत है[6]।

अनुभूति के शब्दात्मक निर्वाचन पर भी न्यायविधि से विचार करने पर हम उपर्युक्त प्रकार के ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। संसार में वाक्य-रचना इसीलिये अर्थद्योतक है कि वह अर्थ वा सत्यानुभूति के अनुरूप है। वह सत्यरचना का प्रतिबिम्ब है। जैसे वाक्य, कर्ता, क्रिया, विशेषण सूचक शब्दों वा प्रत्ययों से संगृहीत एक शब्द-समूह है वैसे ही वस्तु भी द्रव्य, गुण, कर्म पदार्थो का समवाय-सम्बन्ध से संकलित विभिन्न सत्ताओं का समूह हैं[7]।

वर्तमान इन्द्रियबोध को महत्ता देने वाले ऋजुसूत्रदृष्टि (Physical View) वाले वस्तु को निरन्तर उदय में आने वाली, अनित्य पर्यायों, भावों और क्रियाओं की एक शृङ्खला मात्र अनुभव करते हैं। वे उस उद्भव के उपादान कारण रूप किसी नित्य आधार को नहीं देख पाते। क्योंकि वे वस्तु की भूत तथा भावी अवस्था को लक्ष्य में न लाकर केवल उसकी वर्तमान अवस्था को ही लक्ष्य बनाते हैं। उनका कहना है कि चूंकि इन्द्रियों द्वारा जो कुछ भी बाह्यजगत का बोध होता है, वह ज्ञेय पदार्थ के शृङ्खलाबद्ध विकारों का फल है, इसलिये वस्तु परिणामों की शृङ्खलामात्र है। यह दृष्टि ही क्षणिकवादी बौद्ध दार्शनिकों की है[8]। यही दृष्टि आधुनिक भूतविद्याविज्ञों की है[9]।

ज्ञानदृष्टि (Epistimological View) से देखने वाले तत्त्ववेत्ता, जो ज्ञान के स्वरूप के आधार पर ही ज्ञेय के स्वरूप का निर्णय करते हैं, कहते हैं कि वस्तु वस्तुबोध के अनुरूप अनेक लक्षणों से विशिष्ट होते हुए भी, एक अखण्ड, अभेद्य सत्ता है। अर्थात् जैसे ज्ञान विविध, विचित्र अनेकान्तात्मक होते हुए भी खण्ड-खण्डरूप अनेक ज्ञानों का संग्रह नहीं है, प्रत्युत आत्मा का एक अखण्ड अभेद्य भाव है, वैसे ही ज्ञान-द्वारा ज्ञात वस्तु भी अनेक गुणों और शक्तियों का सामूहिक संग्रह नहीं है बल्कि एक अभेद्य सत्ता है।

सामान्य-ज्ञेयज्ञान की दृष्टि का संग्रहदृष्टि (Synthetic view) वाले तत्त्वज्ञों को वस्तु एकतात्मक अद्वैतरूप प्रतीत होती है। ऐसा मालूम होता है कि समस्त चराचर जगत एकता के सूत्र में बंधा है, एकता के भाव से ओत-प्रोत है, एकता का भाव सर्वव्यापक, शाश्वत और स्थायी है। अन्य समस्त भाव औपाधिक और नैमित्तिक हैं, अनित्य हैं और मिथ्या हैं। यही दृष्टि थी जिसके आवेश में ऋग्वेद 1-164-46 के निर्माता ऋषि को वैदिक कालीन विभिन्न देवताओं में एकता का मान जग उठा और उसकी हृदयतन्त्री से 'एकं सत् विप्राः बहुधा-वदन्ति' का राग बह निकला। यह दृष्टि ही वेदान्त-दर्शन की दृष्टि है[10]।

विशेष-ज्ञेयज्ञान की दृष्टि वा भेददृष्टि (Analytic-view) से देखने पर, वस्तु अनेक विशेष भावों की बनी हुई प्रतीत होती है। प्रत्येक भाव भिन्न स्वरूप वाला, भिन्न संज्ञावाला दिखाई पड़ता है। जितना जितना विश्लेषण किया जाय, उतना ही उतना विशेष भाव में से अवान्तर विशेष और अवान्तर विशेष में से अवान्तर विशेष निकलते निकलते चले जाते हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है। यही दृष्टि वैज्ञानिकों की दृष्टि है। यह दृष्टि ही विभिन्न विज्ञानों की सृष्टि का कारण है।

समन्वयकारि-ज्ञान की दृष्टि (Philosophical View) से देखने पर वस्तु सामान्य विशेष, अनुभाव-अनुभव्य, (subjective and objective), भेद्य-अभेद्य, नियमित-अनियमित, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् तत्-अतत् आदि अनेक सहवर्ती प्रतिद्वन्दों की बनी हुई एक सुव्यवस्थित, संकलनात्मक, परन्तु

अभेद्य सत्ता दिखाई पड़ती है, जो सर्वदा सर्व ओर प्रसारित, विस्तृत और उद्भव हो रही है[11]। यह दृष्टि ही 'वीरशासन' की दृष्टि है। इसी दृष्टि द्वारा निष्पक्ष हो, साहसपूर्वक विविध अनुभवों का यथाविधि और यथास्थान समन्वय करते हुए सत्य की ऐसी विश्वव्यापी सर्वग्राहक धारणा बनानी चाहिये जो देश, काल और स्थिति से अविच्छिन्न हो, प्रत्यक्ष-परोक्ष तथा तर्क-अनुमान किसी भी प्रमाण से कभी बाधित न हो, युक्तिसंगत हो और समस्त अनुभवों की सत्यांशरूप संतोषजनक व्याख्या कर सके।

क्या सत्यनिरीक्षण की इतनी ही दृष्टियाँ हैं जिनका कि ऊपर विवेचन किया गया है? नहीं, यहाँ तो केवल तत्त्ववेत्ताओं की कुछ दृष्टिओं की रूपरेखा दी गई है। वरना व्यक्तित्व, काल, परिस्थिति और प्रयोजन की अपेक्षा सत्यग्रहण की दृष्टियाँ असंख्यात प्रकार की हैं। और दृष्टि अनुरूप ही भिन्न भिन्न प्रकार से सत्यग्रहण होने के कारण सत्य सम्बन्धी धारणायें भी असंख्यात हो जाती हैं[12]।

तत्त्वज्ञों की मान्यताओं में विकार ससांर के तत्त्वज्ञों की धारणाओं में सबसे बड़ा दोष यही है कि किसी ने एक दृष्टि को, किसी ने दूसरी दृष्टि को, किसी ने दो वा अधिक दृष्टियों को सम्पूर्ण सत्य मानकर अन्य समस्तदृष्टियों का बहिष्कार कर दिया है। यह बहिष्कार ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी और निःस्साहस है। इस बहिष्कार ने ही अनेक विरोधाभासि-दर्शनों को जन्म दिया है[13]।

धर्मद्रव्य अर्थात् Ether के बहिष्कार ने आत्मा और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध के समझाने में कठिनाई उपस्थित की है। आत्मा और मन का बहिष्कार दूसरी कमजोरी है। यह बहिष्कार ही जड़वाद का आधार हुआ है। प्रकृति का बहिष्कार भी कुछ कम भूल नहीं है—इसने संकीर्ण अनुभव-मात्रवाद (Idealism) को जन्म दिया है। जीवन के व्यवहार्य पहलू पर अधिक जोर देने से लोकायत-मार्ग को महत्व मिला है। लौकिक जीवन-चर्या—जीवन के व्यवहार्य पहलू को बहुत गौण करने से छायावाद का उदय हुआ है[14]।

सत्यानुभूति के साथ जीवनलक्ष्य का घनिष्ट सम्बन्ध – जगत और जीवन-

सम्बन्धी विविध अनुभूतियों और धारणाओं के साथ साथ जीवन के आदर्श और लक्ष्य भी विविध निर्धारित हुए हैं। वह लक्ष्य तात्कालिक इन्द्रिय सुख से लेकर दुष्प्राप्य आध्यात्मिक सुख तक अनेक भेदवाला प्रतीत होता है।

लौकिक दृष्टिवालों के लिये, अर्थात् उन लोगों के लिये जो व्यवहार में प्रवृत्त वर्तमान लौकिक जीवन को ही सर्वस्व समझते हैं, जो इसी को जीवन का आदि और अन्त मानते हैं, जो जीवन को भौतिक इन्द्रिय की एक अभिव्यक्ति देखते हैं, यह संसार सुखमय प्रतीत होता है। उनके लिये इन्द्रिय-सुख ही जीवन का रस और सार है। इस रस से मनुष्य को वञ्चित नहीं करना चाहिये। जड़वादी चार्वाक-दार्शनिकों (Hedonsists) का ऐसा ही मत है[15]। परन्तु पारमार्थिकदृष्टि (Transcendental view) वालों के लिये, जो वर्तमान जीवन को अनन्तप्रवाह का एक दृश्यमात्र मानते हैं, जिनके लिये जन्म आत्मा का जन्म नहीं है और मृत्यु आत्मा की मृत्यु नहीं है और जिनके लिये 'अहं' प्रत्यय रूप आत्मा शरीर से भिन्न एक विलक्षण, अजर, अमर, सच्चिदानन्द सत्ता है, संसार दुखमय प्रतीत होता है और इन्द्रिय सुख निस्सार तथा दुःख का कारण दिखाई पड़ता है[16]।

अनुभव की तरह सत्य के प्रति प्राणियों का आचार भी बहुरूपात्मक है – सत्य का-जीवन लक्ष्य का - अनुभव ही बहुरूपात्मक नहीं है प्रत्युत इन अनुभवों के प्रति क्रिया रूप प्राणधारियों ने अपने जीवन निर्वाह के लिये अपने जीवन को निष्कण्टक, सुखमय और समुन्नत बनाने के लिये जिन मार्गो को ग्रहण कर रखा है, वे भी विभन्न प्रकार के हैं। कोई भोगमार्ग को कोई त्याग मार्ग को, कोई श्रद्धा मार्ग को, कोई भक्ति मार्ग को, कोई ज्ञान मार्ग को, कोई कर्मयोग को, कोई हठयोग को उपयोगी मार्ग बतलाते हैं।

ये समस्त मार्ग दो मूल श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं– एक प्रवृत्तिमार्ग दूसरा निवृत्तिमार्ग[17]। पहला मार्ग बाह्यमुखी और व्यवहार दृष्टिवाला है, दूसरा मार्ग अन्तर्मुखी और आध्यात्मिकदृष्टिवाला है और पारमार्थिक कल्पनाओं को लिये हुए है। पहला अहंकार, मूढ़ता और मोह की उपज है, दूसरा आत्मविश्वास, सत्ज्ञान और पूर्णता की उत्पत्ति है। पहला प्रेयस है दूसरा

श्रेयस है। पहला इन्द्रियतृप्ति, इच्छापूर्ति और आडम्बर-संचय का अनुयायी है। दूसरा इन्द्रियसंयम, इच्छानिरोध और त्याग का हामी है। पहला अनात्म, बाह्य, स्थूल पदार्थो का ग्राहक है। दूसरा स्वाधीन, अक्षय, सर्वप्राप्य सूक्ष्म-दशा का अन्वेषक है। पहला जन्ममरणाच्छादित नाम-रूप-कर्मवाले संसार की जननी और धात्री है। दूसरा इस संसार का उच्छेदक और अन्तकर है। जीवन के सब मार्ग इन ही दो मूल मार्गो के अवान्तरभेद हैं।

सत्य-सम्बन्धी आचार और विचार में जो सर्व ओर विभिन्नता दिखाई देती है, वह बहुरूपात्मक सत्य का ही परिणाम है।

सत्य अनेक सत्यांशों की व्यवस्थात्मक सत्ता है– यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक बात को निश्चित रूप से जानने के लिये हमें कितनी ही और बातों को जानना जरूरी होता है। यह सब इसलियें न कि जो बात हमें जाननी अभीष्ट है, उसकी लोक में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो विराट सत्य का एक सत्यांश मात्र है[18]। ये समस्त सत्यांश, समस्त तत्त्व, जिनको जानने की हमें इच्छा है, गुण-गुणी, कारण-कार्य, साधन-साध्य, वाचक-वाच्य, ज्ञान-ज्ञेय, आधर-आधेय आदि अनेक सम्बन्धों द्वारा एक दूसरे के इतने आश्रित और अनुगृहीत हैं कि यदि हमें एक तत्त्व का सम्पूर्ण बोध हो जाय तो वह सम्पूर्ण तत्त्वों का, सम्पूर्ण सत्य का बोध होगा। इसीलिये ऋषियों ने कहा है कि जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्माण्ड को जानता है[19]। इसलिये आत्मा ही ज्ञातव्य है, मनन करने योग्य है, श्रद्धा करने योग्य है। इसको जानने से सर्वका जानने वाला, सर्वज्ञ हो जाता है[20]। इस प्रकार का बोध ही जो समस्त सत्यांशों का, समस्ततत्त्वों का, उनके पारस्परिक सम्बन्धों और अनुग्रह का युगपत जानने वाला है, जैन परिभाषा में 'केवलज्ञान' कहलाता है। यह बोध, लोक-अनुभावित सामान्य-विशेष, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भेद्य-अभद्य, तत्-अतत् आदि समस्त प्रतिद्वन्दों की बनी हुई सुव्यवस्थित सत्ता का युगपत् बोध होने के कारण उपर्युक्त समस्त विरोधाभासों परिमाणों (?), विकल्पों, त्रुटियों और अपूर्णताओं से रहित है। यह अद्वितीय और विलक्षण बोध है[21]। वास्तव में जो सम्पूर्ण सत्य को जानता है वही सम्पूर्णतया सत्यांश को जानता है। और जो सम्पूर्णतया

सत्यांश को जानता है वही सम्पूर्ण सत्य को जानता है। जो सम्पूर्ण सत्य को नहीं जानता वह पूर्णतया सत्यांश को भी नहीं जानता[22]।

सत्य अल्पज्ञों द्वारा पूरा नहीं जाना जा सकता – जीवन और जगत की रचना और व्यवस्था, जीवन के लक्ष्य और मार्ग, लोक के उपादान कारणभूत द्रव्यों के स्वरूप और शक्तियों के सम्बन्ध में यद्यपि तत्त्वज्ञों ने बहुत कुछ अनुभव किया है– बहुत कुछ भाषा द्वारा उसका निर्वाचन भी किया है–यह सबकुछ होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी प्रस्तुत विषय-सम्बन्धी जो कुछ अनुभव होना था सो हो चुका और जो कुछ कहने योग्य था वह कहा जा चुका।

वस्तु इन समस्त अनुभवों और निर्वाचनों से प्रदर्शित होने के बावजूद भी इनसे बहुत ज्यादा है। वह तो अनन्त है–वह काल क्षेत्र परिमित इन्द्रिय बोध, अभिप्राय-परिमित बुद्धि और अवयवमयी जड शब्दों से नहीं ढका जा सकता।

जिज्ञासुओं का अनुभव इस बात का साक्षी है कि जितना जितना गहरा अध्ययन किया जाता है, जितना जितना बोध बढ़ता जाता है, उतना उतना ही ज्ञातव्यविषय का अज्ञात अन्तर्हित क्षेत्र और अधिक गहरा और विस्तीर्ण होता चला जाता है। ऐसी स्थिति में विचारक को, महान तत्त्ववेता सुकृतीश के शब्दों में, वस्तु की असीम-अथाह अनन्तता और अपनी बुद्धि की अल्पज्ञता का अनुभव होने लगता है। उसे प्रतीत होता है कि वस्तुतत्त्व न वचनों से मिल सकता है, न बुद्धि से प्राप्त हो सकता है और न शास्त्र का पाठ करने से पाया जा सकता है[23]। इसलिये औपनिषदिक शब्दों में कहा जा सकता है कि जो यह कहता है कि मैं बहुत जानता हूँ वह कुछ नहीं जानता और जो यह कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता वह बहुत कुछ जानता है[24]।

जैन परिभाषा में विचारक के इस दुःखमय अनुभव को कि इतना वस्तु सम्बन्धी कथन सुनने, शास्त्र पढ़ने, मनन करने और विचारने पर भी उसको वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान न हो पाया और वस्तु ज्ञान अभी बहुत दूर है,

'अज्ञानपरिषह' से प्रकट किया गया है[25]।

अज्ञानवाद और संशयवाद की उत्पत्ति के कारण भी उपर्युक्त भाव हैं – इस अनुभव के साथ ही विचारक के हृदय में ऐसी आशंका पैदा होने लगती है कि क्या सत्य का वास्तविक स्वरूप ज्ञानगम्य है भी। उसकी बुद्धि सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद से अनुरचित हो जाती है। वह ऋग्वेद 10-129 सूक्त के निर्माता ऋषि परमेष्ठी की तरह सोचने लगता है कि "कौन पुरुष ऐसा है जो जानता है कि सृष्टि क्यों बनी और कहाँ से बनी और इसका क्या आधार है। मुमकिन है कि विद्वान लोग इस रहस्य को जानते हों। परन्तु यह तत्त्व विद्वान लोग कैसे बतला सकते हैं। यह रहस्य यदि कोई जानता होगा तो वही जानता होगा जो परम व्योम में रहने वाला अध्यक्ष है[26]।

वह पारस देश के सुप्रसिद्ध कवि, ज्योतिषज्ञ और तत्त्वज्ञ उमरखय्याम की तरह निराशा से भरकर कहने लगता है[27]।

भूमण्डल के मध्य भाग से उठकर मैं ऊपर आया।
सातों द्वार पार कर ऊँचा शनि का सिंहासन पाया।।
कितनी ही उलझनें मार्ग में सुलझा डाली मैंने किन्तु।
मनुज-मृत्यु की और नियति की खुली न ग्रन्थिमयीमाया 31
यहाँ 'कहाँ से क्यों' न जानकर परवश आना पड़ता है।
वाहित विवश वारि-सा निजको नित्य बहाना पड़ता है।
कहाँ चले? फिर कुछ न जानकर इच्छा हो, कि अनिच्छा हो
परपटपर सरपट समीर-सा हमको जाना पड़ता है।।

तत्त्वज्ञों के इस प्रकार के अनुभव ही दर्शन-शास्त्रों के सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद सिद्धान्तों के कारण हुए हैं। तो क्या सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद सर्वथा ठीक हैं? नहीं। सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद भी सत्यसम्बन्धी उपर्युक्त अनक धारणाओं के समान एकान्तवाद हैं, एक विशेष प्रकारक के अनुभव की उपज हैं।

इस अनुभव का आभास विचारक को उस समय होता है जब वह व्यवहार्य

सत्यांश बोध के समान ही विराट सत्य का सूक्ष्म सत्य का बोध भी इन्द्रियज्ञान, बुद्धि और शास्त्राध्ययन के द्वारा हासिल करने की कोशिश करता है। इस प्रयत्न में असफल रहने के कारण वह धारण करता है कि सत्य-सर्वथा अज्ञेय है।

पूर्णसत्य केवलज्ञान का विषय है– परन्तु वास्तव में सत्य सर्वथा अज्ञेय नहीं है। सत्य अनेक धर्मो की अनेक सत्यांशों की, अनेक तत्त्वों की व्यवस्थात्मक सत्ता है। उनमें से कुछ सत्यांश जो लौकिक जीवन के लिये व्यवहाय हैं और जिन्हें जानने के लिये प्राणधारियों ने अपने को समर्थ बनाया है, इन्द्रियज्ञान के विषय हैं, निरीक्षण और प्रयोगों (Experiments) द्वारा साध्य हैं। कुछ बुद्धि और तर्क से अनुभव्य है, कुछ श्रुति के आश्रित हैं, कुछ शब्द-द्वारा कथनीय हैं और लिपि-बद्ध होने योग्य हैं। परन्तु पूर्णसत्य इन इन्द्रिय-ग्राह्य, बुद्धिगम्य और शब्दगोचर अत्यांशों से बहुत ज्यादा है। वह इतना गहन और गम्भीर है–बहुलता, बहुरूपता और प्रतिद्वन्द्वों से ऐसा भरपूर है कि उसे हम अल्पज्ञजन अपने व्यवहृत साधनों-द्वारा–इन्द्रिय निरीक्षण, प्रयोग, तर्क, शब्द आदि द्वारा–जान ही नहीं सकते; इसीलिये वैज्ञानिकों के समस्त परिश्रम जो इन्होंने सत्य-रहस्य का उद्घाटन करने के लिये आज तक किये हैं, निष्फल रहे हैं। सत्य आज भी अभेद्य व्यूह के समान अपराजित खड़ा हुआ है।

वास्तव में बात यह है कि इन्द्रिय, बुद्धि और वचन आदि व्यवहृत साधनों की सृष्टि पूर्णसत्य को जानने के लिये नहीं हुई। उनकी सृष्टि तो केवल लौकिक जीवन के व्यवहार के लिये हुई है। इस व्यवहार के सत्य-सम्बन्धी जिन जिन तत्त्वों का जितनी जितनी मात्रा में जानना और प्रकट करना आवश्यक और उपयोगी है उसके लिये हमारे व्यवहृत साधन ठीक पर्याप्त हैं। परन्तु पूर्णसत्य इन सत्यांशों से बहुत बड़ा है, उसके लिये उपर्युक्त साधन पर्याप्त नहीं हैं। "वह इन्द्रिय बोध, तर्क और बुद्धि से परे है– वह शब्द के अगोचर है–वह हम अल्पज्ञों-द्वारा नहीं जाना जा सकता। इस अपेक्षा हम सब ही अज्ञानी और सन्दिग्ध हैं[28]। पूर्णसत्य उस आवरणरहित, निर्विकल्प, साक्षात-अन्तरंग ज्ञान का विषय है, जो दीर्घतपश्चरण और समाधि-द्वारा कर्मक्लेशों से मुक्त होने पर

योगीश्वरों को प्राप्त होता है, जो ज्ञान की पराकाष्ठा है, जो केवलज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है[29]। जिसके प्राप्त होने पर आत्मा सर्वज्ञ, सर्वानुभू[30] सर्ववित् कहलाता है।''

प्रत्येक मनुष्य अपनी वर्तमान अविकसित दशा में इस केवलज्ञान का पात्र नही है। केवलज्ञान तो दूर रहा, साधारणतया अधिकांश मनुष्य तो सत्य को देखते हुए भी इसे नहीं देख पाते और सुनते हुए भी उसे नहीं सुन पाते[31], अतः जो सत्य का लब्धा, ज्ञाता और वक्ता है वह निःसन्देह बहुत ही कुशल और आश्चर्यकारी व्यक्ति है[32]।

श्रद्धामार्ग का कारण भी उपर्युक्त आप्तत्व ही है– यही कारण है कि सब ही धर्मपन्थनेताओं ने साधारण जनता के लिये, जो अल्पज्ञान के कारण बच्चों के समान है अन्तःअनुभवी ऋषि और महापुरुषों के अनुभवों, मन्तव्यों और वाक्यों को ईश्वरीय ज्ञान ठहराकर–आप्तवचन कहकर–उन पर श्रद्धा, विश्वास और ईमान लाने के लिये बहुत जोर दिया है। इस श्रद्धापूर्वक ही जीवन-निर्वाह करने को श्रेयस्कर बतलाया है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय का बतलाया हुआ मार्ग, उसके बतलाये हुए सिद्धान्तों पर श्रद्धा करने से प्रारम्भ होता है।

वाच्य और उसके अनेक वाच्य– यह सत्य के बहुविध अनुभव की ही महिमा है कि सत्य का बहुविध-साधनों, बहुविध संज्ञाओं और बहुविध-शैली से सदा प्रदर्शन किया जाता रहा है। इसी के प्रदर्शन के लिये शब्द, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि साधनों से काम लिया जाता है। इस ही वाच्य के अनेक वाचक शब्द प्रसिद्ध हैं। उस ही के सुगम बोध के लिये आलंकारिक और तार्किक शैली प्रचलित है।

किसी वस्तु के वाचक जितने शब्द आज उपयोग में आ रहे हैं। उन सबके वाच्य अनुभव एक दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। वे एक ही वस्तु की भिन्न भिन्न पर्यायों के वाचक हैं और इसीलिये उनका नाम पर्यायवाची शब्द (Synonym) है। यह बात दूसरी है कि अज्ञानता के कारण आज उन सब शब्दों को हम बिना उनकी विशेषता समझे एक ही अर्थ में

उपयुक्त करें, परन्तु, भाषाविज्ञानीजन उन समस्त पर्यायवाची शब्दों की भिन्न विशेषता जानते हैं। ये विभिन्न पर्यायवाची शब्द एक ही देश, एक ही काल, एक ही जाति, एक ही व्यक्ति की सृष्टि नहीं हैं, प्रत्युत विभिन्न युगों, विभिन्न देशों, विभन्न जातियों और विभिन्न व्यक्तियों की सृष्टि हैं। यह बात शब्दों के इतिहास से ज्ञात हो सकती है।

हमारा ज्ञानगम्य और व्यवहारगम्य सत्य एकाधिक और सापेक्ष सत्य है– उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हम केवल सत्यांशों का ग्रहण करते हैं पूर्णसत्य का नहीं। और सत्यांश में भी केवल उनका दर्शन करते हैं जो वर्तमान दशा में व्यवहार्य और जीवनोपयोगी हैं। साधारणजन का तो कथन ही क्या है, बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी अपनी अलौकिक प्रतिभा और तर्क द्वारा सम्पूर्ण सत्यांशों को नहीं जान पाते। आयुकर्म उनकी पूर्णता की प्रतीक्षा नहीं करता। अतः उन्हें अपने अधूरे अनुभवों के आधार पर ही अपने दर्शन का संकलन करना होता है। ये अनुभव सबके एक सामान नहीं होते। जैसा कि ऊपर बतलाया है, वे प्रत्येक के दृष्टि भेद के कारण विभिन्न प्रकार के होते हैं। दृष्टि की विभिन्नता ही विज्ञानों और दर्शनों की विभिन्नता का कारण है। परन्तु इस विभिन्नता का यह आशय नहीं है कि समस्त विज्ञान और दर्शन मिथ्या हैं या एक सत्य है और अन्य मिथ्या है। नहीं, सब ही विज्ञान और दर्शन वस्तु की उस विशेष दृष्टि की जिससे विचारक ने उसे अध्ययन किया है– उस विशेष प्रयोजन की जिसको पूर्ति के लिये मनन किया है, उपज हैं। अतः अपनी अपनी विवक्षित दृष्टि और प्रयोजन की अपेक्षा सब ही विज्ञान और दर्शन सत्य हैं।

कोई भी सिद्धान्त केवल इस कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्णसत्य न होकर सत्यांश-मात्र है। चूंकि प्रत्येक सत्यांश और उसके आधार पर अवलम्बित विज्ञान और दर्शन अपने अपने क्षेत्र में जीवनोपयोगी और व्यवहार में कायकारी हैं। अतः प्रत्येक सत्यांश अपनी अपनी दृष्टि और प्रयोजन की अपेक्षा सत्य है। सिद्धान्त उसी समय मिथ्या कहा जा सकता है कि जब वह पूर्ण-सत्य न होते हुए भी उसे पूर्णसत्य माना जावे[33]।

उदाहरण के लिये 'मनुष्य' को ही ले लीजिये, यह कितनी विशाल और

बहुरूपात्मक सत्ता है इसका अन्दाजा उन विभिन्न विज्ञानों को ध्यान में लाने से हो सकता है जो 'मनुष्य' के अध्ययन के आधार पर बने हैं। जैसे :- शारीरिक-रचनाविज्ञान (Anatomy), शारीरिक व्यापार विज्ञान (Physiology), गर्भविज्ञान (Emibryology), भाषा-विज्ञान (Phiology), मनोविज्ञान (Psychology), सामाजिक जीवन-विज्ञान (Sociology), जातिविज्ञान (Ethnology), मानव विर्वतविज्ञान (Anthropology), आदि। इनमें प्रत्येक विज्ञान अपने अपने क्षेत्र में बहुत उपयोगी और सत्य है। परन्तु कोई भी विज्ञान पूर्णसत्य नहीं है, क्योंकि 'मनुष्य' न केवल गर्भस्थ वस्तु है—न केवल सप्त-धातु-उपधातु-निर्मित अङ्गोपाङ्ग वाला एक विशेष आकृति का स्थूल पदार्थ है—न केवल श्वासोच्छवास लेता हुआ चलता-फिरता यन्त्र है—न केवल भाषाभाषी है... वह उपर्युक्त सब कुछ होता हुआ भी इनसे बहुत ज्यादा है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य सम्बन्धी विज्ञान उस दृष्टि की अपेक्षा जिससे कि 'मनुष्य' का अध्ययन किया गया है— उस प्रयोजन की अपेक्षा जिसकी पूर्ति के लिये विज्ञान का निर्माण हुआ है, सत्य है और इसलिये उपयोगी है; परन्तु अन्यदृष्टियों, अन्यप्रयोजनों की अपेक्षा और सम्पूर्णसत्य की अपेक्षा वही विज्ञान निरर्थक है। अतः यदि उपर्युक्त विज्ञानों में से किसी एक विज्ञान को सम्पूर्ण मनुष्य विज्ञान मान लिया जाए तो वह हमारी धारणा मिथ्या होगी। अतः हमारा ज्ञानगम्य, व्यवहारगम्य सत्य एकांशिक सत्य, सापेक्ष सत्य है। वह अपनी विवक्षित दृष्टि और प्रयोजन की अपेक्षा सतय है। यदि उसे अन्यदृष्टि और अन्यप्रयोजन की कसौटी से देखा जाय या यदि उसे पूर्णसत्य मान लिया जाय तो वह निरर्थक, अनुपयोगी और मिथ्या होगा[31]।

सन्दर्भ

1. द्रव्य, वस्तु, अर्थ, सामान्य, सत्ता, तत्त्व आदि सत्य के ही एकार्थवाची नाम है। —पञ्चाध्यायी 1-143

2. (अ) Haeckle–Riddle of the universe P 32

   (आ) Loar Averburg–The origin of civilization 1912 P 242–245

   (इ) A A Macdonel – Vedic Mythology P 1

3. Das Gupta–A History of Indian Philosophy 1922, P 439

4. S Radha Knshnon–Indian Philosophy Vol 1, 2nd edition, P 279

5. (अ) राजवार्तिक पृ. 454 (आ) द्रव्यानुयोग तर्कणा 6-9

6. Das Gupta–A History of Indian Philosophy, P 312

7. B. Russil–Analysis of Matter, 1927, P 39

8. Das Gupta– A History of Indian Philosophy 1922, P. 158

9. Russil– F R S The Analysis of Matter 1927, P 244-247

10. Das Gupta–A History of Indian Philosophy, P 177

11. (अ) B Russil–The Analysis of Matter London 1927 Chap-XXIII
(आ) तत्त्वार्थसूत्र 1-33 पर की हुई राजवार्तिक टीका
(इ) न्यायावतार, 29 की सिद्धर्षिगणि कृत टीका।

12. (अ) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, 894, (आ) हरिवंशपुराण, 58-62

13 गोम्मटसार-कर्मकाण्ड 895

14. Sir Oliver Lodge F R S –Ether and Reality, London, 1930 P 20

15. (अ) हरिभद्रसूरिः–षड्दर्शन समुचयः, 80-85
(आ) श्रीमाधवाचार्य–सर्वदर्शनसंग्रह-चार्वाक दर्शन
(इ) सूत्रकृतांग–2-1, 15-21
(ई) आदिपुराण 5, 53-75
(उ) दीघनिकाय–सामञ्जसफलसुत्त

16. (अ) उत्तराध्ययनसूत्र–13-16, 14-21-23।
(आ) कुन्दकुन्द–द्वादशानुप्रेक्षा।
(इ) बौद्ध साहित्य में 'ससार दुःखमय है' यह चार आर्यसत्यों में एक आर्यसत्य कहा गया है। धम्मपद 47, दीघनिकाय-महासतिपट्ठानसुत्त।
(ई) महाभारत-शान्तिपर्व, 175-1, 174-7-1213

17. (अ) कठोपनिषद् 2-1 (आ) मनुस्मृतिः 12 99, (इ) अंगुत्तरनिकाय 8-2-1-3

18. Sir Oliver Lodge, Ether and Reality P 19

19. तदात्मानमेव वेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्व अभवत्। –शत. ब्रा. 143-2-21

20. (अ) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। –वृहदा. उपनिषद् 2-4-5
(आ) एवं हि जीवरायो णदव्वो तहय सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।
–समयसार, 1-18

21. (अ) तत्वार्थसूत्र 1-29 (आ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, 459, (इ) आलापपद्धति।
22. प्रवचनसार 1-48
23. नायमात्मा प्रवचनेने लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। कठोथानिषत् 2-22
24. यस्यामतं तस्यमतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम्।।
— केनोपनिषद् 2-3
25. तत्वार्थसूत्र 9-9। उत्तराध्ययसूत्रं 2-2-45
26. श्रीनरदेव शास्त्री—ऋग्वेदालोचन, संवत् 1985, पृ. 203-205
27. रुबाइयात उमरखय्याम-अनुवादक श्री मैथिली-शरण गुप्त, 1931
28. (I) A E Taylor–Elements of Metaphysics, London 1924, P 412
(II) Sir Oliver Lodge–Ether and Reality, 1930, P 58 and 83
(III) गोम्मटसार जीवकाण्ड—गा. न. 333
(IV) पंचाध्यायी—2, 616
29. (अ) न्यायावतार— 27
(आ) योगदर्शन—"तदासर्वावरणमलापेतस्य ज्ञान-स्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्" 4-31
(इ) प्रश्नोपनिषत् 4-11। वृहदा. उपनिषत् 1-5-10
30. "ससर्वज्ञः सर्ववित्" मु. उ. 1-1-9। 'अयमात्मा व्रह्मसर्वानुभू' वृ उ 2-5-19
31. "उत्त्वः पश्यन्नददर्श वाचमुतत्वश्रृणवन्नश्रृणोत्येनाम्" — ऋग्वेद 10-71-4
32. श्रवणयापि बहुभिर्योनलभ्यः श्रृण्वन्तोऽपिबहवो य न विद्य आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टा — कठोपनिषत् 2-7
33. A E Taylor–Elements of Metaphysics, London 1924–P 214
"For a proposition is never untrue simply becae it is not the whole truth, but only when, not being the whole truth, it is mistaken to be so"
34. (अ) द्रव्यानुयोगतर्कण—9-6
(आ) पञ्चाध्यायी— 1 590
(इ) निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। — आप्तमीमांसा, 108।
(ई) A E Taylor–Elements of Metaphysics P. 214, Postnot "The degree of turth . a doctrine contains cannot be determined apart from consideration of the purpose it is meant to fulfil"

जैन दर्शन में वस्तु का अनेकान्तात्मक स्वरूप

–डॉ. बसन्तलाल जैन

"जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वहदि।
तस्स भुवर्णेक्क गुरूणो णमो अणेगंतवायस्स।।"

जिनेन्द्र वर्णी के शब्दों में–"जो कुछ भी यहाँ दिखाई दे रहा है या व्यवहार में आ रहा है, उन सबको वस्तु या पदार्थ कहने का व्यवहार लोक में प्रचलित है। वस्तु, पदार्थ और द्रव्य तीनों का एक ही अर्थ है। इसी को सैद्धान्तिक भाषा में कहा जाता है कि जो सत्ता रखता है या जो सत् है वही वस्तु पदार्थ या द्रव्य है"।[1] इस प्रकार वस्तु द्रव्य, सत् पदार्थ आदि सब एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन का वास्तववाद, वास्तविकता तथा सत्ता में भेद नहीं करता। उसके अनुसार वस्तु ही सत् है और सत्ता ही वस्तु है।

वस्तु के स्वरूप का विवेचन करते हुए दिगम्बराचार्य मल्लिषेण ने कहा है कि–"वसन्ति गुण पर्याया अस्मिन्निति वस्तु"[2] अर्थात् जिसमें गुण और पर्यायें रहती हैं, वह वस्तु है। यह परिभाषा दिगम्बराचार्य उमास्वामी जी की द्रव्य की परिभाषा से साम्यता रखती है। आचार्य उमास्वामी जी ने लिखा है कि– "गुण पर्यायवद्-द्रव्यम्"[3] अर्थात् गुण और पर्याय वाला द्रव्य है। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि जैन मान्य वस्तु और द्रव्य एक ही अर्थ के द्योतक हैं। जिस प्रकार अग्नि का उष्णत्व से और जल का शीतलत्व से पृथक् अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार गुण तथा पर्यायों से युक्त वस्तु का अपने गुण तथा पर्यायों से पृथक अस्तित्व नहीं होता।

बौद्धदर्शन की मान्यता है कि कोई भी वस्तु नित्य नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु अपने उत्पन्न होने के दूसरे क्षण में ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि नष्ट होना पदार्थों का स्वभाव है। कूटस्थ नित्य वस्तु में अर्थ क्रिया नहीं हो सकती और

वस्तु में अर्थक्रिया न होने से उसे सत् भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार बौद्धमत में क्षणस्थायी सत्ता को ही यथार्थ माना गया है।[4]

वेदान्त दर्शन के अनुसार जो सत् है, वह कभी परिवर्तित नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्म ही एक परम सत् है, जगत केवल आभास मात्र है। अज्ञान के कारण जगत में अनेकत्त्व दृष्टिगोचर होता है। यथार्थ में ब्रह्म ही एक मात्र वास्तविक सत्ता है।[5] सांख्य दर्शन ने नित्य और अनित्य दोनों सत्ताओं को पुरुष और प्रकृति के रूप में स्वीकार किया है। पुरुष नित्य, स्थिर और चेतन तत्त्व का द्योतक है और प्रकृति अनित्य, अस्थिर और अचेतन तत्त्व का द्योतक है।[6] न्याय वैशेषिक दर्शन में भी सत्ता के द्वैत को स्वीकार किया गया है। विश्व का निर्माण विभिन्न प्रकार के परमाणुओं और जीवात्माओं के सहयोग से हुआ है।[7]

मीमांसा दर्शन भी न्याय वैशेषिक की भांति बहुवादी है और भौतिक सत्ता के मूल में अनेक तत्त्वों को स्वीकार करता है, परन्तु मीमांसा दर्शन में स्थिरता के स्थान पर परिवर्तनशीलता के सिद्धान्त को माना है। नित्य होते हुए भी द्रव्य के रूप आगमापायी होते है।[8] इस प्रकार कुमारिल भट्ट ने पदार्थो के उत्पादव्यय और स्थिति रूप को स्वीकार किया है।

जैन दर्शन के अनुसार सत् को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य युक्त माना गया है। आचार्य उमास्वामी जी ने लिखा है कि "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं-सत्।"[9] अर्थात् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सहित सत् का लक्षण है। यही लक्षण जैन दर्शन में सत् का लक्षण अन्य दर्शनों से पृथक करता है। जैन मान्य वस्तु या द्रव्य न तो वेदान्त की भांति पूर्ण कूटस्थ है और न ही सांख्य दर्शन की भांति सत्ता का चेतन भाग कूटस्थ-नित्य और अनित्य भाग परिणामि-नित्य है। इसी प्रकार जैनमान्य वस्तु बौद्ध दर्शन की भांति मात्र उत्पाद-व्यय, युक्त भी नहीं है। न्याय वैशेषिक की भांति जैनमत में चेतन व जड़ तत्त्वों में निष्क्रियता भी नहीं है।[10] जैन मान्यता अनुसार चेतन और जड़, मूर्त और अमूर्त, सूक्ष्म और स्थूल सभी सत् पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रिरुप है।[11] प्रत्येक सत्तात्मक वस्तु में दो अंश विद्यमान होते हैं। वस्तु का एक अंश तीनों कालों

में शाश्वत रहता है, इसी कारण वस्तु को ध्रौव्य कहा जाता है और दूसरा अंश सदा परिवर्तित होता है जिसके कारण वस्तु को उत्पाद-व्यय युक्त कहा जाता है। दोनों अंशों पर दृष्टि डालने से ही वस्तु का पूर्ण और यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है, दोनों दृष्टियों से समन्वित स्वरूप ही सत् है।

आचार्य गुणभद्र स्वामी ने वस्तु के अनेकान्तिक स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि "शास्त्राभ्यास करने वाले ज्ञानी अनादि निधन समस्त जीवादि वस्तुओं के बारे में चिन्तवन करते है वस्तु विवक्षित स्वरूप को तथा उससे प्रतिपक्षी स्वरूप को प्राप्त होने पर भी नष्ट नहीं होती है।[12] दूसरे शब्दों में आचार्य की बात को इस प्रकार कह सकते है कि शास्त्राभ्यास करने वाले ज्ञानी केवल शब्दों और अंलकारों में ही मन को नहीं रमाते, वे वस्तु स्वरूप का चिन्तन करते हैं कि जीवादि वस्तुएं नित्य भी हैं, अनित्य भी हैं सत्तारुप भी हैं असत्तारुप भी हैं, एक भी है अनेक भी है, तत् स्वरूप भी है, अतत् स्वरुप भी है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मस्वरुप जीवादि वस्तुएं कभी नष्ट नहीं होती सदा अपने स्वभाव रूप रहती हैं। अनादि निधन समस्त जीवादि पदार्थो का यही स्वरूप है। तत्त्वज्ञानी जीव शास्त्र द्वारा इस प्रकार चिन्तवन करते हैं। ऐसे चिन्तवन से उन्हें वस्तु स्वरूप भासित होता है जिससे सम्यग्दर्शन आदि प्राप्त करके वे अपना कल्याण कर लेते हैं।

एक ही वस्तु एक ही समय में ध्रौव्य उत्पाद-व्यय इन तीनों स्वरूप है— आचार्य गुणभद्र स्वामी ने एक वस्तु में एक ही समय में ध्रौव्य, उत्पाद, व्यय तीनों का एक साथ उपस्थिति का ज्ञान कराते हुए कहा है कि एक ही वस्तु एक ही समय में ध्रौव्य, उत्पाद, व्यय इन तीनों स्वरूप है, अन्यथा प्रमाण से अबाधित वस्तु में "यह वही है" ऐसी प्रतीति और 'यह अन्य है' ऐसी प्रतीति सिद्ध नहीं होगी।[13]

यदि एक ही अपेक्षा से वस्तु को तद्रूप भी कहा जाए और अतद्रूप भी कहा जाय तो भ्रम ही है, परन्तु यदि अन्य अपेक्षा से कहा जाय तो विरोध नही है, जैसे किसी पुरुष को एक ही व्यक्ति का पिता भी कहा जाय और पुत्र भी कहा जाय तो भ्रम ही है। परन्तु यदि उसे किसी व्यक्ति का पिता और किसी

अन्य व्यक्ति का पुत्र कहा जाय तो विरोध नहीं है, अपितु वस्तु स्वरूप की सिद्धि ही है। एक ही वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। जैसे–कोई व्यक्ति पहले रंक था फिर राजा हो गया, वहां उसकी अवस्था पलटने की अपेक्षा उसमें अन्यत्व भासित होता है, इसलिए "यह अन्य है" ऐसा माना जाता है। परन्तु मनुष्यपने की अपेक्षा पहले भी मनुष्य था और अब भी वही मनुष्य है– ऐसा भासित होता है, इसलिए 'यह वही है' ऐसा माना जाता है। ऐसी प्रतीति प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बधित नहीं है, वस्तु स्वरूप 'ऐसा ही' भासित होता है इसलिए वही पुरुष एक समय में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप को धारण करता है। जिस समय वह रंक से राजा हुआ, उसी समय राजापने का उत्पाद है, रंकपने का व्यय है और मनुष्यपना ध्रुव है।

वस्तु का स्वरूप सर्वथा एक नहीं हैं-अनेक अपेक्षाओं से अनेक स्वरूप है– वस्तु का स्वरूप सर्वथा एक न होकर अनेक अपेक्षाओं से अनेक स्वरूप है। सांख्य, नैयायिक, आदि मत वालों ने वस्तु को सर्वथा नित्य ही माना है, जबकि बौद्धमती सर्वथा क्षणिक ही मानते हैं। ज्ञानाद्वैत वादी बौद्धमती मात्र ज्ञान का ही अस्तित्व मानते हैं, बाह्य वस्तुए है ही नहीं, ऐसा मानते हैं। शून्यवादी बौद्धमती सभी वस्तुओं का अभाव मानते हैं। इस प्रकार अनेक लोग वस्तु को एकान्त रूप मानते हैं, परन्तु वस्तु स्वरूप ऐसा नहीं हैं, क्योंकि विचार करने पर ऐसे एकान्त में विरोध भासित होता है।

एक ही वस्तु में अवस्था बदले बिना अर्थ–क्रिया की सिद्धि नहीं होती, इसलिए वह सर्वथा नित्य कैसे हो सकती है? और अन्य-अन्य अवस्थाएं होने पर भी किसी भाव की नित्यता की अपेक्षा वस्तु सदैव एक रूप भासित होती है, इसलिए उसे सर्वथा क्षणिक कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार ज्ञान का अस्तित्व भी भासित होता है और बाह्य पदार्थो का अस्तित्व भी भासित होता है। यदि बाह्य पदार्थो की सत्ता न मानी जाय तो प्रमाण और अप्रमाण ज्ञान का विभाग नहीं हो सकता, इसलिए सर्वथा ज्ञान की ही सत्ता नहीं है। पदार्थो का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष भासित होता है। यदि उनका अभाव मानें तो अभाव का प्रतिपादन करने वाले भी शब्दरूप पदार्थ हैं, अतः उनका भी अभाव रहेगा

और प्रत्यक्ष को झूठ कहना उचित नहीं है, इसलिए वस्तु सर्वथा अभावरूप नहीं है।

इस प्रकार सर्वथा एकान्त रूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तु उस स्वरूप भी है और उस स्वरूप नहीं भी है। वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय पलटने की अपेक्षा क्षण-विनश्वर है। ज्ञान में भासित होने की अपेक्षा ज्ञानमात्र है। बाह्य सत्तारूप वस्तुओं की अपेक्षा ज्ञानमात्र नहीं है, बाह्य वस्तु भी है। परद्रव्य-क्षेत्र काल-भाव की अपेक्षा नास्तिरूप होने से अभावरूप है और स्वद्रव्य क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तिरूप होने से अभावरूप नहीं है सद्भाव रूप है। इस प्रकार अनादि-निधन अनेकान्त रूप वस्तु का स्वरूप है।

एक पदार्थ में उक्त अनेकान्त रूप घटित होता है। जैसे—एक जीव-चेतनत्वादि भावों की अपेक्षा नित्य भी है और नर-नारकादि पर्यायों की अपेक्षा अनित्य भी है। ज्ञान में प्रतिभासित जीवन के आकार की अपेक्षा ज्ञानमात्र भी है। जीव अपने अस्तित्व को लिए हुए स्वतंत्र पदार्थ भी है। पुदगल आदि के द्रव्य-क्षेत्र, काल भाव में जीव का सद्भाव भी है। इस प्रकार जैसे जीव अनेकान्त स्वरूप एक पदार्थ है, वैसे ही सभी पदार्थ अनादि निधन अनेक अपेक्षाओं से उस रूप भी है और उसरूप नहीं भी है। अतः जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा ही मानने पर सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए वैसा ही मानना चाहिए। आचार्य गुणभद्रस्वामी ने वस्तु का अनेक अपेक्षाओं से अनेक स्वरूप बताते हुए कहा है कि– "वस्तु सर्वथा नित्य अर्थात् स्थिर नहीं है, और सर्वथा क्षणिक अर्थात् विनाशी भी नहीं है। सर्वथा ज्ञानमात्र नहीं है और सर्वथा अभावरूप भी नहीं है, क्योंकि सर्वथा अखण्ड एक ही धर्मरूप प्रतिभासित होने में विरोध है, अविरोध रूप से ऐसा भासित नहीं होता क्योंकि वस्तु प्रतिसमय उस रूप (अपने स्वरूप) भी है और उस रूप नहीं भी है। वस्तु का अनादिनिधन स्वरूप ऐसा ही है। जैसे एक पदार्थ ऐसा अनेकान्त रूप भासित होता है, वैसे ही सभी पदार्थो का स्वरूप जानना चाहिए।[14]

जिस समय केवल वस्तु दृष्टिगत होती है और परिणाम दृष्टिगत नहीं होता उस समय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सर्व वस्तु नित्य है।[15] जिस समय

यहां केवल परिणाम दृष्टिगत होता है और वस्तु दृष्टिगत नहीं होती उस समय पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा नवीन पर्याय रूप से उत्पन्न और पूर्व पर्याय रूप से विनष्ट होने से सब वस्तु अनित्य है।

सत्-असत् की तरह तत् अतत् भी विधि निषेध रूप होते हैं, किन्तु निरपेक्षपने नहीं, क्योंकि परस्पर सापेक्षपने से वे दोनों तत् अतत् भी तत्त्व हैं। कथंचित एकत्व बताना वस्तु की अखण्डता का प्रयोजक है।[16] स्यात् नित्य का फल चिरकाल तक स्थायीपना है। स्यादनित्य का फल निज हेतुओं के द्वारा अनित्य स्वभावी कर्म के ग्रहण व परित्यागादि होते हैं।[17]

सन्दर्भ

1. (क) जिनेन्द्रवर्णी, पदार्थविज्ञान 1982, पृष्ठ 6

   (ख) "हवदि पुणो अण्ण वा तम्हा दव्व सय सत्ता।" प्रवचनसार 2/13

2. मल्लिषेणाचार्य, स्याद्वादमंजरी, सन् 1935, श्लोक 23, पृष्ठ 262

3. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 5, सूत्र 37

4. हरेन्द्रसिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, 1980, पृष्ठ 105

5 जगद्विक्तक्षणं ब्रह्मब्रह्मणोऽयत्र न किचन। शकराचार्य आत्मबोध सूत्र 63

6 सांख्य कारिका 11

7. हरेन्द्रसिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृष्ठ 210

8. हरेन्द्रसिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृष्ठ 232

9 आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 5, सूत्र 30

10. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 5, सूत्र 7

11. संघवी सुखलाल, तत्त्वार्थसूत्र विवेचना, पृष्ठ 134

12. आचार्य गुणभद्रस्वामी, आत्मानुशासन गाथा 171

13. आचार्य गुणभद्रस्वामी, आत्मानुशासन 172

14. आचार्य गुणभद्रस्वामी, आत्मानुशासन 173

15 पंचाध्यायी पूर्व, श्लोक संख्या 339

16. पंचाध्यायी पूर्व, श्लोक संख्या 332, 442

17. नयचक्र, श्रुतभवन, पृष्ठ 65-67

—श्री दि. जैन श्रमण संस्कृति संस्थान
वीरोदय नगर, सांगानेर, जयपुर-राजस्थान

"ते उण ण दिट्ठ समओ।
विहयइ सच्चे व अलीए वा।।"

—जयधवला 1/233

अनेकान्त रूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है, यह नय झूठा' ऐसा विभाग नहीं करते हैं।

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-2